पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के
अतीत
की
झाँकी
पी० एन० सेमवाल

पुरस्कृत हिमाचल कला एवं संस्कृति
परिषद

325

पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के
अतीत की झाँकी
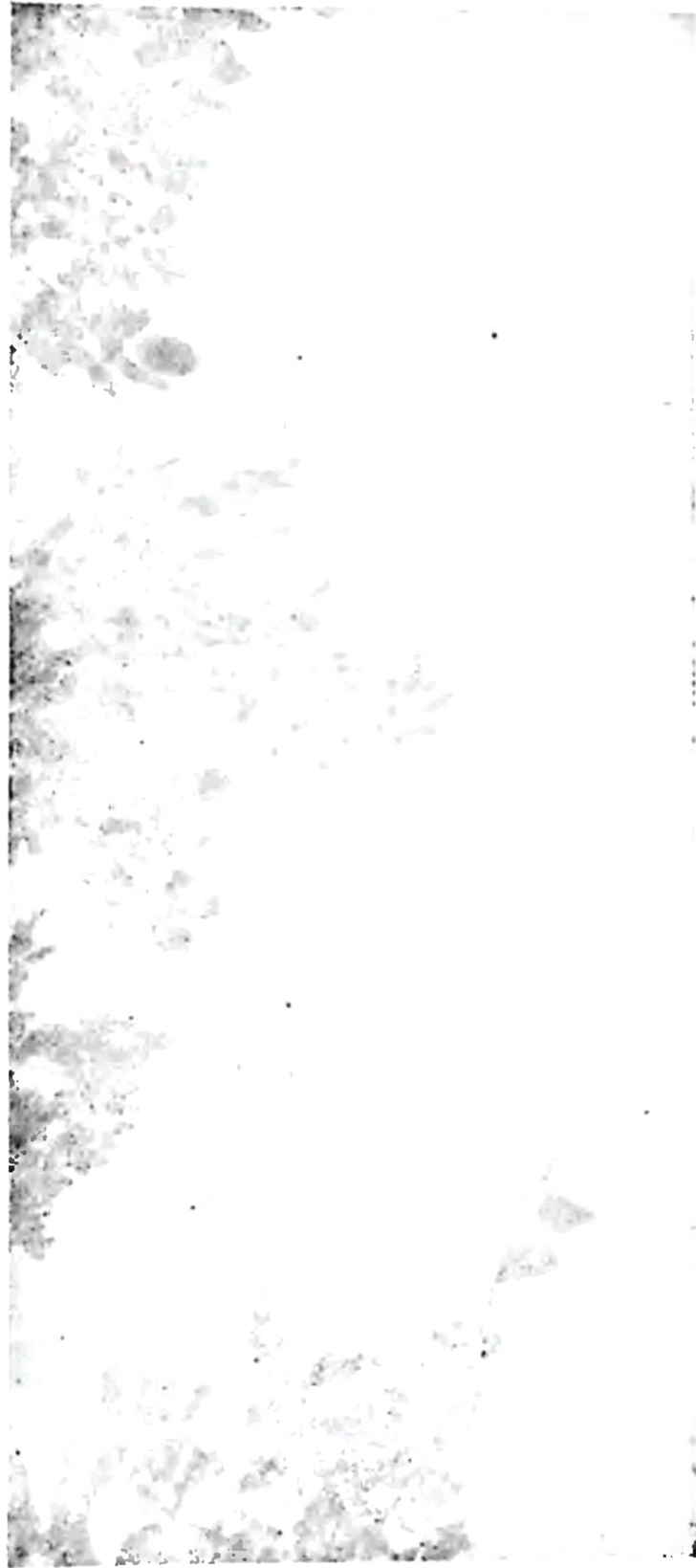
250

पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के

अतीत की झाँकी

D
1813

पी० एन० सेमवाल

पश्चिमी हिमालय क्षेत्र

साधारणतया यमुना से काश्मीर तक का क्षेत्र पश्चिमी हिमालय की परिधि में आता है। पुरातन काल में भी सम्भवतः यही धारणा थी। स्कन्ध पुराण में वर्णित हिमालय के पांच खण्डों में से दो भाग निःसन्देह पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में आते हैं†— जालंधर खण्ड और काश्मीर। इस पुस्तक में काश्मीर को छोड़कर जालन्धर खण्ड का जो पहाड़ी क्षेत्र आजकल हिमाचल प्रदेश में आता है, उससे अभिप्राय है, वैसे काश्मीर का बहुत पुराने जमाने से पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के इतिहास से घनिष्ट सबन्ध रहा है। हर्ष के पारवर्ती समय, सातवीं सदी के उत्तरार्द्ध से बारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक काश्मीर उत्तरी भारत में कन्नौज के प्रतिहार, गौड़ के पाल और अन्य राजपूत शक्तियों का प्रतिद्वन्द्वी रहा है। सातवीं सदी में काश्मीर के राजा मुक्तापीड़ ललितादित्य ने कन्नौज के प्रतिहार और गौड़ के पाल राजाओं को आतंकित किया था। उसके पौत्र जयापीड़ ललितात्य ने विजय की परम्परा को अक्षुण्ण रखा और उसके शस्त्रों की मार भी गौड़ देश तक गई। दसवीं सदी में रानी डीडा के राज्य-काल के बाद काश्मीर का पराभव आरम्भ हुआ। यह पराभव आन्तरिक झगड़ों के कारण हुआ था। सन् १३३९ में राजा उद्यानदेव के मरने पर उसकी विधवा कोटा को उसके मंत्री शाह मिर्जा ने पद-च्युत कर स्वयं राज्यगद्दी पर अधिकार कर लिया और काश्मीर में मुस्लिम राज्य की स्थापना की। यह स्वाभाविक था कि अपने उत्कर्ष काल में काश्मीर का समस्त पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में जिसमें त्रिगर्त, कुल्लू और कहलूर सम्मिलित थे, प्रमुख रहा।

जालन्धर खण्ड की मुख्य भूमि सतलुज, ब्यास और रावी की घाटियों में है और यहीं इसकी विशिष्ट संस्कृति का विकास हुआ। रावी और ब्यास नदियों की घाटियों की संस्कृति में पर्याप्त समानता है। भाषा, देवी-देवताओं की मान्यता एवं विवाह और मरण आदि अनुष्ठानों में यह समानता स्पष्ट है। इसी प्रकार यमुना और सतलुज नदियों का मध्यवर्ती भाग बोली और सांस्कृतिक परम्पराओं की दृष्टि से एक इकाई है। इस क्षेत्र में अपने ढंग की शिल्प और भवन-निर्माण कला का विकास हुआ है, यहां के देवी-देवताओं के मन्दिरों में काष्ट का अधिक प्रयोग हुआ है। इन मन्दिरों के दरवाजों और झालरों की रचना अपने ढंग की है और सर्वत्र इसमें एकरूपता है। सबसे अधिक अज्ञात भी यही क्षेत्र रहा है। शिवालिक के उपगिरि क्षेत्र में दो बड़े राज्य थे, सिरमौर और कहलूर (बिलासपुर) मुगलसत्ता का प्रभाव कदाचित् इन बड़े राज्यों तक ही सीमित था और पहाड़ी क्षेत्र की

---

†खण्डा : पंच हिमालयस्य कथिताः नैपाल कूर्मांचलौ।
केदारोऽथ जालन्धरोऽथ रुचिर काश्मीर संज्ञोऽन्तिमः॥

दर्जनों छोटी-छोटी ठकुराइयां इन बड़े राज्यों के साथ जुड़ी थीं, अट्ठारहवीं सदी में ये ठकुराइयां मुख्यतः बिलासपुर के साथ जुड़ी थीं; परन्तु उस सदी के अन्तिम चरण में कांगड़ा के राजा संसारचन्द का अभ्युदय हुआ। संसारचन्द ने नालागढ़ के साथ मिलकर बिलासपुर को त्रस्त किया। परिणामतः बिलासपुर की शक्ति क्षीण हुई और इन ठकुराइयों पर अधिकार सिरमौर के पास चला गया। पर इसका श्रेय मुख्यतः गोरखा कमाण्डर अमरसिंह थापा को था जिसने १८०३ के लगभग तलवार के बल से इन सभी ठकुराइयों पर सिरमौर के अधीनस्थ होने की मोहर लगाई। इससे पूर्व का इनका इतिहास अतीत के अन्धकार में धूमिल है। ले० रॉस ने जो नैपाल युद्ध के बाद इन पहाड़ी राज्यों का सहायक पोलिटिकल एजेण्ट था और जिसका कार्यालय १८१५ में सपाटू में था, बारह बड़ी और अट्ठारह छोटी ठकुराइयों का उल्लेख किया है। इन ठकुराइयों के अलावा सतलुज और यमुना के मध्यवर्ती क्षेत्र में तीन-चार बड़े राज्य थे; सिरमौर, बिलासपुर, नालागढ़ और धुर उत्तर-पूर्व में बुशैहर। बुशैहर मूलतः कन्नौर क्षेत्र का राज्य था। सत्रहवीं सदी के उत्तरार्द्ध और अट्ठारवीं सदी में इसका विस्तार रामपुर और नावर-रोहड़ क्षेत्र में हुआ और उत्तरी क्षेत्र में यह एक बड़ा राज्य बन गया। अट्ठारहवीं सदी में बुशैहर ने सतलुज की निचली घाटी में कोटखाई, कुमार सेन और कुल्लू तक के कुछ इलाकों को हस्तगत किया। शिवालिक के उपगिरि क्षेत्र में कहलूर, हंडूर और सिरमौर बड़े राज्य मुगलों की जानकारी में थे। शेष ठकुराइयां तो इन बड़े राज्यों की परिशिष्ट मात्र थीं। सन् १८१५ में सतलुज और यमुना के मध्यवर्ती क्षेत्र में अंग्रेजी राज्य स्थापित हुआ और ये ठकुराइयां भारत के मान चित्र पर उभर आईं। शिमला की स्थापना और विकास से इनका महत्व और भी बढ़ गया। जून १८५० में लॉर्ड डलहौजी चौदह दिन की विकट यात्रा के बाद शिमला से १४५ मील दूर कनौर के चीनी गांव में पहुंचा। वह वहां स्वास्थ्य-लाभ के लिये गया था। उसने वर्षा-काल के तीन महीने वहां बिताये थे। तब चीनी गांव तक का मार्ग तंग उबड़-खाबड़, कहीं ऊंचे पहाड़ों पर जाता था तो कहीं नीची घाटियों में उतरता था। उसकी इस यात्रा का परिणाम यह हुआ कि उसने शिमला से चीनी गांव तक के मार्ग, हिन्दोस्तान-तिब्बत राज मार्ग के निर्माण का आदेश दिया। यह काम कर्नल कनैडी और मेजर ब्रिगज को सौंपा गया। तिब्बत के साथ ऊन, पशम आदि के व्यापार का प्रलोभन इस निर्माण कार्य में निहित था। यद्यपि यह व्यापार बुशैहर के साथ सदियों पुराना था, पर इस सड़क के बनने से एक विशेष सुविधा हो गई। और यह अज्ञात क्षेत्र नये प्रकाश में आ गया।

सतलुज पार का क्षेत्र मुख्यतः व्यास घाटी है। इसमें पुराना त्रिगर्त राज्य और इसके अधीनस्थ छोटे-बड़े कई राज्य थे। रावी की घाटी चम्बा राज्य था। परन्तु पुराने समय से ही यह त्रिगर्त क्षेत्र के अन्तर्गत माना जाता था। त्रिगर्त समुदाय में ग्यारह राज्य थे; कांगड़ा, गुलेर, जसवां, सीबा, नूरपुर, चम्बा, दातारपुर, सुकेत, मण्डी, कुटलैहड़ और कुल्लू। इसी प्रकार दूगर (जम्मू) समुदाय में भी ग्यारह राज्य थे; एक जम्मू का साम्राज्य था और दूसरा त्रिगर्त का। पर मुगलों की सत्ता स्थापित होने पर ये दोनों

समुदाय बड़े साम्राज्य के अधीन हो गये। अकबर के समय कई बार इन समुदायों के राजाओं में से कइयों ने मुगल-सत्ता के विरुद्ध बगावत की। इस विद्रोह का परिणाम यह हुआ कि अकबर ने बन्धक रखने की प्रथा को जारी किया। प्रत्येक राज्य का एक राजकुमार को दिल्ली के मुगल दरबार में अपनी राज-भक्ति और निष्ठा प्रदर्शित करने के लिये बन्धक के रूप में रखना पड़ता था। इन राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा दरबार में मुगल अदब के अनुसार होती थी। उस अशान्त युग में इन राजाओं को नियंत्रण में रखने का यह एक कारगर ढंग था। हो सकता है कि मध्य एशिया के इन विजेताओं की बन्धक रखने की पुरानी परम्परा हो। जब जहांगीर गद्दी पर बैठा तो मुगल-दरबार में पहाड़ी राजाओं के बाइस राजकुमार बन्धक के रूप में रह रहे थे। इनमें ग्यारह डूगर समुदाय के थे और ग्यारह त्रिगर्त समुदाय के। इन राजकुमारों को शिष्टाचार में मियां कहा जाता था। बाद में पर्वतीय क्षेत्र में ज्येष्ट राजकुमार को टिक्का और शेष को मियां कहा जाने लगा। जहांगीर के राज्य-काल तक पर्वतीय क्षेत्र के सभी राजा मुगलों के नियन्त्रण में आ चुके थे। तब इनको मुगलों के विरुद्ध बगावत करने का दुःसाहस नहीं हुआ। मुगल सम्राट पहाड़ी राजाओं को 'जिमीदार' कहते थे। राजा, राणा आदि उपाधियां मुगल दरबार की ओर से व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के लिये दी जातीं थीं। औरंगजेब के समय में पहाड़ के राजा लगभग स्वतन्त्र हो गये। उसके अन्तिम दिन दक्षिण-विजय में व्यतीत हुये। फलतः उत्तर में मुगल-सत्ता का भय प्रायः समाप्त हो गया।

अट्ठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में नैपाल में गोरखा शक्ति का उदय हुआ। काठमाण्डू के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में 'बाईसी' और 'चौबीसी' नाम के छयालीस छोटे-छोटे राज्य थे। गोरखा राज्य उनमें से एक था। पृथ्वीनारायण शाह नाम के गोरखा शासक ने अपने शासन-काल (१७४२-१७७५) के ३३ वर्षों में इन सब राज्यों को जीत कर उनको सुदृढ़ शासन में संगठित किया। उसके उत्तराधिकारियों के समय में उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में गोरखा सेना ने कुमाऊं और गढ़वाल को जीतकर थोड़े समय में ही सिरमौर और बिलासपुर पर भी अधिकार कर सतलुज के तट तक गोरखा राज्य का विस्तार कर लिया। सन् १८०६ में इस सेना ने सतलुज को पार कर कांगड़े के किले को घेर लिया। उस समय राजा संसारचन्द कांगड़े का शासक था। नैपाली सेना ने लगभग चार वर्ष तक कांगड़े के किले को घेरे रखा। सन् १८०९ में संसारचन्द ने रणजीतसिंह को नैपालियों को निकालने के लिये बुलाया। महाराज रणजीतसिंह ने नपालियों का कांगड़ा से निष्कासन किया। गोरखाओं का लक्ष्य सिक्किम से लेकर काश्मीर तक समस्त पहाड़ी क्षेत्र में गोरखा साम्राज्य कायम करता था; परन्तु १८०९ में कांगड़ा में महाराजा रणजीतसिंह से पराजित होने पर गोरखाओं की महत्वाकांक्षा पर पानी फिर गया। तब तक रणजीतसिंह ने भी काश्मीर को नहीं जीता था। उसने सन् १८१९ में काश्मीर को जीता था, इस सहायता के बदले में रणजीतसिंह को कांगड़े के कुछ क्षेत्र और किले पर अधिकार प्राप्त हुआ। परन्तु रणजीतसिंह ने अगले कुछ ही वर्षों में कांगड़ा क्षेत्र के सभी राजाओं को पद-च्युत कर उनको जागीरें प्रदान कीं और उनके राज्य को अपने राज्य में

मिला लिया। इस व्यापक विलय नीति से केवल चम्बा, मण्डी और सुकेत बचे थे। इस प्रकार इस पहाड़ी क्षेत्र पर, रावी और सतलुज के मध्यवर्ती क्षेत्र पर, सन् १८०९ से १८४६ तक लाहौर दरबार का शासन रहा। परन्तु १८४६ में अंग्रेजों और सिखों के प्रथम युद्ध में सिखों की हार हुई। फलत: लाहौर दरबार को यह सारा पहाड़ी क्षेत्र छोड़ना पड़ा और अब यह क्षेत्र अंग्रेजी राज्य का भाग बना। कांगड़ा क्षेत्र के पद-च्युत राजाओं ने उस समय अपने राज्यों को पुन: प्राप्त करने का प्रयत्न किया। वे भी शिमला क्षेत्र के राजा, राणा और ठाकुरों की भान्ति पुन: अपने राज्याधिकार चाहते थे; परन्तु अंग्रेजों ने उनकी मांग ठुकरा दी और जो स्थिति सिखों के प्रथम युद्ध से पहले थी, उसी को मान्यता दी। नेपाल युद्ध के समय सन् १८१४ में अंग्रेजों ने यमुना और सतलुज के मध्यवर्ती पहाड़ी क्षेत्र के राजाओं, राणाओं और ठाकुरों को यह वचन दिया था कि यदि वे नेपाल के विरुद्ध लड़ाई में अंग्रेजों की सहायता करेंगे तो उनको उनके राज्य वापिस दे दिये जायेंगे। फलत: तीस के लगभग ये छोटे राज्य अंग्रेजों की छत्र-छाया में जीवित रहे। इनका पुनर्गठन १५ अप्रैल १९४८ में हिमाचल प्रदेश के रूप में हुआ। यह सम्भवत: महाराजा रणजीतसिंह की दूरदर्शिता थी कि १८१५ के लगभग उसने कांगड़ा क्षेत्र के राज्यों का जिनमें नूरपुर, गुलेर, जसवां, दातारपुर, सीबा आदि प्रमुख थे विलय सिख राज्य में कर दिया था। यदि १८४६ तक ये राज्य जीवित रहते तो उन्हें भी १९४८ में हिमाचल प्रदेश में मिल जाना था जैसे कि चम्बा और मण्डी राज्यों का विलय हुआ। परन्तु ऐतिहासिक परिस्थितियां भिन्न होने से यह क्षेत्र इस प्रदेश में सन् १९६६ में मिल सका। उन भिन्न परिस्थितियों के कारण ही शिमला क्षेत्र के राज्य और ठकुराइयां १८१५ के बाद लगभग सवा सौ वर्ष तक अपने आपको जीवित रख सकीं।

बहुत प्राचीन समय से समस्त पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में समाज का सामन्ती ढांचा था। बड़े राज्यों के उदय होने पर भी समाज की रचना सामन्ती प्रथा के अनुरूप ही रही। सबसे निम्न स्तर पर खेती-हर किसान और कामगार जैसे तेली, कुम्हार, लोहार बढ़ई आदि थे, भूमि का स्वामी राजा या ठाकुर होता था। खेती-हर का काम राजा की भूमि पर अन्न उगाना था और वह तभी तक इस भूमि का स्वामी था, जब तक वह उसको जोतता था और राजा या ठाकुर को उसका 'भाग' देता था। राजा का पद 'पृथ्वीनाथ' इसीलिये था कि वह इस भूमि का स्वामी था। कई ठकुराइयों में यह प्रथा भी थी कि प्रत्येक पुश्त पर ठाकुर को नजराना देना पड़ता था। तभी नई पीढ़ी को उस भूमि को जोतने का अधिकार मिलता था। ठाकुर के रुष्ट होने पर खेती-हर को वह उस जमीन से बेदखल भी कर सकता था। उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में जब आधुनिक ढंग की पैमायश हुई तब जिमींदारों को भूमि का स्वामित्व प्राप्त हुआ। तब वे अपनी जमीन को बेच सकते या रहन रख सकते थे। समाज का यह सबसे अधिक विपन्न शोषित और उपेक्षित वर्ग था। इसी कोटि में लोहार, बढ़ई, चमार आदि आते थे। ये खेती-हर और ठाकुर की आवश्यकताओं की पूर्ति करते और प्रथा के अनुसार जो अकिं-चिन पारिश्रामिक इनको मिलता उसी पर इनको सन्तुष्ट रहना पड़ता था। संघर्ष और

१. गणराज्यों का युग

प्राचीन गण-राज्य—

वर्तमान हिमाचल प्रदेश पुराने समय में जालन्धर खण्ड कहलाता था। इसकी सुनिश्चित क्या सीमा थी, यह बताना कठिन है, पर मोटे तौर पर पर्वतीय क्षेत्र में रावी और सतलुज के बीच का भू-भाग एवं मैदानी भाग में जालन्धर के आस-पास का प्रदेश जालन्धर खण्ड में सम्मिलित था। कुल्लू भी पुराना राज्य था और इसका क्षेत्र अतीत में बहुत विस्तृत था। प्राचीन काल में सम्भवतः मण्डी सुकेत और बुशैहर का काफी भाग कुल्लू राज्य में सम्मिलित था। इसी प्रकार चम्बा की गणना भी अत्यन्त प्राचीन राज्यों में की जाती है। परन्तु दसवीं शताब्दी से पूर्व इस राज्य का केन्द्र विकट पर्वतों से घिरा दूरस्थ भरमौर में था। तब इसका क्षेत्र इतना विस्तृत नहीं था जितना शैल वर्मा के राज्य-काल में चम्पा नगरी की स्थापना के समय और उसके बाद बना। जालन्धर खण्ड के अतीत के इतिहास की समस्या ऐसी ही विकट है जैसे समूचे देश के प्राचीन इतिहास की। क्षेत्रीय इतिहास होने से यह विषय और भी कठिन है।

ऐतिहासिक संकेत—

प्राचीन काल के इतिहास को जानने के कोई विश्वसनीय साधन प्राप्त नहीं हैं। इस क्षेत्र में प्राप्त सिक्कों के आधार पर पुरातन इतिहास के सूत्र को जोड़ने का प्रयत्न किया गया है। कुछ बिखरी हुई सामग्री पौराणिक वाङ्मय में इस क्षेत्र के बारे में पाई जाती है, पाणिनीय अष्टाध्यायी के एक सूत्र में त्रिगर्त का संकेत है। यह ग्रन्थ बहुत प्राचीन रचना है—ईसा से चार से पांच सौ वर्ष पहले की रचना। उस समय भी वर्तमान कांगड़ा उपत्यका ख्याति-प्राप्त थी और इसका नाम त्रिगर्त था। पाणिनी से पारवर्ती रचनाएं, महाभारत और पुराणों में त्रिगर्त व पर्वतीय क्षेत्र में बसने वाली जातियों का अलग-अलग प्रसंगों में प्रायः उल्लेख आया है। सब से प्राचीन प्राप्य सिक्का कुल्लू राज्य का है। इसका काल ईसा की पहली और दूसरी शताब्दी माना जाता है। कुछ इतिहासकार इसको ईसा सन् से दो सौ वर्ष पहले का मानते हैं। इस सिक्के पर लिखी गाथा इस प्रकार है—'राणा कौलूतस्य वीर यशस्य', इसका अर्थ है कौलूत (कुल्लू) के राणा वीर यश का सिक्का है, कुल्लू का प्राचीन नाम कौलूत या कुलूत था। सिक्के के दूसरी ओर राजा की उपाधि मात्र है। यह उपाधि 'राणा' थी, इस सिक्के का ऐतिहासिक महत्व इतना ही प्रतीत होता है कि कौलूत बहुत प्राचीन राज्य था और वीरयश तत्कालीन शासक था। इसके अलावा और कोई अधिक सूचना इससे प्राप्त नहीं होती है। कुलिन्दों के सिक्के कुमांऊ से कांगड़ा तक के क्षेत्र में व्यापक रूप से पाये गये हैं, ये सिक्के कांगड़ा और पंजाब

में यूनानी सिक्कों के साथ मिले हैं, ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के आरम्भ में सिकन्दर के आक्रमण के बाद अफगानिस्तान और भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त में कई यूनानी राज्य स्थापित हुये और कई सदियों तक ये राज्य जीवित रहे और कुषाणों के समय तक पंजाब और जालन्धर क्षेत्र में भी यूनानी राज्य एवं संस्कृति का प्रभाव रहा। कुलिन्दों के सिक्कों पर प्राकृत में यह गाथा अंकित हैं—'राजानाह कुलिन्दस अमोघ भूतिस महाराजस' जिसका आशय कदाचित् यह हैं; कुलिन्दों के महाराज अमोघ भूति है। सिक्के के एक ओर बौद्ध धर्म का चिन्ह् चैत्य है जो धर्म-चक्र से आवृत है। एक ओर बोधि वृक्ष और दूसरी तरफ स्वस्तिका चिन्ह् एवं एक नाग और पाली भाषा में उक्त गाथा है। इससे स्पष्ट है कि कुलिन्द लोग बौद्ध धर्म के अनुयायी थे और आरम्भिक युग में जब भगवान बुद्ध की पूजा और उपासना की प्रथा नहीं थी, चैत्य, बोधिवृक्ष, हिरण आदि प्रतीकों का प्रयोग होता था, ये सिक्के उस युग के प्रतीत होते हैं। कुलिन्दों की राज्य सीमा कहां से कहां तक थी, यह विवाद का विषय है। प्रायः माना जाता है कि कुमांऊ से कांगड़ा तक का पर्वतीय क्षेत्र, अम्बाला और सहारनपुर तक का मैदानी प्रदेश कुलिन्दों के गणराज्य में थे। कुलिन्द कौन थे और वे कहां से आये, यह भी ऐतिहासिक अन्धकार में छिपा है। पुरातत्त्व-वेत्ता ऐलकजेण्डर कैनिंघम हिमालय क्षेत्र के वर्तमान निवासी कनैतों को कुलिन्दों के वंशज मानते हैं। कनैत जाति इस क्षेत्र के मूल निवासी थे जो कनौर, कांगड़ा और कुमाऊं एवं नैपाल तक फैले हैं। गढ़वाल, कुमाऊं और नैपाल में इनको खश्या कहते हैं और पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में जिसमें काश्मीर भी सम्मिलित है, इनको कनैत, खश्या या खोस कहते हैं।

कुलिन्द—

पौराणिक इति वृतों में कुलिन्दों का उल्लेख आया है। मारकण्डेय पुराण में इनका नाम कौलिन्द है, विष्णु पुराण में कुलिन्द और इसी प्रकार वराहमिहर-रचित वृहत्संहिता में इनको कुलिन्द ही कहा गया है। वृहत्संहिता का रचना काल पांचवीं शती ई० सन् माना जाता है। वराहमिहर ने कुलिन्दों को श्रेष्ठ गणराज्य के पोषक माना है—'कुलिन्दान् गण पंगवान्'। कुलिन्दों के सिक्कों पर शासक का नाम अमोघभूति लिखा है और यह नाम सदियों तक चलता है। डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल का मत है कि अमोघभूति एक शासक न होकर केवल गणराज्य का प्रतीक है। यह कुलिन्दों की अक्षुण्ण, निरन्तर समृद्धि का द्योतक है। यह गणराज्य की उपाधि-जैसी है।

हिमालय क्षेत्र में बसने वाली कुलिन्द जाति का प्रभाव अज्ञात अतीत से बहुत व्यापक था और ऐसा प्रतीत होता है कि ई० सन्० छः-सात सौ वर्ष पूर्व से इनके गण-राज्य या संघ थे। इस लम्बी अवधि में इनको कई शक्तियों का सामना करना पड़ा होगा। मौर्य काल में इन गणराज्यों को मौर्य साम्राज्य की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी होगी। समस्त उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र जिसमें काश्मीर भी सम्मिलित था, मौर्य साम्राज्य का अंग था। मौर्यों के पश्चात् यह क्षेत्र हिन्द-यूनानी शासकों के अधीन रहा। इन शासकों के

सिक्के प्रचुर संख्या में इस क्षेत्र में पाये गये हैं। फिर कुषाण साम्राज्य यहां छा गया। कनिष्क की धार्मिक और सांस्कृतिक गतिविधियों का कार्य-क्षेत्र प्रधानतः काश्मीर और उत्तर-पश्चिमी प्रदेश रहा। स्पष्टतः इन गणराज्यों को इन प्रबल सम्राटों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। जिस प्रकार अंग्रेजी साम्राज्य में देशी राज्यों को अंग्रेज-सत्ता के प्रभुत्व को स्वीकार करना पड़ा, परन्तु अंग्रेज शासकों ने उनके राज्य की आन्तरिक स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखा। ऐसा प्रतीत होता है कि इन गणराज्यों की स्थिति भी प्रबल साम्राज्यों में ऐसी ही रही होगी।

चीनी यात्री ह्वीवानसांग ने अपने यात्रा-विवरण में कुलिन्दों का उल्लेख किया है। पर उसने कुलिन्दों का नाम नहीं लिया। सुघ्न या सूघ नाम से उनका उल्लेख मिलता है। उसके वर्णन के अनुसार इस राज्य का घेरा ६००० ली अथवा १००० मील के लगभग था, इसके पूर्व में गंगा नदी और उत्तर दिशा में ऊँची पर्वत माला थी। यह क्षेत्र लगभग वर्तमान हिमाचल प्रदेश की सीमा में स्थित प्रतीत होता है। कैनिंघम के अनुसार सूघ यमुना के पश्चिम में सहारनपुर से सरसावा और अम्बाला जाने वाले राजमार्ग पर स्थित था। कुलिन्दों का क्षेत्र जालन्धर, अम्वाला और सहारनपुर तक मैदानी भाग में फैला प्रतीत होता है, क्योंकि इनके सिक्के इस क्षेत्र में भी मिले हैं, विष्णु पुराण में कौलिन्द उपत्यका का उल्लेख भी आया है। सम्भवतः यह उपत्यका कांगड़ा घाटी ही थी। ह्वीवानसांग के समय कुलिन्दों का गणराज्य तो नहीं था, पर इस ख्याति-प्राप्त संघ राज्य की स्मृति लोक परम्परा में जीवित थी जिसका उल्लेख ह्वीवानसांग ने किया। गणराज्यों की परम्परा और सदियों पुराना उनका अस्तित्व गुप्तकाल में लुप्त-प्रायः हो गया। समुद्रगुप्त इन गणराज्यों का हन्ता माना जाता है। इलाहाबाद में स्थित समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में कार्तिकेयपुर (कुमांऊ) के शासक की उपस्थिति का उल्लेख है। कार्तिकेयपुर कुलिन्द राज्य था—ऐसी इतिहासकारों की धारणा है।

ऐसा प्रतीत होता है, कालान्तर में कुलिन्दों का राज्य कई इकाइयों में बंट गया। छः सात सदियों तक कुलिन्दों के गणराज्य या उनके संघ अपने अस्तित्व को जीवित रखने में निरन्तर संघर्षरत रहे। पर्वतीय क्षेत्र में वे कुलिन्द गणराज्य की परम्पराओं को दीर्घ काल तक जीवित रख सके। मैदानी भागों में वाहर से आने वाली आक्रान्ता यवन जातियों ने—जिनमें शक, कुषाण, गुर्जर और सीथियन जातियां प्रमुख थी और जो ई० सन् पहली और दूसरी शताब्दियों से निरन्तर पंजाब, गुजरात और उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र को ध्वस्त करती रहीं—भी गणराज्यों का उच्छेद किया। समुद्रगुप्त के एक-छत्र साम्राज्य स्थापित करने के अभियान ने बचे-खुचे गणराज्यों पर अन्तिम प्रहार करके इनको सदा के लिये समाप्त कर दिया। ई० सन की चौथी सदी के वाद गणराज्यों के कोई महत्वपूर्ण अवशेष न रहे।

पाणिनी ने अपनी अष्टाध्यायी में 'आहुस्त्रिगर्तपष्टास्तु' सूत्र से त्रिगर्त में कन्दोपर्थ, दण्ड़की, कोष्टकी, जालर्मान ब्रह्मगुप्त और जानकी, छः गणराज्यों का संकेत दिया है। ये आयुधशब्दोपजीवी गणराज्य थे। आयुधोपजीवी वे राज्य थे जो युद्ध-कला में विशेष निपुणता

प्राप्त करते थे। निरन्तर आयुधों के अभ्यास से ये विशिष्ट सैन्य कुशलता उपार्जित करते थे। सम्भवतया ये लोग अन्य राज्यों की सेना में वेतन-भोगी के रूप में भर्ती होते होंगे। वीरता और आयुधों के संचालन में इनकी कुशलता विशिष्ट थी। परन्तु कौटल्य ने कुलिन्दों को राज शब्दोपजीवी बताया है जिसका आशय है कि कुलिन्द राजनीति और शासन-व्यवस्था को अधिक महत्व देते थे। चाणक्य ने गणराज्यों को उक्त विचारों के आधार पर दो श्रेणियों में विभक्त किया—राज-शब्दोपजीवी और आयुध शब्दोपजीवी। पाणिनी ने त्रिगर्त में जिन छः गणराज्यों का संकेत दिया है, उनके बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है कि ये कौन और कहां-कहां ये गणराज्य थे। सम्भवतः इन छः गणराज्यों का एक संघ था और इस बलशाली संघ के कारण ये प्रसिद्ध थे। पाणिनी का समय ई० सन् से चार-पांच सौ वर्ष पूर्व का माना जाना है। त्रिगर्त के कुलिन्द गणराज्यों की प्राचीनता पाणिनी से भी पुरानी होगी। पाणिनी से पारवर्ती रचनाएं जैसे महाभारत, पुराण और बृहत्संहिता आदि में कुलिन्दों का प्रायः उल्लेख आया है। उपरोक्त रचनाएं ई० सन् की पहली शताब्दी से पांचवी शताब्दी की मानी जाती हैं, यूनानी लेखकों ने भी कुलिन्दों का उल्लेख किया है। कुलिन्दों का उल्लेख आभीर, दरद, खसीर, अंत्ताचार, काश्मीरा बीसरी (बुशैहरी), कुनू (कनौरे) कौलूत आदि के साथ किया गया है। वास्तव में हिमालय क्षेत्र में बसने वाली प्रमुख जातियां, देश-काल के कारण अलग-अलग नामों से जानी जाने लगीं। इनका मुख्य स्रोत तो महान् खश जाति ही थी। उन्हीं का एक प्रबल वर्ग कालान्तर में विशेष रूप से शक्तिशाली बना और न केवल पर्वतीय क्षेत्र में वरन् मैदानों तक इसकी धाक और शक्ति का प्रसार हुआ। खशों का यह वर्ग या उपजाति कुलिन्द नाम से प्रख्यात हुई।

अन्य गणराज्य—

कुलिन्दों से पारवर्ती समय में अन्य गणराज्यों का संकेत भी इसी क्षेत्र में मिलता है। उनमें विशेष रूप से ख्याति-प्राप्त औदम्बर और योधेय गणराज्य थे। कनिंघम के अनुसार पठानकोट और नूरपुर का पुराना नाम धमेरी था। नूरपुर नाम तो राजा जगत्सिंह ने सन् १६२२ में नुरुद्दीन जहांगीर के धमेरी राज्य में आने के उपलक्ष्य में रखा था। इसका तत्कालीन नाम सम्भवतः पैथान था, मूल राजधानी पठानकोट (प्रतिष्ठान) थी और मुगलों के समय में पैथान नाम से यह राज्य जाना जाता था। कनिंघम "धमेरी" को औदम्बर का अपभ्रंश मानता है, वैसे औदम्वर नाम का प्रसिद्ध राज्य पुराने समय में काठियावाड़ में था और प्रतिष्ठान नाम का नगर दक्षिण में ही गोदावरी के तट पर था। सन् ई० की पहली और दूसरी सदी में प्रतिष्ठान सातवाहन या पुराणों में वर्णित आन्ध्र राजाओं का केन्द्र था। वर्तमान पठानकोट नगर के किले के निकट कनिंघम को औदम्वरों के सिक्के अन्य यूनानी और भारतीय राजाओं के सिक्कों के साथ मिले थे। गुजरात (काठियावाड़) में औदम्वर राज्य के सिक्कों का यहां आने का प्रश्न ही नहीं उठता। वराहमिहर संहिता में औदम्वर की स्थिति रावी से उत्तर-पूर्व में बताई गई है जो

पठानकोट या नूरपुर-राज्य की स्थिति को ठीक ही इंगित करती है। कुलिन्दों के सिक्कों की भांति औदम्बरों के सिक्कों पर भी प्राचीन बौद्ध धर्म-चिन्ह पाये गये हैं। इन वर्गाकार ताम्बे के सिक्कों पर एक ओर हाथी, जंगले से आवृत चैत्य, नीचे की पंक्ति में सांप और पाली भाषा में औदम्बर नाम है। सिक्के के दूसरी ओर शंकू के आकार का तीन मंजिला मन्दिर, स्वस्तिका चिन्ह और दाहिने कक्ष में स्तम्भासीन धर्म-चक्र है। परन्तु इनसे पारवर्ती समय के सिक्कों पर 'महादेवस' शब्द उत्कीर्ण है। मन्दिर के चित्र के साथ त्रिशूल भी है। कुछ सिक्कों पर त्रिशूल, नान्दी, ध्वज या नान्दी पद-चिन्ह हैं। शासकों के नाम शिवदास, रुद्रदास, औदम्बरीस आदि हैं, ये सिक्के कदाचित् उस काल के हैं जब शैव धर्म और भागवत धर्म का प्रादुर्भाव हो चुका था। सम्भवतः ये ई० सन् की पहली और दूसरी सदी के हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि औदम्बरों का राज्य-शासन महादेव के नाम पर चलता था जैसा आधुनिक काल में ट्रावनकोर-कोचीन राज्य पद्मनाभ के नाम पर, मेवाड़ एकलिंगी महादेव एवं टेहरी राज्य बदरीनाथ के नाम पर चलता था। ऐसा प्रतीत होता है कि औदम्बरों के प्रारम्भिक बौद्ध धर्म का उत्तराधिकारी, शैव धर्म बना और अपने अस्तित्व के अन्तिम समय, ईसा की चौथी-पांचवीं सदी तक ये इसी धर्म के पोषक रहे। वैसे कुलिन्दों की तरह औदम्बरों का उल्लेख बहुत प्राचीन काल से चला आया। बौद्ध जातक कथाओं में गान्धार और औदम्बर के ऊनी वस्त्रों, 'शामूल्य' की भूरि प्रशंसा की गई है। कोई आश्चर्य नहीं कि इस प्रदेश के ऊनी वस्त्रों की ख्याति की परम्परा ढाई हजार वर्ष तक जीवित रही। अभी कुछ समय पहले तक, विशेषतः अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी तक काश्मीर, अमृतसर और रामपुर-बुशैहर के साथ नूरपुर पशमीने की चादरों के लिये सारे भारतवर्ष व मध्य एशिया में प्रसिद्ध था। पशम और पशमीने की चादरों का यह प्रसिद्ध व्यापार-केन्द्र था। इन वस्तुओं का हजारों रुपये का व्यापार यहां होता था।

औदम्बर और कुलिन्द गणराज्य का पड़ौसी एक और प्रसिद्ध और शक्तिशाली गणराज्य था। यह गणराज्य यौधेयों का था। सम्भवतः यौधेय गणराज्य कुलिन्द और औदम्बर गणराज्य का समकालीन हो। समुद्रगुप्त की इलाहाबाद प्रशस्ति में यौधेयों का नाम है। समुद्रगुप्त के अश्वमेध यज्ञ के फलस्वरूप अन्य राजाओं और गणों या संघों के साथ यौधेयों ने भी गुप्त साम्राज्य की अधीनता स्वीकार की थी और अन्य गणराज्यों के साथ ही उसी समय से इनका भी ह्रास हुआ और थोड़े समय में इतिहास से इनका अस्तित्व मिट गया।

यौधेय गणराज्य का क्षेत्र दिल्ली से लेकर दक्षिण-पूर्वी पंजाब जिसमें कुछ पर्वतीय भाग भी सम्मिलित था, फैला था। इनकी राजधानी कदाचित् रोहतक में थी। कुषाणों के पतन के बाद यौधेयों का चरम उत्कर्ष हुआ। यह समय ई० सन् की तीसरी सदी था। गणराज्य के मुखिया की 'महाराज' उपाधि थी, पर सिक्कों पर उसका नाम अंकित नहीं होता था। यौधेयों का प्रदेश मरु और बहुधान्यक था। मरु प्रदेश से आशय वर्तमान पश्चिमी हरियाणा और कुछ भाग राजस्थान से हो। शेष प्रदेश बहुधान्यक था—प्रचुर धान और अन्य अन्न उत्पन्न करने वाला। बाहरी आक्रमणों के समय कभी-कभी

पड़ोसी गणराज्यों के साथ मिलकर एक संघ भी बना लेते थे क्योंकि इन संघों के सिक्कों पर 'द्वि', 'त्रि' शब्दों का प्रयोग पाया गया है जो इस बात का द्योतक है कि ये सिक्के गणराज्यों के संघ के हैं। यौधेय, कुलिन्द और औदम्बर एवं आर्जुनेय गणराज्यों का बाहरी संकट के समय संघ बनने का संकेत मिलता है। ये गणराज्य एक दूसरे के पड़ोसी थे।

गण मूलक राजनैतिक व्यवस्था—

ई० सन् से सैकड़ों वर्ष पूर्व से भारतवर्ष में इन गणराज्यों का बाहुल्य था। वस्तुतः ये संस्थाएं सामाजिक और राजनैतिक जीवन के विकास की मूल नीव थीं। इनके मुखिया को राजन्य, राजा या महाराज कहते थे, परन्तु इनका चयन सर्वसम्मत या बहुमत से होता था और यह पद वंशानुगत नहीं होता था। कालान्तर में व्यक्ति विशेष की शक्ति और आकांक्षाओं के कारण वंशानुगत हो गया, बाप के बाद उसका बेटा गण-राज्य का शासक बना। शुद्धोधन और सिद्धार्थ ऐसे गणराज्य के शासक थे जिसमें गण-राज्य के प्रमुख का पद वंशानुगत हो चुका था। पर उस समय भी दर्जनों गणराज्य ऐसे थे जिनके शासक जनप्रतिनिधियों के द्वारा निश्चित अवधि के लिये या कभी-कभी यावज्जीवन के लिये चुने जाते होंगे। बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव के समय कई गणराज्यों का उल्लेख मिलता है : शाक्य (कपिलवस्तु), कोलिय (राम ग्राम), लच्छवी (वैशाली), विदेह (मिथिला), मल्ल (कुशीनगर), मौर्य (पिपलीवन), वत्स (कौशाम्बी) आदि। पाणिनी ने कई गणराज्यों के नाम दिये हैं : वर्क, कण्डोपर्थ, दण्डकी, कौत्सकी, जालमनि, ब्रह्मगुप्त, जानकी, भद्र, विज्जी, राजन्य, अन्धक (वृष्णि), महाराज और भार्गव।

डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने आवादान शतक का उद्धरण देते हुये दक्षिण के किसी देश में गये हुये वणिक् के मुख से, यह पूछे जाने पर कि मध्यदेश में कैसा राज्य-शासन है, यह बुलवाया है—'केचिद् देशाः गणाधीनाः केचिद् देशा राजाधीनाः।' कोई देश गणराज्य के अधीन हैं और कुछ देश राजाओं के शासन में हैं। ई० सन् से पांच सौ वर्ष पहले की स्थिति को यह उद्धरण स्पष्ट करता है। मौर्य और उससे पारवर्ती साम्राज्यों के युग में भी ये गणराज्य फलते-फूलते रहे क्योंकि ये गणराज्य इन साम्राज्यों की नाम मात्र की अधीनता स्वीकार करते थे और अपने आन्तरिक मामलों में ये स्वाधीन ही थे जैसा कि बाद में मुगलों और अंग्रेजों के शासन काल में सैकड़ों राज्य थे, परन्तु समुद्रगुप्त की दिग्विजय के पश्चात् ये गणराज्य समाप्त-प्राय हो गये। समुद्रगुप्त को गणों का हन्ता कहा जाता है।

पर्वतीय क्षेत्र में गणराज्यों के अवशेष-चिन्ह—

इन गणराज्यों के, चाहे वे छोटे हों या बड़े, न्यायिक और व्यवस्था सम्बन्धी कार्य संथागार में सम्पन्न होते थे। संथागार (पाली) या संस्थागार (संस्कृत) वर्तमान संसद-भवन का पर्यायवाची शब्द मानना चाहिये। न केवल गणों के प्रमुख भवन या स्थान जहां इनकी संसद का अधिवेशन होता था उसी को संथागार कहते थे, वरन् प्रत्येक गांव और

नगर का अपना संथागार होता था जहां स्थानीय समस्याओं पर विचार होता था। पुरानी शासन व्यवस्था सर्वथा विकेन्द्रित थी। अतः स्थानीय विषयों के लिये गांव या नगर के प्रमुख व्यक्तियों की संस्था विचार-विमर्श और निर्णय करती थी। ग्राम और नगर-स्तर पर भी संथागार थे जिनमें सामूहिक जीवन और सांस्कृतिक क्रिया-कलापों का सम्पादन होता था। गणराज्य के केन्द्रीय संथागार के सभी वयस्क नागरिक सदस्य होते थे। बौद्ध जातक कथाओं के अनुसार लच्छवी गणराज्य की राजधानी वैशाली में ७७०७ राजुक (राजा) थे। ये राजुक गणराज्य के वयस्क सदस्य होंगे जिनके समान अधिकार थे और जो संथागार में एकत्र होने वाली संसद के सदस्य थे। बौद्ध वाङमय की साधिकारिक विदुषी रीज् डैविड का कहना है कि जब आनन्द मल्लों को बुद्ध की मृत्यु का दुःखद समाचार सुनाने आये तो मल्ल गणराज्य के सदस्य संथागार में इसी विषय पर विचार कर रहे थे। यह संथागार कदाचित् कुशीनगर में था—यह मल्ल गणराज्य की राजधानी थी। बुद्ध ने अपने लम्बे जीवन काल में हिमालय की तराई में कई गणराज्यों और संघों में धर्म-प्रचार किया। यूनानी लेखकों के अनुसार सिकन्दर के आक्रमण के समय पंजाब में बड़े-छोटे कई गणराज्य थे। इन गण राज्यों की विशिष्ट समानता यह थी कि प्रत्येक का अपना संसद या सभा-भवन—संथागार होता था। संथागार के भवन का निर्माण भी एक महत्वपूर्ण घटना होती थी। कपिलवस्तु में बुद्ध ने स्वयं एक संथागार का उद्घाटन किया था। जब बुद्ध नीग्रो धर्म में ठहरे थे, तब कपिलवस्तु में इस संथागार का निर्माण हो रहा था। इस संथागार में सभी धर्मों के भिक्षुओं, आजीवकों और श्रवणों के ठहरने की व्यवस्था थी। बुद्ध ने इस संथागार का उद्घाटन सारी रात धर्मोपदेश देकर किया था। इसमें उनके शिष्य आनन्द और मोगल्लायन ने भी भाग लिया था।

ऐसी ही संस्था किन्नौर जिले के प्रायः प्रत्येक गांव में अब भी पाई जाती है। इस सार्वजनिक स्थान को वहां संथंग कहते हैं। संथंग में ग्रामीण समाज समय-समय पर मनो-विनोद और सामाजिक समस्याओं पर विचार करने के लिये एकत्र होता है, गांव के देवता का संथंग से घनिष्ट सबन्ध होता है। मन्दिर के प्रांगण को भी संथंग कहते हैं। सभी त्यौहार, उत्सव, और जन्म-मरण के संस्कार संथंग में सम्पन्न होते हैं, यहां देवता लोगों के जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कनौर और पश्चिमी हिमालय के दूसरे गांवों में देवता की संकल्पना अदृश्य शक्ति की धारणा से भिन्न है। यहां देवता एक शासक है जो अपनी प्रजा की भान्ति मानवीय ढंग से व्यवहार करता है, उनके साथ खाता-पीता है, नाचता-गाता है और साथ ही उनका नियंत्रण और मार्ग-प्रदर्शन भी करता है। देव-शक्ति का मानवीकरण (Anthropomorphism) जितना इन देवताओं का हुआ है, शायद ही अन्यत्र हुआ हो। प्रत्येक देवता की ओर से एक ऐसा व्यक्ति होता है जिस पर आवश्यकता पड़ने पर देव-शक्ति अवतरित होती है, ऐसे व्यक्ति को 'ग्रोक्ष' कहते हैं। ग्रोक्ष 'गो' या मुख का पर्यायवाची है। ऐसा व्यक्ति देवता का मुख ही होता है। 'ग्रोक्ष' पर देव-शक्ति के अवतरण की प्रक्रिया इस प्रकार से है : संथंग में ढोल, शहनाई, झांझ आदि वाद्य वृन्दों की सरस ध्वनि और लय के साथ देवता की

पालकी चार वाहकों के कन्धे पर रखी नाचती है। पुजारी कुछ शब्दों के उच्चारण से देव-शक्ति का आवाहन करता है, तब 'ग्रोक्ष' कांपता है, उछलता-कूदता है और उन्माद की सी स्थिति में पहुंचता है। इस प्रकार संमोहन की सी अवस्था में ग्रोक्ष जो कुछ बोलता है, वह दैवीय वाक्य और दैवीय आज्ञा मानी जाती है। तब पुजारी दुभाषिये और मुखत्यार का काम करता है—लोगों की समस्याओं को देवता के विचारार्थ प्रस्तुत करता है और दैवीय निर्णय तत्काल लोगों को सुनाता है, देवता सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन की सभी समस्याओं पर अपना निर्णय देता है। वह भूत-प्रेतों को भगा सकता है, दुःख-बीमारी से मुक्ति देता है, बारिश लाता है, विवाह-सम्बन्ध और तलाक की स्वीकृति देता है। भूमि को उपजाऊ बना सकता है, निःसन्तान को सन्तान देता है। संक्षेपतःजीवन का कोई ऐसा व्यापार नहीं जिसको देवता न कर सकता हो। मन्दिर का प्रांगण, संथंग, इन क्रिया-कलापों की रंगभूमि है। ग्रामीण समाज के सांस्कृतिक धार्मिक व मनोविनोद सम्बन्धी सभी सामूहिक कार्य सथंग में सम्पन्न होते हैं, दैवीय न्याय, अपराधियों को दण्ड और सामाजिक नियंत्रण का निर्धारण भी यहीं पर होता है। इन क्रियाओं के द्वारा ग्रामीण समाज की एकता संथंग में मानो मूर्तिमान होती है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अज्ञात अतीत से संथंग सामाजिक जीवन का केन्द्र-बिन्दु रहा है। इसमें होने वाले कार्य-कलाप संथागार से भिन्न नहीं हैं और न ही संथंग शब्द अपने मूल संथागार से बहुत भिन्न, बहुत विकृत है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संथागार की संस्था जनजातीय जीवन में एक महत्वपूर्ण संज्ञा थी। कालान्तर में भी, यह नाम और संस्था विस्मृत नहीं हो सकती थी। यदि यह धारणा सही है कि पुरातन काल में हिमालय क्षेत्र की जनजातियों में गणराज्य की राजनैनिक संस्था प्रचलित थी तो संथंग नाम को संथागार का ही विकृत रूप मानना तर्क-संगत और तथ्यों के अनुरूप होगा।

थौड़, थात या थान—

शिमला जिला के ऊपरी भागों में संथंग की समानान्तर संस्था व नाम थौड़ है। यहां भी देव-स्थान के प्रांगण अथवा गांव के आस-पास देवता से सम्बद्ध अर्चनीय स्थान को थौड़ या थान कहते हैं। इस इलाके के लोग पिछली एक सदी से अधिक समय से आधुनिक राज्य-व्यवस्था और कानून के अन्तर्गत रहे है। फलस्वरूप परम्परागत सामाजिक व्यवस्था किन्नौर की भान्ति अक्षुण्ण न रही। अतः अब ग्रामीण जीवन में थौड़ की पुरानी महत्ता न रही। फिर भी जनसाधारण के मन में आज भी थौड़ के प्रति श्रद्धा और पवित्रता का भाव विद्यमान है। थौड़ में जाकर असत्य बोलना अथवा कोई अन्य पाप कर्म करना या सोचना परम्परा से वर्जित है। आज भी थौड़ में खड़े होकर शपथ लेकर जो अपने निरपराध निष्पाप और निष्कलंक होने की घोषणा कर दे, समाज उसको निःसंकोच स्वीकार कर लेता है। यह परम्परा उस युग की याद दिलाता है जब संथागार में सभी विषयों और विवादों का निर्णय सत्य, न्याय और निष्पक्षता के माप-दण्ड से किया जाता था।

सीमावर्ती पड़ोसी जिला चमोली-गढ़वाल में इसी प्रकार के पुरातन सामाजिक स्थान को 'स्थात' या 'थात' कहते हैं। यहां 'थात' का सम्बन्ध एक इलाके के कई गांवों से है। कदाचित् इन गांवों के गण की सभा 'थात' में होती थीं। इस जिले की उखीमठ तहसील में जिसमें लगभग दो सौ गांव होंगे तीन थात हैं—चामसू थात, परकण्डी थात और मैखण्डा थात। वहां अब इन पुरानी संस्थाओं का सामाजिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये नाम समाज की स्मृति में अस्पष्ट रूप से जीवित है। कुछ वर्ष पहले तक संक्रान्ति के दिन 'थात' स्थान पर नौबत बजती थी, पर अब शायद यह रिवाज भी समाप्त हो गया है, कुछ इसी प्रकार की व्यवस्था सिरमौर जिले में गिरी-पार के इलाके में पिछली सदी तक विद्यमान थी। यहां कुछ गांवों के समूह को 'भोज' कहते थे। भोज की अपनी सभा होती थीं और सभा-भवन का निश्चित स्थान होता था जहां सामाजिक व धार्मिक कृत्यों के लिये सभा का अधिवेशन होता था। सिरमौर गजेटियर के अनुसार भोज-व्यवस्था का अन्त सन् १८६४ की भूमि-पैमायश के उपरान्त हुआ। इन पहाड़ी इलाकों में जीवित इन पुरानी संस्थाओं की समानताओं को दृष्टि में रखते हुये इस निष्कर्ष पर पहुंचना तर्क-संगत प्रतीत होता है कि मूलरूप से ये अवशेष पुरातन जनजातीय गण-राज्य की परम्पराओं से सम्बद्ध हैं।

ये परम्पराएं किन्नौर के कनौरों, शिमला जिले के कनैतों और गढ़वाल के खश्या जाति से सम्बद्ध हैं। ये इलाके एक दूसरे के साथ-साथ हैं। इनमें समान रीति-रिवाज, समान आस्थाएं और विश्वास हैं, विशेष रूप से देवता का किसी व्यक्ति विशेष पर अवतरित होना, यह नैपाल से काश्मीर तक सभी पहाड़ी क्षेत्रों में न्यूनाधिक प्रचलित है। अब आधुनिक शिक्षा और संस्कृति के प्रभाव में देवताओं के प्रति आस्था क्षीण होती जा रही हैं। देवताओं का मानवीकरण तिब्बत और साइबेरिया की शैवण संस्कृति की देन है या स्थानीय उपज है, यह बताना कठिन हैं। पर पर्वतीय क्षेत्र में इस प्रथा का सार्व-भौम प्रचलन एक निर्विवाद तथ्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि गण राज्यों की गरिमा समाप्त होने पर यह क्षेत्र छोटी-छोटी ठकुराइयों में बंट गया और समाज को अनुशासन और नियंत्रण में रखने के लिये धीरे-धीरे इन देव-शक्तियों का विकास और प्रसार हुआ। अराजकता के लम्बे युग में समाज को इन देवताओं से समबल मिलता रहा। देवताओं की वृद्धि भी समय के साथ-साथ होती रही। इनमें से अधिकांश देवी-देवता तो मृत राजा-रानी और शासकों की आत्माएं हैं।

और एक शक्ति शाली राज्य की स्थापना की। वर्तमान हिमाचल प्रदेश के अधिकांश भागों में ये ठकुराइयां थीं। दसवीं सदी के आरम्भ से मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ हुये और यह क्रम मुगल साम्राज्य के कायम होने तक जारी रहा। उत्तरी भारत में इन आक्रमणों से एक भगदड़-जैसी मच गई। तव उत्तरी भारत में कई राजपूती राज्य थे। उनके वंशज अपने प्राण, धर्म और सम्पत्ति की रक्षा के लिये निरन्तर सदियों तक पर्वतीय क्षेत्र में सुरक्षा और आश्रय की खोज में आते रहे। ये राजपूत अपने दल-वल के साथ आये। इनके साथ न केवल सेना की टुकड़ियां होती थीं, वरन् इनके सेवक, कारीगर, शिल्पी, अन्य कलाकार और धर्म के व्याख्याता ब्राह्मण, पण्डित-आचार्य सभी होते थे। स्वाभाविक था कि इनको पहाड़ के शासक ठाकुर और वड़े राजाओं का सामना करना पड़ा होगा, परन्तु पहाड़ के ठाकुर असंगठित, आपसी वैर-भाव से क्षुब्ध और जन-साधारण की सहानुभूति और सहयोग से वंचित थे। आसानी से ये नवागन्तुक राजपूत इस पर हावी हो गये।

राजपूत शासकों का आगमन—

इस क्षेत्र के अधिकांश राजवंश मैदानों से आये वताये जाते हैं। कैनिंघम के अनुसार नूरपुर राज्य का संस्थापक जेठपाल दिल्ली के तोमर शासक का छोटा भाई था। ग्यारहवीं सदी में श्रुग-परम्परा के अनुसार वह अपने दलवल के साथ किसी राज्य को हस्तगत करने के लिये उत्तर दिशा की ओर चल पड़ा। प्रतिष्ठान (पठानकोट) में तत्कालीन पैथान शासक को पराजित कर पुराने पैथान नाम से ही उसने अपना राज्य स्थापित किया। वाद में उसके वंशज पठानिया नाम से यहां के शासक वने। मण्डी सुकेत और क्योंथल के राजवंशों का सम्वन्ध वंगाल के सेन वंश से जोड़ा जाता है। ये नवीं सदी के प्रथम चरण में इस दिशा को आये। बाघल (अर्की) का मूल शासक अजय देव, परमार वंश से सम्वद्ध उज्जैन से आया था। वघाट राज्य का संस्थापक वसन्तपाल पंवर धुर दक्षिण में धारानगरी के राजवंश का था। कुमारसेन को गया के कीर्तिसिंह ने हस्तगत किया और इस राज्य की स्थापना की। सिरमौर के राजवंश की स्थापना भी इसी प्रकार वताई जाती है। एक भयंकर भू-कम्प से इस राज्य की पुरानी राजधानी राजवन ध्वस्त हो गई थी और राजपरिवार इस दैवी विप्लव में नष्ट हो गया। ऐसे अवसर पर जैसलमेर के राजवंश के उग्रसेन राव को सिरमौर के लोगों ने हरिद्वार से, जहां वह तीर्थ-यात्रा पर आया था, वुलाकर ले गये और उसको राजगद्दी पर विठाया। यह घटना ग्यारहवीं सदी के अन्तिम चरण की है, ऐसे ही मैदानों से भगोड़े राजकुमार और राजपूत राजाओं ने चौदहवीं सदी में नैपाल की करनाली और सप्तगण्डकी उपत्यकाओं में छयालीस छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना की। करनाली उपत्यका में २२ राज्यों की स्थापना हुई और नारायणी उपत्यका में २४ राज्यों की। इनको 'वाइसी' और 'चौवीसी' राज्य कहते थे। इन सभी राज्यों को अठारहवीं सदी के दूसरे चरण में गोरखा शासक पृथ्वीनारायण शाह ने एक साम्राज्य के अन्दर संगठित किया।

इन राजपूत शासकों के आने से छोटी-छोटी ठकुराइयों को बड़ा धक्का लगा। इस आक्रमण के दो प्रमुख प्रभाव पड़े, प्रथम, ठकुराइयों की शक्ति धीरे-धीरे क्षीण हो गई, वे इनके राज्यों के अंग बन गईं या ठाकुर उनके अधीनस्थ सामन्त बन गये। दूसरा, इन राजपूतों के साथ मन्दिरों की स्थापत्य कला यहां आई। उस युग के बने शिखर शैली के मन्दिर समस्त हिमालय क्षेत्र में ध्वस्त और उपेक्षित अवस्था में पाये जाते हैं। उस युग की बनी बावड़ियां और जलाशय कई स्थानों पर पाये जाते हैं। वैसे इस प्रकार के मन्दिरों की परम्परा कुछ राज्यों में बहुत पुरानी थी, इनमें चम्बा के मन्दिर और बैजनाथ का मन्दिर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

ठकुराई शासन—

मवाना ठाकुर छोटे-छोटे इलाकों के स्वामी थे। एचीसन और बोगल ने अपने इतिहास में स्वतंत्र और अधीनस्थ ठकुराइयों में "आप ठकुराई" और "ठकुराई" कहकर भेद किया है। उन्होंने सर्वथा स्वतंत्र 'आप ठकुराई' और अधीनस्थ 'ठकुराई' नाम से वर्ग-भेद किया है, ये ठाकुर सर्वदा एक-दूसरे के साथ कलह-रत रहते थे। इनके क्षेत्र की कोई निश्चित और पक्की सीमा नहीं होती थी। ये ठाकुर प्रायः एक-दूसरे के इलाके पर लूट-खसोट करते थे। जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा का प्रायः अभाव-सा रहता था। यह 'मत्स्य नाथ' का युग था; बड़ी ठकुराई छोटी ठकुराइयों को आंख दिखाती थी और अवसर आने पर उनको हड़प करती थीं। ऐसी प्रक्रिया से कालान्तर में पर्वतीय क्षेत्र में भी कुछ बड़े राज्यों का उदय हुआ। शक्ति-संचय से धीरे-धीरे छोटी ठकुराई बड़े राज्य में परिवर्तित हो गई—यह क्षेत्रीय विस्तार आस-पास की ठकुराइयों को हड़प करने से हुआ। कई राज्यों में ये ठाकुर और सामन्त प्रायः बाद में भी विद्रोह करते रहे और शासक राजाओं को इनका दमन करने में शक्ति का प्रयोग करना पड़ा। पहाड़ी क्षेत्र में बड़े राज्यों के स्थापित होने पर भी ये ठकुराइयां सामन्तों के रूप में जीवित रहीं। पहाड़ी क्षेत्रों का यह राजनैतिक रूप सदियों तक किसी न किसी रूप में बना रहा और इसी प्रकार आपसी कलह और लूट-खसोट का युग भी। एक ठकुराई का दूसरी ठकुराई के प्रति विद्वेष-भाव प्रायः रहता था, कभी-कभी तो एक राज्य या ठकुराई के लोग दूसरे राज्य या ठकुराई का प्रातः काल नाम लेना भी अशुभ समझते थे, परला देश कह कर उस इलाके का संकेत करते थे। बाघल के लोग सवेरे कुनिहार का नाम लेना बुरा समझते थे और वैसे ही कुनिहार-निवासी बाघल का नाम लेना सवेरे बुरा समझते थे। चम्बा वाले जम्मू को परला देश और नूरपुर राज्य को सापड़ वाला देश कहते थे। यह सब आपसी वैर-भाव के कारण था, परन्तु व्यक्तिगत स्तर पर लोगों के नाते-रिश्ते थे और जन्म-मरण के सुख-दुःख में साझीदार थे। पुरानी ठकुराई की परम्परा शिमला-क्षेत्र में उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण तक रही। जब १८१५ ई० में अंग्रेजों ने इस इलाके पर अधिपत्य स्थापित किया, तो उन्होंने प्रायः बारह बड़ी और अट्ठारह छोटी ठकुराइयों का उल्लेख किया है। इनका परिचय यथा स्थान दिया जायेगा। यहां पर इतना ही

कह देना पर्याप्त है कि ठकुराई नाम और परम्पराएं इनके अस्तित्व के अन्तिम दिन तक जीवित रहीं। तब वास्तव में ये छोटे-बड़े स्वतंत्र राज्य थे।

सुकेत राज्य की परम्परा से पता चलता है कि एक छोटे से इलाके में इन ठकुराइयों की कितनी अधिक संख्या थी। इस राज्य के मूल संस्थापक वीरसेन ने सबसे पहले पांगना के ठाकुर को परास्त करके वहां अपनी राजधानी स्थापित की। अब यह एक साधारण गांव सतलुज के दाहिने-किनारे उत्तर की ओर है। सम्भवतः वीरसेन सतलुज की घाटी के मार्ग से यहां पहुंचा हो। इसके बाद उसने दर्जनों ठकुराइयों को जीता। इनमें प्रमुख; वीरकोट, श्रीगढ़, नारायणगढ़, रघुपुर, जंज, माधोपुर, बंगा, चंजवाल, नगरू, मानगढ़, जलौरी, जंग, हिमरी, रायगढ़, फतेहपुर, रायसम, कोटी-मनाली, परोल, सरी पण्डोह, चच्योट, नायी आदि थे। ये अब कुल्लू, मण्डी और सुकेत क्षेत्रों में गांव मात्र हैं। पर तब ये स्वतंत्र या कुछ कुल्लू के अधीन छोटी ठकुराइयां हों।

मवाना और मौन—

'मावी' या 'मवाना' पर्यायवाची शब्द हैं। पुरातन काल से इन ठाकुरों को मावी या मवाना कहते थे। इसका एक पर्यायवाची शब्द और है, 'मौन'। मौन शब्द का प्रयोग कनौर में किन्नर वासियों के लिये किया जाता है। हंगरी निवासी ऐलकजेंडर क्सोमा डी कोरोस ने जिसने उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण में किन्नौर में रहकर सब से पहले अंग्रेजी—तिब्बती भाषा का शब्द कोष बनाया, इस प्रकार 'मौन' शब्द की व्याख्या की है :—"तिब्बत के लोग भारत के सीमान्त वासियों को 'मौन' कहते हैं, पुरुष मौनपा है और स्त्री मौन-मो एवं इनका देश मौन-युल कहलाता है।" मौन शब्द का तिब्बती भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह मूलतः भारतीय या हिमालय क्षेत्र का शब्द है और पुराने समय में इसका व्यापक प्रयोग था। यह मावी या मवाना ठाकुरों को व्यक्त करने वाला नाम है। कनौर में मावी या मवाना के स्थान पर मौन नाम का प्रयोग होता होगा। तिब्बतियों ने यह नाम कनौरों से सुना होगा जिसका वे प्रयोग करते रहे। अंग्रेज पर्यटक मूर क्रौफ्ट ने अपने यात्रा विवरण में लद्दाख में चाय के व्यापार का उल्लेख करते हुये लिखा है कि कुछ नकली चाय कनौर से भी लद्दाख में आती है। यह बारालाचा के विकट मार्ग से वहां पहुंचती है। इस चाय को वहां मौने-टी, मौने की चाय कहते हैं। यह नाम लद्दाख में प्रचलित था।

इस बात का उल्लेख करना भी प्रासंगिक होगा कि बुशैहर की मूल राजधानी मौने नाम के गांव में थी। यह गांव सांगला के पास बस्पा उपत्यका में है। आजकल इस गांव को बाहर के लोग कामरू कहते हैं और कनौरे मूल नाम 'मौने' ही कहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सदियों तक बुशैहर की राजधानी मौने में रही। आज भी वहां एक किला है जो बुशैहर के शासकों का पुराना महल माना जाता हैं। गोरखाओं के आक्रमण के समय १८११ ई० में रामपुर से भाग कर बुशैहर के राजकुमार ने यहां शरण ली थी और गोरखाओं के शासन काल में १८११ से १८१५ ई० तक यह राजकुमार यहीं

सुरक्षित रहा। बुशैहर राज्य की राजधानी मौने से पहले, सराहन बदली गई और बाद में रामपुर आई। यह परिवर्तन अट्ठारहवीं सदी में हुआ। उससे पहले मौने ही बुशैहर की राजधानी थी। 'मौने' का सम्बन्ध निश्चय ही 'मात्री' या 'मवाना' से है। बुशैहर की राज-वंशावली के अनुसार इस राजवंश का सम्बन्ध अनिरुद्ध से माना जाता है। ऊषा और अनिरुद्ध की पौराणिक प्रणय-गाथा से बुशैहर के राज वंश का उद्भव माना जाता है। पर यह कोरी कल्पना है। बुशैहर के राजवंश का मूल पुरुष कोई मावी या मौन ठाकुर प्रतीत होता है। इस मावी परम्परा के कारण उसकी राजधानी मौने नाम से वर्तमान समय तक जानी जाती रही। तिब्बती लोग सब कनौरों को मौन कहते थे और इस क्षेत्र की उपज और वस्तुएं 'मौन' विशेषण से इंगित की जाती थीं। उन्नीसवीं सदी तक यह नाम बुशैहर राज्य के लिये लद्दाख और तिब्बत में आम प्रचलित था। अधिकांश लोगों की धारणा भी ऐसी ही है कि बुशैहर के राजवंश कनौरों से सम्बद्ध है और आरम्भिक अवस्था में बुशैहर के राजा कनौर के ही शासक थे। इनके मंत्री व प्रमुख कारिन्दे भी उन्नीसवीं सदी तक प्रधान रूप से कनौरे ही थे। वंशावली के अनुसार ११६ वीं पीढ़ी के राजा रामसिंह ने रामपुर को राजधानी बनाया। यह अट्ठारहवीं सदी की घटना है। ११८ वीं पीढ़ी पर राजा उग्रसिंह माना जाता है जिसकी मृत्यु गोरखा आक्रमण से एक वर्ष पहले १८१० ई० में हुई थी। बुशैहर के राजवंश का सम्बन्ध अन्य कई पहाड़ के राजाओं की तरह मैदानों से आये राजपूतों से नहीं है, बल्कि मूल मावी या मौन ठाकुरों से है। वंशावली के अनुसार बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक इस राजवंश की १२२ पीढ़ियां हुई। यदि एक पीढ़ी की औसत अवधि १५ वर्ष मान लिया जाय तो यह राजवंश १६३० वर्ष रहा। अतः इसके मूल मावी ठाकुर का समय तीसरी सदी ई० माना जा सकता है। यह ठकुराइयों के युग का आरंभिक काल था। इस प्रकार इस वंश का उद्भव मावी या मौन ठाकुर से निर्विवाद और असंदिग्ध प्रतीत होता है।

कनिंघम ने कनैत और मावी ठाकुरों को कुलिन्दों का वंशज बताया है। कुलिन्दों की गण-व्यवस्था क्षीण होने पर मावी ठाकुरों ने अपना अधिपत्य स्थापित किया। उसके अनुसार मध्यकालीन युग में जब भगोड़े राजपूतों ने कमाऊं में द्वारहाट पर अधिकार कर लिया तो मावी शासक गढ़वाल में जोशीमठ के कत्यूर शासकों से वर्षों तक जूझते रहे।

पहाड़ों के ऊपर किलों के भग्नावशेष आज भी इन ठाकुरों की याद दिलाते हैं। ये स्थान-स्थान पर पहाड़ों पर किले बनाते थे जो सुरक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण हों। यह परम्परा पर्वतीय क्षेत्र में सदियों तक रही। गोरखाओं ने जो स्वयं इस जाति के लोग थे, इस सुरक्षा-प्रणाली को सारे पहाड़ी इलाके में फैलाया। इन पर्वतारूढ़ किलों से उन्होंने अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त की और बाद में अंग्रेजों के दांत खट्टे किये। कनिंघम ने मावी ठाकुरों की विशेष स्थापत्य कला का उल्लेख किया है। मवाना ठाकुरों के भवन ऊंची नींव पर बने होते थे। इनकी नींव कटे व तराशे पत्थरों से निर्मित कई फुट ऊंची होती थी और उसके ऊपर आवास-गृह होता था। धामी राज्य में मावी-भवन के पत्थरों से अन्य मकानों के निर्माण का संकेत भी उसने दिया है। सम्भव है कालान्तर में ऐसे भवनों

के खण्डहरों के पत्थरों से लोगों ने अपने मकान बनाये हों जिससे अब ऐसे भग्नावशेष नहीं मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार मन्दिरों की स्थापत्य-कला शिमला क्षेत्र के ऊपरि भागों में आज भी पाई जाती है, उसी प्रकार के इनके आवास-गृह होते होंगे। देवी-देवताओं के ये मन्दिर कदाचित् उन्हीं की अनुकृति पर बने हों। इनकी ठोस नीव भी ऊंची होती है और मन्दिर का ढांचा इस ऊंची नीव पर स्थापित होता था। ऊपर जाने के लिये केवल एक छोटा-सा दरवाजा होता है जिसमें झुककर ही प्रवेश किया जा सकता है। यह विशेष निर्माण-कला सुरक्षा की दृष्टि से उपादेय प्रतीत होती है। कुल्लू से लेकर किन्नौर और सिरमौर तक पहाड़ी मन्दिरों का यह रूप सर्वत्र विद्यमान है।

वैरन चार्लस ह्यूगल ने अपने यात्रा-विवरण में जम्मू क्षेत्र में एक ऐसे गांव के बारे में लिखा है जहां मकानों की नीव असाधारण रूप में ऊंची थीं और पर्याप्त ऊंचाई पर आवास-गृह थे जिनमें प्रवेश लकड़ी की एक ऊंची सीढ़ी से हो सकता था। रात के समय लोग उस सीढ़ी को ऊपर खींच लेते थे, फलतः उसके बाद न उसमें कोई आ सकता था और न जा सकता था। वह समय समस्त उत्तरी क्षेत्र में लूट-मार, मार-धाड़, अराजकता और अरक्षा का युग था। ऐसी आवास-व्यवस्था से कुछ बचाव सम्भव था।

बैजनाथ प्रशस्ति और ठकुराई युग—

कांगड़ा में बैजनाथ के शैव मन्दिर में एक प्राचीन शिला-लेख है। यह बैजनाथ की प्रशस्ति के नाम से प्रसिद्ध है। यह नवीं सदी के प्रथम चरण का उत्कीर्ण लेख है। यह लेख शारदा लिपि में अत्यन्त अलंकृत संस्कृत भाषा में है। इसमें मन्दिर के निर्माण-कर्ता, कलाकार, परामर्शदाता एवं बनवाने वाले दानी का नाम उत्कीर्ण है। इस प्रशस्ति के अनुसार बैजनाथ का नाम तब कृग्राम था और यह जनपद त्रिगर्त राज्य में स्थित था। इस जनपद का शासक राजन्य लक्ष्मण था जो त्रिगर्त के राजा के अधीन था। इस मन्दिर का निर्माण कराने वाले दो प्रसिद्ध वणिक् बन्धु, सिद्ध के पुत्र, मनस्वी और पुण्यात्मा मनयूक और आहुक थे। राजन्य लक्ष्मण के सम्बन्ध में लिखा है कि उसकी बलशाली भुजाएं इस जनपद की रक्षा करतीं हैं और जब से इस सामन्त ने तीर्थ-यात्रा की है तब से उसने प्रतिज्ञा कर ली है कि वह पराई स्त्री को अपनी बहिन के समान समझेगा। यह अचरज की बात नहीं है कि वह विकट युद्ध में भी अजेय है क्योंकि कामदेव भी उसको पराजित न कर सका। इस प्रशस्ति में आगे लिखा है, कुछ लोग सोचते हैं कि किसी जनपद पर शासन करने का मुख्य आकर्षण यह है कि सामन्त को जनपद की पराई स्त्रियों के भोग का अवसर मिलता है, परन्तु सैनिक ऐसे लोगों को निरादर की दृष्टि से देखते हैं, हमारे सामन्त में यौवन और सौन्दर्य दोनों है और चाटुकारों की भी कमी नहीं है, पर तब भी वह परदारा-भोग से परहेज करता है। अतः इस सामन्त के लिए कोई तपस्या कठिन नहीं है।

इस प्रशस्ति से तत्कालीन सामन्त-वर्ग के आचार और नैतिक स्तर का आभास मिलता है। जनसाधारण की मान-मर्यादा, धन-सम्पत्ति और आत्म-प्रतिष्ठा इन सामन्तों

की दया और कृपा पर निर्भर थी, ऐसा प्रतीत होता है कि सामन्त और उसके चाटुकारों को यह छूट थी कि जिस स्त्री का सतीत्व वे भंग करना चाहें कर सकते थे। अकबर महान् जैसा शासक भी इस दुर्बलता का शिकार हुआ था। 'नौरोज' जैसे उत्सवों का आयोजन उसने इसीलिये किया था कि इस उत्सव में आने वाली सम्भ्रान्त परिवारों की सुन्दर स्त्रियों को वह छिपकर देख सके, हालांकि उसके 'हरम' में सैकड़ों देश-विदेशी सुन्दरियां होती थीं। इस प्रशस्ति के अनुसार कुग्राम का सामन्त भले ही इस कुत्सित प्रथा का अपवाद हो और वह भी तीर्थ-व्रत के उपरान्त, पर तत्कालीन अधिकांश ठकुराई शासकों और उनके चाटुकारों के कुत्सित और निन्दनीय आचरण की ध्वनि इस प्रशस्ति में स्पष्ट है।

ठकुराइयों के युग में कैसी शासन-व्यवस्था रही होगी ? इसको समझने के लिये हमें आज के समाज के माप-दण्डों का आश्रय नहीं लेना होगा। वह व्यक्ति की गरिमा का युग नहीं था। तब गरिमा तो केवल शासक की ही थी या उसके प्रमुख कारिन्दों की। ठाकुर या राजा अपनी अधीनस्थ भूमि का असीम शक्ति का स्वामी था। जिमीदार उसकी भूमि पर खेती करता था, उसके जंगल से लकड़ी-घास प्राप्त करता था, जीवन-यापन के सभी साधन उसको राजा की भूमि और वन से प्राप्त होते थे। इस प्रकार उसका जीवन राजा के अधीन था। इस कृपा के बदले उसके राजा के प्रति कुछ अनिवार्य दायित्व थे। इस भूमि से जो कुछ वह प्राप्त करता था उसका कुछ भाग राजा या ठाकुर को देना पड़ता था। यह प्रथा तो सर्वत्र संसार में रही है। परन्तु न्यायपूर्ण और उचित 'भाग' का निर्धारण सर्वदा विवादास्पद रहा है, यह मालूम नहीं कि किस रूप में और किस मात्रा या परिमाण में समाज के विभिन्न वर्ग कर या सेवा के रूप में शासक को देते थे। परन्तु उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण तक और कई राज्यों में बीसवी सदी या देसी राज्यों के भारत के गणराज्य में विलय होने तक बेठ-बेगार का जो रूप देखने में आया है, वह इतना पुराना था जितनी ये ठकुराइयां या राज्य थे। यहां प्रथाएं रीति-रिवाज और समाज के आपसी सम्बन्धों की परम्पराएं इतनी मन्थर गति से बदलती थीं कि सदियों के बाद भी उनमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं मालूम पड़ता था।

बेगार प्रथा—

अतः बेठ-बेगार और कर का जो रूप इन राज्यों में प्रचलित था वह अज्ञात अतीत से चला आ रहा था। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अधिकांश राज्यों और ठकुराइयों में जमीन की पैमायश हुई। उस समय कर और बेठ-बेगार के रीति-रिवाजों में कुछ परिवर्तन हुआ और जिमीदार का कर और बेगार का बोझ कुछ कम हुआ, परन्तु बेगार के कुछ अंश तब भी अक्षुण्ण रखे गये। इस प्रथा की पूर्ण समाप्ति तो रियासतों के भारत में विलय होने पर ही हुई।

दो प्रकार की बेगार इन सभी पहाड़ी राज्यों में प्रचलित थी : अठवाड़ा बेगार और हेला बेगार। इनका विस्तृत विवरण यथा स्थान दिया जावेगा। यहां पर कुछ

स्थूल रूप ठकुराई शासन के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये प्रस्तुत किया जा रहा है। अठवाड़ा वेगार वर्ष भर की नियमित वेगार थी। प्रत्येक जिमीदार परिवार को एक व्यक्ति को निश्चित अवधि के लिये ठाकुर या राजा की सेवा के लिये भेजना पड़ता था। यह अवधि दो महीने से लेकर छः महीने या इससे भी अधिक हो सकती थी। यह इस वात पर निर्भर करता था कि राज्य कितना वड़ा है। छोटी ठकुराइयों में सेवा-अवधि छः मास और इससे भी अधिक होती थी। प्रायः इस सेवा-काल में वेठू को खाना भी अपना खाना पड़ता था। जो ठाकुर के महल में काम करते थे, उनको कहीं-कहीं खाना मिलता था। वाहर काम करने वालों को स्वयं अपनी व्यवस्था करनी पड़ती थी। वेगारी को प्रत्येक प्रकार के काम करने पड़ते थे; घास काटना, जंगल से लकड़ी लाना, पशुओं की सेवा करना, खेतों में काम करना, ठाकुर की गाय को दूहना, वच्चों को खिलाना; घर-गृहस्थी के सभी व्यापार निभाने पड़ते थे।

'हेला वेगार' कुछ विशेष कार्यों के लिये होती थी, जैसे ठाकुर के मकान, महल का निर्माण, सड़कों की मरम्मत, ठाकुर के घर में कोई गमी या उत्सव हो या सैन्य अभियान में जाना हो। ऐसे अवसर पर परिवार में कम से कम एक व्यक्ति को ऐसे कार्यों में सम्मिलित होना पड़ता था। इस वेगार का कोई निश्चित समय नहीं होता था। यह आकस्मिक, आवश्यकता-मूलक होती थी।

शिमला पहाड़ की रियासतों के गजेटियर के अनुसार क्योंथल राज्य की राजधानी जुणगा में प्रतिदिन ३७६ आदमी वेगार के लिये तैनात रहते थे। उनको मजदूरी या भोजन कुछ नहीं मिलता था। वुशैहर राज्य में रामपुर में २२५८ वेगारी रहते थे, अन्य चौकियों पर वेगारी इनके अतिरिक्त थे। प्रतिदिन विभिन्न सेवाओं के लिये विभिन्न स्थानों पर वेगारियों की कुल संख्या तीन हजार से अधिक होती थी। क्योंथल राज्य में १८६८ ई० में जमीन की पैमायश हुई; आधुनिक ढंग की तहसीलें वनी, लगान निश्चित किया गया, परन्तु तव भी 'अठवाड़ा' और 'हेला' वेगारें जारी रखी गई। रांवीं और पुन्नर इलाके के जिमीदारों को मिलकर १२४ मन लकड़ी जुणगा गोदाम के लिये एकत्र करनी पड़ती थीं।यह काम फाल्गुन के महीने में करना पड़ता था।परगना फागू, खलासी और टीर महासू के जिमीदारों को वारी-वारी सारा वर्ष फागू चौकी पर वेगारी के रूप में रहना पड़ता था। इसके अलावा प्रत्येक घर को छः मन लकड़ी जुणगा गोदाम में देनी पड़ती थी। झजोट परगने के प्रत्येक घर को साल भर में २५ मन घास शिमला के पास कुसुमटी और खिलिनी गोदामों में देना पड़ता था। इसी प्रकार अन्य कई परगनों को प्रत्येक घर के हिसाव से २५ मन घास वर्ष भर में पूरा करना पड़ता था। इन कार्यों में ढील होने पर दण्ड की व्यवस्था थी। शिमला के निकट कोटी राज्य में सात पुलिस चौकियां थी; प्रत्येक चौकी में एक दारोगा, एक मुन्शी और दस सिपाही रहते थे, पर ये सभी निश्चित अवधि के लिये वेगारी होते थे, कोई वेतन-भत्ता इनको नहीं मिलता था। इनकी वेगार की अवधि समाप्त होने पर अन्य वेगारी अपनी वारी के लिये आते थे। केवल संजौली चौकी पर वेतन-भोगी दारोगा और सिपाही होते थे।

आस्था होती थी। गांव के छोटे-मोटे झगड़े और समस्याओं का समाधान ये देवता ही कर लेते थे। सारा सामाजिक जीवन इन देवताओं से ऐसा नियंत्रित और गुंथा होता था कि राज-तंत्र के हस्तक्षेप की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। जीवन परम्पराओं से स्वायत-शासी-जैसा था। ठाकुर को प्रधानतः अपने कर और बेगार-सेवा से मतलब होता था। वह भी देवता के अनुशासन में था। लोग शान्ति-प्रिय और परस्पर सहयोग-सूत्र में बन्धे होते थे। उन्नीसवीं सदी में जब अंग्रेजों का यहां अधिपत्य हुआ, उनके तत्कालीन विवरण से पता चलता है कि पहाड़ी क्षेत्र में चोरी, डाके, धोखा-फरेब जैसे अपराधों का अभाव था। लोग अपनी परम्पराओं और प्रथाओं से निबद्ध, शान्ति-प्रिय और कानून का पालन करने वाले थे, कत्ल जैसे जघन्य अपराध कहीं-कहीं बहुत कम सुनने में आते थे। समाज का यह स्वरूप ठकुराइयों की भान्ति सदियों पुराना था। ठाकुर और ठकुराइयां बदलती होंगी, पर जनसाधारण के रुढ़िगत जीवन का प्रवाह शान्त नदी की भान्ति अबाध गति से चलता रहा। उस सरल समाज में सभी उच्च मानवीय गुण, प्रेम, सहानुभूति, सहयोग, आतिथ्य और पारस्परिक सहायता और सद्भाव व्यक्तिगत जीवन को अनुप्राणित करते थे।

३. खश या खश्या

काश्मीर से नैपाल तक के विस्तृत हिमालय क्षेत्र को यदि खश देश कहा जाय तो अनुचित न होगा। इतिहासकार प्रायः एक मत हैं कि सदियों पहले हिमालय के पार मध्य एशिया से यह घूमन्तू पशु-पालक जाति इस क्षेत्र में आई और कालान्तर में इस

रोहड़ू के खश-दम्पती

सारे क्षेत्र में फैल गई, देश-काल के प्रभाव से इनके अलग-अलग नाम,बोलियां, सांस्कृतिक भिन्नताएं और रीति-रिवाज उत्पन्न हो गये। अन्य जातियों के सम्पर्क और रक्त-सम्मिश्रण से स्थानीय भिन्नता अधिक गहरी हो गई। फलतः आज मूलरूप पहचानना कठिन है।

खश-क्षेत्र—

आज भी गढ़वाल, कुमाऊं, नैपाल और हिमाचल प्रदेश के कई स्थानों में खश या खश्या नाम से यह जाति जानी जाती है, गढ़वाल में खशों के बारे में पुरानी लोक-प्रचलित उक्ति है, "केदारे खश मण्डलम्"—केदार खश क्षेत्र है, परन्तु खशों को केदार क्षेत्र तक सीमित करना अनुचित होगा। सम्भवत: यह धारणा दक्षिणात्य और मैदानों से आये लोगों की थी। सदियों पहले ये लोग इस क्षेत्र के सम्पर्क में आये। शंकराचार्य के पारवर्ती काल में केदार खण्ड भारत का प्रमुख तीर्थ स्थल बना और हिमालय क्षेत्र के अन्य स्थानों की अपेक्षा यह प्रदेश मैदान-वासियों के सम्पर्क में अधिक आया। कोई आश्चर्य नहीं कि इन लोगों ने यहां के निवासियों की पुरातन जीवन-पद्धति को देखकर जो उनकी सांस्कृतिक परम्पराओं से भिन्न थी, यह कह दिया हो कि केदार खण्ड खशों का गढ़ है। परन्तु इसका कदापि यह आशय नहीं कि यह जाति केदार खण्ड तक ही सीमित थी। स्कन्द पुराण में हिमालय क्षेत्र को पांच भौगोलिक खण्डों में विभक्त किया है—

खण्डाः पञ्च हिमालयस्य कथिताः नैपालकूर्मांचलौ।
केदारोऽथ जालन्धरोऽथ रुचिर काश्मीर संज्ञोऽन्तिमः॥

हिमालय क्षेत्र के नैपाल, कुमाऊं, केदार (गढ़वाल) जालन्धर (हिमाचल प्रदेश) और सुरम्य काश्मीर पांच खण्ड हैं। वास्तव में खश जाति की विचरण-भूमि मुख्यत: ये पांच खण्ड थे। जीवन के अनेक संघर्ष और उतार-चढ़ाव खशों ने इन पांच खण्डों में देखे। आज भी हिमाचल प्रदेश में यह जाति खंश नाम से जानी जाती है। कुछ स्थानों के नाम जैसे रोहड़ू तहसील में खश धार और रामपुर तहसील का एक भाग काश्यापाट (खश्या-पाट) इस पुरातन जाति के नाम से सम्बद्ध है। हिमालय क्षेत्र में बसने वाली विभिन्न जातियों और सामाजिक वर्गों के आज अलग-अलग नाम हैं, कनैत, राव, चौहान, नेगी, विष्ट, रावत आदि। इनमें कुछ नाम व्यवसाय मूलक हैं। पर ये सब उसी मूल खश जाति अथवा उसकी रक्त-मिश्रित उपजाति के वंशज हैं। सदियों के लम्बे इतिहास में कितना रक्त-सम्मिश्रण हुआ, कितना भाषा व बोलियों का रूपान्तर हुआ, कितनी धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक उथल-पुथल की परतें एक-दूसरे के ऊपर जमी हैं, इन सबका अनुमान और मूल्यांकन करना कठिन है। इन सबका वृतान्त अतीत के अन्धकार में इतना धूमिल हो चुका है कि कुछ भी स्पष्ट नहीं है।

पौराणिक वाङ्मय में खश—

पौराणिक इतिवृत्तों में खशों का प्राय: उल्लेख हुआ है। इनका कई नामों से वर्णन आया है, यह उल्लेख अफगानिस्तान से नैपाल तक के पर्वतीय क्षेत्र एवं इसके आंचल में बसने वाली जातियों के साथ हुआ है, मार्कण्डेय पुराण में खशों को पर्वतवासी बताया गया है :—

अतः ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि जनाः पर्वताश्रिताश्च ये।
नीहाराःहंस भर्गवाश्च, कुरवोगुर्भर्णाः खशाः॥

गन्धर्वान् किन्नरान् यक्षान् रक्षो विद्याधरोरगान् ।
कलापग्रामकांश्चैव तथा किंपुरुषान् खसान् ॥

पर्वताश्रित जातियों में खशों के साथ पुराणों में बहुचर्चित देव-योनि वर्ग, यक्ष, किन्नर अथवा किंपुरुष, गन्धर्व, विद्याधर नाग आदि जातियों का प्रायः वर्णन आया है, इन देव योनि जातियों का अलग अस्तित्व सन्देहास्पद प्रतीत होता है । यह सम्भव है कि खशों को स्थान-भेद के कारण ये अलग-अलग नाम दिये हों, राहुल सांकृत्यायन ने अपने यात्रा-विवरण में कनौरों को किन्नर की संज्ञा दी है । यह सर्वथा भ्रामक है । कनौरा वर्ग एक भाषाई इकाई प्रतीत होती है । कनौरी बोली मुण्डा-भाषा परिवार और तिब्बती भाषा का सम्मिश्रण है, अन्यथा कनौरों और कनैतों में कोई सांस्कृतिक अन्तर नहीं है । नृत्य और गायन करने वाले यदि किन्नर थे तो पहाड़ी लोग सभी किन्नर कहे जा सकते हैं क्योंकि इस कला के प्रेमी सभी पर्वत-वासी हैं, स्वयं राहुल जी ने अपनी अन्य पुस्तक "मेरी जीवन यात्रा" में १६३१ ई० में तिब्बत से लौटते हुये जब वे शिप्की के मार्ग से कनौर में आये तो उन्होंने लिखा कि इन लोगों को कनौरा कहते हैं, कदाचित् इसलिये कि ये सतलुज के किनारे बसे हैं, पर १६४८ ई० में उन्होंने इनको किंपुरुष, किन्नर की संज्ञा दे दी और कह दिया कि स्नान न करने से, गन्दा रहने से इनको किंपुरुष ? कह दिया हो । मंगोल रक्त के तनिक मिश्रण से तुरंग वदन भी कुछ-कुछ ठीक घटता हो । परन्तु यह सभी सीमान्त वासियों पर घटता है । कनौरा नाम कनैत का ही रूपान्तर है और कनैत कुलिन्द का विकृत रूप है । खशों का उल्लेख कर्ण, नाग, प्रावण, हूण, किरात दरद आदि पर्वतीय जातियों के साथ भी हुआ है । इन सभी पर्वताश्रयी जातियों को स्मृतिकारों ने धर्म-भ्रष्ट, अर्द्ध सभ्य और धर्म-विरुद्ध आचरण करने वाले बताया । मनु और महाभारत ने इन पर्वताश्रित जातियों को व्रात्य (धर्म-भ्रष्ट) की संज्ञा दी है, मनु ने तो संस्कारहीन होने से इनको वृषल (बैल) बताया ।

शनकैस्तु क्रिया लोपात् या हि क्षत्रिय जातयः ।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥१०:४३
पौण्ड्रकाश्चौड्र विडा कम्बोजा यवनाः शका ।
पारदाः पल्हवाः चीनाः किराताः दरदाः खशाः ॥१०:४४

ये सभी पर्वताश्रयी जातियां क्षत्रियों की कोटि में गिनी जाती थीं । परन्तु ब्राह्मणों के दर्शन से वंचित पौण्ड्रक, अंकविड, कम्बोज (उत्तर-पश्चिम सीमान्त वासी) यवन, शक, पारद, पल्हव, चीनी (हिमालय क्षेत्र के सीमान्तवासी मंगोल) किरात, दरद एवं खश वृषलत्व को प्राप्त हुये । इस प्रसंग में रोचक यह तथ्य है, कि आज भी कनौर में कोई ब्राह्मण परिवार नहीं है । कनौर की वर्तमान जनसंख्या ५० हजार से अधिक है । ये सभी कनैत या कोली हैं । वास्तव में पर्वत-वासियों को पुरातन काल से ही निम्नस्तर का समझा जाता था । इसका कारण उनकी आर्थिक विपन्नता, भिन्न सांस्कृतिक परम्पराएं एवं खान-पान और पहनावे की भिन्नता रही हो । इसमें कोई सन्देह नहीं मैदानों में रहने वाले स्मृति-पोषक धर्मावलम्बी तब भी पहाड़ी लोगों को हेय दृष्टि से देखते होंगे ।

इसकी ध्वनि पौराणिक वाङ्मय में प्रायः मिलती है। कल्हण-कृत राजतरंगिणी के टीकाकार रघुनाथसिंह काश्मीर के नीलमत पुराण का उदाहरण देते हुये खशों को यक्ष, राक्षस और पिशाचों के साथ सम्मिलित करते हैं :—

गन्धर्वाः वाजिनः पुत्रा मद्राश्च सुरभेः सुता।
यक्षाश्च राक्षसाश्चैव खशाया स्तनया स्मृताः॥

पुराणों में वर्णित विभिन्न नाम वास्तव में एक ही खश जाति के लिये देश-काल के अनुसार प्रयुक्त हुये हैं। हिमालय में बसने वाली मूल किरात और नाग जातियों से खशों का रक्त सम्मिश्रण हुआ है। कश्यप की पत्नी कद्रू थी। कद्रू नाग कन्या थी और उसकी सन्तान दानव, खश, पिशाच और राक्षस थे। ये सभी नाम पर्यायवाची प्रतीत होते हैं। जब इनका प्रयोग हुआ होगा, तब कदाचित् इन नामों से मानव के विकृत रूप की ध्वनि प्रतीत नहीं होती होगी। परवर्ती समय में तो दानव, पिशाच और राक्षस की मानव से इतर भूत, प्रेत और भयावहरूप की ध्वनि इंगित होती थी, 'पिशाच' एक ऐसा शब्द है, परन्तु यह एक ऐतिहासिक शब्द है जो ऐसे लोगों का द्योतक है जो विशेष प्रकार की भाषा बोलते थे। यह पैशाची भाषा थी। यह अपभ्रंश का एक रूप था। इसी से पांचाल पैशाची और शौरसेनी पैशाची अपभ्रंश का उद्भव हुआ। यह पैशाची अपभ्रंश हिन्दुकुश, कपिशा, काफिरीस्तान, गान्धार, चितराल, काश्मीर के उत्तर और पामीर के दक्षिण में बोली जाती थी और इतिहासकारों के अनुसार सदियों पहले यहीं से खशों का प्रसार पूर्व और दक्षिण की ओर हुआ।

पिशाचों और राक्षसों ने महाभारत के युद्ध में कौरवों का साथ दिया था। शक, कम्बोज, वाल्हीक, त्रिगर्त, तंगण, प्रतंगण, खश, पारद, दरद आदि सभी पर्वताश्रयी जातियों ने कौरव पक्ष का साथ दिया था।

दिवसे-दिवसे प्राप्ते भीष्म शान्तनवोयुधि।
असुरानकरोत् व्यूहान् पैशाचान् अथ राक्षसान्॥

असुर, पिशाच और राक्षसों की सेना से व्यूह रचना करके भीष्म ने महाभारत के युद्ध का संचालन किया। महाभारत में खशों का अन्य हिमालय वासी जातियों के साथ राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होने का उल्लेख मिलता है। निम्न श्लोक के अनुसार खश मेरू और मन्दार पर्वतों के मध्य शैलोदा नदी की उपत्यका में रहते थे। इसका संकेत सम्भवतः गढ़वाल की अलकनन्दा उपत्यका से हो।

मेरू मन्दारयो मध्ये शैलो दाममितो नदीम्।
ये ते कीचक वेणूनां शयाम्रम्यामुपासते॥
खशा एकासना ह्यर्हा प्रदादीर्णवेणवः।
तद्वै पिपीलिकं नाम उद्धृतं यत् पिपीलिकैः।
जातरूपं द्रोणमेवम् अहार्युः पूजशो नृपाः॥

खशों ने पिपीलिका नामक सुवर्ण युधिष्ठिर को उपहार के रूप में प्रस्तुत किया था। ऐसा विश्वास किया जाता है कि तिब्बत के नारी क्षेत्र (पश्चिमी तिब्बत) में पिपी-

लिका (चींटियां) जमीन के नीचे से सोने के कणों को ऊपर लातीं थीं जिसको तिब्बती एकत्र करके खशों को बेचते थे, ये स्वर्ण-कण (धूल) पिपीलिका स्वर्ण कहलाता था। यूनानी इतिहासकार हीरोडोटस् ने भी इस स्वर्णधूल का उल्लेख किया है। उसके अनुसार हिमालय के उत्तरी प्रदेश में चींटियों द्वारा खोदी स्वर्णधूल होती है। सीमान्त के भारत-वासी इसको एकत्र करते हैं। ये गढ़वाल के खश ही थे। तिब्बत के नारी प्रदेश में सोने की खानों की विद्यमानता सर्व-विदित है, पर इतने प्राचीन काल में (तीसरी सदी ई० पूर्व) भी गढ़वाल के खश्या तिब्बत के साथ व्यापार करते थे—यह आश्चर्यजनक बात है। पारवर्ती ऐतिहासिक काल में तो यह व्यापार कई प्रकार से होता था।

ऐतिहासिक काल के खशों का उल्लेख—

एटकिन्सन के अनुसार ईसा की पहली शताब्दी में खशों को यक्ष कहते थे। यक्ष, राक्षस और पिशाच पर्यायवाची शब्द थे। विशाखदत्त कृत मुद्राराक्षस नाटक में खशों का पर्वतेश्वर और उसके पुत्र मलयकेतु की सेना में मुख्य सैनिक होने का संकेत मिलता है। आमात्य राक्षस कुमार मलयकेतु की सेना को आदेश देता है कि कुसुमपुर (पाटलिपुत्र का पुराना नाम) पर आक्रमण करते हुये सबसे प्रथम खश और मगध के सैनिक ध्वजा फहराते हुये चलें आदि-आदि।† इस नाटक के अनुसार कुलूत, काश्मीर, सिन्धु और पारस व मलयाधिपति ने कुसुमपुर पर आक्रमण में भाग लिया था। इस नाटक का रचना काल ई० सन् की पांचवीं शती माना जाता है। कुलूत का राजा चित्र वर्मा और अन्य नाम भले ही काल्पनिक हों, परन्तु उत्तर-पश्चिम क्षेत्र में खशों के प्राबल्य से इनकार नहीं किया जा सकता है। उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में बिन्दुसार के शासन काल में विद्रोह हुआ था। अशोक ने अपने पिता के समय तक्षशिला क्षेत्र में जहां वह स्थानिक (राज्य-पाल) रहा था, इस विद्रोह को दबाया था। इसके बाद अशोक ने खशों के विरुद्ध अभि-यान किया। यह क्षेत्र कुणार, स्वात और काश्मीर उपत्यकाएं रही होंगी। यह खश-क्षेत्र था। अशोक ने चैत्यों के निर्माण में यख (यक्ष) कलाकारों से सहायता ली थी। यक्ष खश ही थे। उसकी सेना में खश वेतन भोगी सिपाही भी थे। मौर्य साम्राज्य के स्थापना-काल से बाद तक मौर्यों का खशों से सम्बन्ध रहा।

खश कौन थे ?

खशों का मूल विवादग्रस्त है। कोई इनको आर्यों की एक शाखा मानते हैं और कोई आर्यों के बाद आने वाली नई जाति मानते हैं। गढ़वाल व कमाऊं के गजेटियर के

---

†प्रस्थातव्यं पुरस्तात्खश मगध गणैर्मामनु व्यूहसैन्यै—
गान्धारै र्मध्ययाने सयवनपतिभिः संविधेय प्रयत्नः।
पश्चात्तिष्ठन्तु वीराः शकनरपतयः संभृताश्चीनहूणैः।
कौलूताश्चैव शिष्टः पथि पथि वृणुयाद्राजलोकः कुमारम् ॥११॥

मुद्राराक्षस पंचमाङ्क

लेखक ई० टी० ऐटकिन्सन जिसने इस विषय पर कुछ शोध कार्य किया, मोटे तौर पर खशों को आर्यों से सम्बद्ध मानता है। राहुल सांकृत्यायन ने खशों को शकों की एक शाखा माना है। उनके अनुसार शकों के दर्जनों कबीले थे जो कैस्पियन सागर से लोपनोर तक ईसा पूर्व छटी-सातवीं सदी में फैले थे। इनका एक कबीला तैरिम उपत्यका में (सीक्यांग) बसा था। पूर्व से मंगोलों के दबाव के कारण ये कबीले पश्चिम और दक्षिण की ओर जाने में विवश हुये। इस कबीले का नाम खश ही था। अन्य प्रमुख कबीले थे, मसागित्, सकरौक, बसून्, यूची आदि। उनके अनुसार ई० पूर्व सातवीं सदी से पहले तैरिम उपत्यका खश नाम का कबीला पामीर गिरिमाला को पार कर गिलगित, काश्मीर और सम्भवत: लद्दाख में प्रविष्ट हुआ। यह अत्यन्त विकट मार्ग था, पामीर के इस पार फैलने में उनको कई वर्ष लगे होंगे, यहां से इनका प्रसार पूर्व, दक्षिण और पश्चिम दिशाओं की ओर हुआ। पश्चिम में इनका प्रसार कुणार उपत्यका की ओर हुआ और दक्षिण में काश्मीर और पूर्वी पर्वतीय क्षेत्र की ओर। इस प्रसार में इनको कई सदियां लगीं। कालान्तर में ये काश्मीर से नैपाल तक के समस्त पहाड़ी क्षेत्र में फैल गये। चीनी इतिहासकार इनको 'साई' कहते थे और उनके अनुसार ये लोग 'ची-पिन' मार्ग से काश्मीर में आये। कदाचित् फहियान इसी मार्ग से भारत में आया हो। परम्परा यह भी है कि अशोक के एक पुत्र कुस्तुन ने खोतान में एक राज्य की स्थापना की थी। जालोक नाम का अशोक-पुत्र काश्मीर का शासक तो था ही। खोतान राज्य की स्थापना भी इसी मार्ग से हुई होगी। पारवर्ती काल में तो पामीर का मार्ग मध्यएशिया और भारत के बीच व्यापार का राजमार्ग बना।

वैसे शक कबीलों का मुख्य अभियान ई० सन् पहली सदी में आरम्भ हुआ। सीथियन, बैक्ट्रियन और कुषाण कबीलों के रूप में अफगानिस्तान के मार्ग से ईरान, सिन्ध, गुजरात और उत्तर-पश्चिमी प्रदेश, गान्धार में फैले। इनमें कुषाण कबीला एक शक्तिशाली साम्राज्य को स्थापित करने में सफल हुआ, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि पारवर्ती काल के शक कबीलों का खश कबीले शकों से कोई सम्बन्ध नहीं था। खश लोग सदियों पहले, ई० पूर्व छ:-सात सौ वर्ष पहले पामीर पर्वतमाला को लांघ कर हिमालय क्षेत्र में फैल चुके थे। इनका मार्ग पामीर गिरि माला था जबकि बाद में आने वाले शकों का मार्ग अफगानिस्तान और कदाचित खैबर का दर्रा था। वैसे इन कबीलों को भी पार्थिया, बैक्ट्रिया और बदक्शां में फैलने में सदियां लगीं। इन कबीलों ने उक्त प्रदेशों में सदियों पहले स्थापित यूनानी राज्यों का उच्छेद किया और स्वयं वे उन राज्यों के स्वामी बने। ईरान का सीस्तान प्रदेश शकों के नाम से शक स्थान या सीस्तान कहलाया। पाणिनी ने अपनी अष्टाध्यायी में 'शक शूद्रागालाम्' सूत्र से शकों की ओर संकेत किया है। पाणिनी का काल ई० पूर्व चौथी-पांचवीं सदी माना जाता है। पर शकों से भारतीयों का सम्पर्क ई० सन् की पहली शताब्दी में मुख्य रूप से हुआ। सम्भव है कि बहुत पहले से भारतवासी खश नाम के शकों से परिचित थे और पाणिनी का संकेत इन्हीं शकों से हो। खश लोग पाणिनी से पूर्ववर्ती समय में काश्मीर, स्वात घाटी और सिन्ध और हिन्दुकुश के

बीच के क्षेत्र में फैल चुके थे और यह भी सम्भव है कि इनका प्रसार पूर्व दिशा की ओर जालन्धर खण्ड और गढ़वाल की ओर हो चुका हो। इनके गणराज्य इस क्षेत्र में स्थापित हो चुके हों। वैसे पारवर्ती काल में आने वाले शकों का भी हिमालय क्षेत्र से घनिष्ट सम्बन्ध रहा जिसका उल्लेख यथा स्थान किया जावेगा। काबुल में कनिष्क के वंशजों का राज्य तुर्की शाही राजाओं के नाम से ग्यारहवीं सदी तक रहा। अरबों के आक्रमण इस राज्य पर आठवीं सदी से होने आरम्भ हो गये थे।

क्षेत्रीय नामों से खशों का सम्बन्ध—

ऐटकिन्सन ने काश्मीर, हिन्दुकुश और सिन्ध नदी के मध्य के भाग को खशों की स्मृति से सम्बद्ध किया है। खश नाम चितराल, गिलगित, स्वात-उपत्यका और काफिरी-स्तान में नदी, पहाड़ों और अन्य स्थानीय नामों से सम्बद्ध है। हिन्दुकुश और सिन्ध के बीच का क्षेत्र खोस (खश) डिवियन कहलाता है। खोस या खश शब्द कई नदियों और पहाड़ों के नाम से जुड़ा है, यहां की नदियों के नाम खोस, खोसपिन, खसपिन आदि हैं। हिन्दुकुश और काश्मीर नाम इसी प्रकार के प्रतीत होते हैं। काशगर को भी खश नाम से जोड़ा जाता है। कुणार उपत्यका के ऊपरी भाग को कश्कार (खशकार) कहते हैं। इसके उत्तरी भाग को 'लुरी खो' मध्य को 'मुल खो' और निचले भाग को 'लुड खो' कहते हैं। 'खो' शब्द का सम्बन्ध खश नाम से प्रतीत होता है। किसी समय यह क्षेत्र खश जाति के प्रभुत्व का क्षेत्र रहा होगा।

नाग जाति—

उत्तरी भारत, विशेषतः हिमाचल क्षेत्र में नाग जाति का प्रभाव आदिम युग से सदियों बाद तक रहा। यह नाग-उपासक जाति थी और शैव धर्म से भी इनका सम्बन्ध था। ये कौन लोग थे, यह विवाद का विषय बना हुआ है। सम्भवतः इनका सम्बन्ध सिन्ध सभ्यता से हो, शिव और नाग उपासना के तत्त्व इस सभ्यता के धर्म में विद्यमान थे। आर्यों का नाग जाति से सदियों तक संघर्ष रहा। इस संघर्ष की ध्वनि पौराणिक वाङ्मय में नाग-यज्ञ आख्यान से स्पष्ट मिलती है। खाण्डव-दहन का आख्यान महाभारत की एक मुख्य घटना है। यह आख्यान इस संघर्ष का प्रतीकात्मक रूप है। परन्तु इस संघर्ष की परिणति आर्य और नाग संस्कृति के मेल और समन्वय में हुई। सम्भवतः इसमें कई सदियों तक का समय लगा हो। इस समन्वय का परिणाम यह हुआ कि नाग जाति का स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हुआ—यह जाति नीर-क्षीर की भान्ति आर्य या भारतीय जीवन और संस्कृति में घुलमिल गई। आर्य और नाग का भेद समूल नष्ट हो गया और नाग जाति का यदि कुछ शेष रहा तो वह नाग पूजा मात्र है। आरम्भिक संघर्ष में यह स्वाभाविक था कि नाग जाति जो आर्यों के आने से पहले इस देश में बसे थे, इधर-उधर बिखर गये हों। इनमें अधिकांश हिमालय क्षेत्र की ओर गये हों क्योंकि इस क्षेत्र में काश्मीर से लेकर कुमाऊं तक नागों की पूजा और परम्परा व्याप्त है। अनेकों स्थानों के नाम नाग शब्द से सम्बद्ध हैं, स्थान-स्थान पर नाग मन्दिर और नाग-जलाशय हैं जहां

नागों का वास माना जाता है। धर्मशाला के पास भाग्सू नाग हैं : किन्नौर में ब्रुवा नाग, ठियोग में महासू नाग, चच्योट (मण्डी) में कामरू नाग, करसोग में महू नाग एवं विलासपुर में गूगा नाग प्रसिद्ध हैं।

गढ़वाल में एक परगने का नाम ही नागपुर है। वहां शेष नाग का वास-स्थान पाण्डुकेश्वर मे है। इसी प्रकार भेखल नाग रतगांव में, संगला नाग नलौर में, बानपा नाग, मरगांव में, लेहन्दू नाग नीति घाटी में, पुष्कर नाग नागनाथ में। दून क्षेत्र में भी नाग सिद्ध और बामन नाग के मन्दिर कई स्थानों पर हैं, अथ नागपूजा वैष्णव धर्म का अविभाज्य अंग है, सम्भव है कि खशों के आने पर नागों के साथ इनका भी संघर्ष हुआ हो, पर लोक परम्परा में कोई ऐसी जनश्रुति या किंवदन्ति नहीं है। पौराणिक आख्यान के अनुसार कश्यप की पत्नी कद्रू, नाग-कन्या थी और उसकी सन्तान नाग, यक्ष और राक्षस हुये। यक्ष और राक्षस खश नाम के पर्यायवाची रूप हैं। इससे खश और नाग जाति के मेल और समन्वय की ध्वनि मिलती हैं, 'राक्षस' शब्द कालान्तर में बुरे भाव का द्योतक बना, पर आरम्भिक युग में यह नाम वाचक और जाति द्योतक शब्द था। विशाखदत्त के नाटक मुद्राराक्षस में महानन्द का अमात्य 'राक्षस' नाम का था। यह नाटक का एक प्रमुख पात्र है।

ऐतिहासिक युग में हमें सर्व प्रथम भारत में नाग शासकों के दर्शन होते हैं। मगध में चन्द्रगुप्त से पहले शैशुनागों का राज्य था। नन्दवंश भी नागवंश से सम्बद्ध था। सबसे अधिक ज्ञात राजा इस वंश का बिंबसार या श्रेणिक था। उसके बाद कुणिक या अजात शत्रु हुआ। चन्द्रगुप्त मौर्य महानन्द का पुत्र था, पर पारिवारिक कलह के कारण उपेक्षित और तिरस्कृत था। उस युग तक आर्य, अनार्य, नाग, किरात आदि का भेद सर्वथा समाप्त नहीं तो नगण्य हो चुका था। यदि भेद था तो धार्मिक विचारों और मतमतान्तरों का। यह समय बौद्ध और जैन धर्मों के उदय का समय था, आर्य अनार्य के झगड़े का नहीं था।

कुषाणों के पराभव के बाद तीसरी-चौथी शताब्दी में एक बार पुनः नाग राजाओं का उदय भारत में हुआ। पुराणों के अनुसार उस युग में विदिशा, कान्तिपुर, मथुरा में भार शिव नागों का शासन था। इन भार शिव नाग राजाओं में भवनाग प्रतापी राजा हुआ है। कहते हैं कि वे शिवलिंग को भार रूप में ये सदा कन्धे पर रखकर चलते थे। शिव इस भक्ति से सन्तुष्ट हुये और फलस्वरूप शासन का गौरव इनको मिला। भार शिव राजाओं के द्वारा काशी में दशाश्वमेघ घाट पर दस अश्वमेघ यज्ञों के करने का आख्यान आता है जिस कारण से इस घाट का नाम दशाश्वमेघ घाट पड़ा।

अन्य वर्ग—

पर्वतीय क्षेत्र में खश और नाग जातियों के अलावा कोल और किरात भी यहां की जनसंख्या के अंश हैं। किरात पुरातन युग में सम्भवत वनवासी लोग थे जो कालान्तर तक कन्द मूल और फल एकत्रित करके एवं मृगया से जीवन यापन करते थे। संसार के

कई भागों में आज भी ऐसी पिछड़ी हुई और उपेक्षित जनजातियां हैं जो इस प्रकार से जीवन यापन करती हैं। परन्तु आज हिमालय क्षेत्र में ऐसी कोई जाति नहीं है जिन्हें हम किरातों के वंशज कह सकें। सभ्यता के प्रसार के साथ यह जाति खश और अन्य जातियों के साथ कदाचित् इस प्रकार घुलमिल गई कि इसका अलग अस्तित्व नहीं दिखाई पड़ता और न ही ज्ञात इतिहास इनके बारे में कुछ बताने में समर्थ हैं। बहुत पुराने समय में किरात नाम से वन्य जाति थी। पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में कोली आधुनिक हरिजनों की कोटि में आते हैं। यह कहना कठिन है कि कोल से कोली वर्ग की उत्पत्ति है। यह जाति आर्यों की वर्ण-व्यवस्था की देन हो। यह जाति किसी भिन्न वंश या प्रजाति से सम्बद्ध प्रतीत नहीं होती है। खश या आर्य जाति का यह उपेक्षित वर्ग है जो व्यावसायिक, धार्मिक व अन्य सामाजिक परिस्थितियों से निम्नस्तर का समझा जाता था। इनका रंग-रूप आचार-विचार और आस्थाएं अन्य जातियों से भिन्न नहीं हैं।
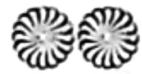
४. कांगड़ा का कटोच राज्य

ठकुराइयां और बड़े राज्य—

खशों ने समस्त हिमालय क्षेत्र में सैकड़ों ठकुराइयों की स्थापना की और सदियों तक इन खश ठकुराइयों की प्रभुसत्ता इस क्षेत्र में रही, परन्तु ये ठकुराइयां सदा ही एक-दूसरे के साथ युद्ध-रत रहीं। फलतः दुर्बल ठकुराइयों का अस्तित्व प्रायः संदिग्ध और प्रबल पड़ौसी ठकुराई की दया पर निर्भर रहता था। ये ठकुराइयां इतनी छोटी होती थीं कि अपने साधन और शक्ति से ये जीवित नहीं रह सकती थीं। किसी बड़ी शक्ति का आश्रय प्राप्त करना एक अनिवार्यता थी। यह मत्स्य-न्याय का युग था। बड़ी शक्तियां छोटे राज्यों और ठकुराइयों को हस्तगत करने के लिये सदा प्रयत्नशील रहतीं थीं। पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में बहुत पुराने समय से काश्मीर का राज्य एक प्रबल शक्ति थी। इसी प्रकार त्रिगर्त (जालन्धर खण्ड) में कटोच राज्य व्यास और सतलुज की उपत्यकाओं में एक शक्ति-सम्पन्न राज्य था। काश्मीर की शक्ति क्षीण होने पर जम्मू क्षेत्र में डूगर नाम के राज्य का उदय हुआ। समस्त पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में इन तीन बड़े राज्यों का प्रभाव रहा। इन शक्ति-सम्पन्न राज्यों के अधीन अथवा प्रभाव क्षेत्र में अन्य छोटे राज्य और ठकुराइयां होतीं थीं। यह स्थिति ई० सन् की तीसरी-चौथी सदी से लेकर पंजाब में सिख राज्यों के उदय होने तक और शिमला क्षेत्र में अंग्रेजी राज्य स्थापित होने तक रही।

पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में काश्मीर बहुत प्राचीन राज्य था। यह राज्य सबसे शक्तिशाली था। चम्बा राज्य सातवीं सदी में काश्मीर के प्रभाव क्षेत्र में था। काश्मीर के तत्कालीन राजा मुक्तापीड़ ललितादित्य ने तिब्बत, दरद और तुर्कों को ही पराजित नहीं किया बल्कि कन्नौज और गौड़ तक के राजाओं को अपने अधीन किया। स्वभावतः पश्चिमी हिमालय का त्रिगर्त और चम्बा क्षेत्र में भी ललितादित्य की विजय पताका फहराई हो; परन्तु ये घटनाएं हर्ष के पारवर्ती युग की हैं। हर्ष के समय में त्रिगर्त कन्नौज के साम्राज्य का अंग था। ह्वीवांगसांग की वापिसी के सम्बन्ध में महाराजा हर्ष ने त्रिगर्त के राजा को आदेश दिया था कि वह चीनी यात्री की वापसी की समुचित व्यवस्था करे। सातवीं सदी के उत्तरार्द्ध में काश्मीर के राजा ललितादित्य ने समस्त मध्यदेश और गौड (बंगाल) को हस्तगत करने का अभियान किया। उस समय कुछ काल के लिये त्रिगर्त को भी काश्मीर की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी।

आम धारणा यही है कि बहुत पुराने समय से, कश्मीर, त्रिगर्त और डूगर राज्य अपने पड़ौसी राज्यों और ठकुराइयों के अधिपति और संरक्षक थे। डूगर राज्य का केन्द्र

तब बाहु कहलाता था, जम्मू का उदय पारवर्ती समय में हुआ। रावी और व्यास घाटियों के राज्य त्रिगर्त के संरक्षण में थे। डूगर और त्रिगर्त राज्यों के अन्तर्गत सभी हिन्दू राज्य थे। मुसलमानों के शासन काल में हजारा क्षेत्र और स्वात उपत्यका में २२ मुसलमानी राज्य थे और सिन्ध के पूर्वी क्षेत्र में २२ हिन्दू राज्य थे। इनमें से लगभग ग्यारह राज्य डूगर की छत्र-छाया में थे और ग्यारह त्रिगर्त राज्य के अन्तर्गत थे। डूगर समुदाय में प्रमुख ये राज्य थे :—दिपालपुर, भाऊ, बसोली, भद्रवा, भाडू, किश्तवाड़, पूंच, राजौरी कोटी, भींबर और खारीखरयाली। कालान्तर में मनकोट जसरोट, साम्बा, अखनूर आदि छोटी-छोटी और ठकुराइयां भी इसमें सम्मिलित की गई। त्रिगर्त राज्य में प्रमुख ग्यारह राज्य ये थे : कांगड़ा, गुलेर, जसवां, सीबा, दातारपुर, नूरपुर, कोटला, चम्बा, सुकेत, मण्डी और कुल्लू। बाद में कुटलहैड़, बंगाल (बड़ा और छोटा), शाहपुर आदि भी इस समुदाय के अन्तर्गत माने गये।

चीनी यात्री हीवानसांग और त्रिगर्त राज्य—

त्रिगर्त राज्य का सबसे प्रथम ऐतिहासिक उल्लेख हीवानसांग ने किया। चीनी यात्री हीवानसांग ६३०-६४५ ई० तक भारत में रहा। महाराजा हर्ष ने चीनी यात्री को वापिसी यात्रा के लिये जालंधर खण्ड के राजा उदित या उदयचन्द के संरक्षण में भेजा था। तब त्रिगर्त राज्य की राजधानी जालन्धर में थी। हीवानसांग के अनुसार त्रिगर्त का राज्य उसकी यात्रा के समय छः सौ वर्ष से एक स्वतंत्र राज्य था। इस गणना के अनुसार त्रिगर्त राज्य की स्थापना ईसा की पहली शताब्दी में हुई। यह समय शकों के कुषाण कबीले का भारत में आने और कुषाण राज्य की स्थापना का समय था। शक सम्वत् का आरम्भ ७८ ई० सन् से माना जाता है और यह कनिष्क के राज्यारोहण का द्योतक माना जाता है। लगभग इस समय से त्रिगर्त के राज्य का समारम्भ समझना चाहिये। हीवानसांग के समय त्रिगर्त का राजा उदित या उदयचन्द था। परम्परा और त्रिगर्त के राजाओं की वंशावली के अनुसार इस वंश का संस्थापक भूमिचन्द था और इस वंश में कुल ५०० पीढ़ियां हुईं। एचीसन और वोगल ने सात राजाओं की शासन-अवधि के आधार पर एक पीढ़ी की औसत अवधि १७ वर्ष निकाली है, इस गणना के आधार पर ५०० पीढ़ियों का समय ८५०० वर्ष हुआ! कहा जाता है कि सुशर्माचन्द ने त्रिगर्त की ओर से महाभारत के युद्ध में भाग लिया था और सुशर्माचन्द मूलसंस्थापक से १३४ वीं पीढ़ी पर हुआ था। यदि सुशर्माचन्द को ही मूल पुरुष माना जाय तो भी यह राज्य ६००० वर्ष से अधिक पुराना गणना के अनुसार आता है। यह सर्वथा अविश्वसनीय है। हीवानसांग का कथन सत्य के निकट है—ईसा की पहली शताब्दी कांगड़ा के कटोच राज्य की स्थापना का समय था। सन् १००९ में महमूद गजनी ने कांगड़ा का किला लूटा। उसके पश्चात् मुसलमान इतिहासकारों ने समय-समय पर कटोच राज्य और विशेषतः कांगड़े के किले का उल्लेख किया। दिल्ली के सुलतानों में से फिरोजशाह तुगलक ने कांगड़ा पर आक्रमण किया। तत्कालीन इतिहासकारों ने अमरकोट का उल्लेख किया। मुगल सम्राट् अकबर के समय से तो इस क्षेत्र का विधिवत् वर्णन मिलता है।

राशि कल्पनातीत प्रतीत होती है, परन्तु इसकी पुष्टि स्वयं सुलतान के निजि सचिव और इतिहासकार उत्तबी ने की है। ऐलेक्जेण्डर कनिंघम का मत है कि किले में ७ लाख सोने के सिक्के नहीं थे, वरन् चांदी के शाही दिरवान थे। ये सिक्के काबुल के तुर्कीशाही और ओहिन्द के हिन्दुशाही शासकों के थे। कनिंघम ने मत व्यक्त किया है कि इन राजाओं के सिक्के ५० ग्रेन तोल के चांदी के थे। ऐसे सिक्कों का प्रचलन पंजाब में व्यापक था और हजारों की संख्या में ऐसे सिक्के पंजाब में खुदाई में प्राप्त हुये थे। दूसरा महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य कनिघम ने यह व्यक्त किया है कि यह विशाल कोशागार कांगड़ा के राजा का नहीं हो सकता है, यह कोशागार काबुल के कटोरमान तुर्कीशाही और उद्भान्दपुर (ओहिन्द) के हिन्दुशाही राजाओं का था। इस बात की पुष्टि में अलबरूनी का कथन कि भीमनगर के किले में काबुल के कटोरमान राजाओं की वंशावली रेशम के कपड़े पर लिखी मिली, का भी कनिंघम ने उल्लेख किया। इस वंशावली में ६० पीढ़ियों की गणना की गई थी। अलबरूनी स्वयं इस आक्रमण के समय महमूद के साथ था और कुछ वर्षों के बाद वह भारत में आया और कई वर्षों तक संस्कृत भाषा के अध्ययन के बाद उसने इस देश के इतिहास, ज्योतिष और गणित शास्त्र पर विस्तृत विवरण लिखा। काबुल के कटोरमान तुर्कीशाही राजा कुषाणों के वंशज माने जाते हैं। इनका सबसे बड़ा शासक कनिष्क हुआ है। कनिष्क की राजधानी इसी क्षेत्र में पौरुषपुर (पेशावर) में थी। उसका साम्राज्य उसकी मृत्यु के बाद छिन्न-भिन्न हुआ, परन्तु उसके वंशज काबुल और स्वात घाटी और इसके निकटस्थ क्षेत्रों में सदियों तक शासन करते रहे। इस्लाम के अभ्युदय के बाद अरब आक्रान्ताओं ने ईरान के बाद अफगानिस्तान के दक्षिणी भाग में पैर फैलाने आरम्भ किये। लगभग एक सदी तक ये कटोरमान तुर्की शासक इनका मुकाबला करते रहे। इस वंश के अन्तिम राजा वासुदेव की उसके ब्राह्मण मंत्री कलार या कनक ने हत्या की और हिन्दुशाही वंश की स्थापना करके स्वयं राजा बन गया। परन्तु ये भी बहुत दिनों तक इन आये दिन के आक्रमणों को सहन न कर सके। इस नये राजवंश को काबुल से हटकर सिन्ध नदी के तट पर उद्भान्तपुर (ओहिन्द) में आना पड़ा जहां से लगभग एक और सदी की अवधि, सन् १०२६ तक ये राजा गजनवी के आक्रान्ताओं का अपने अस्तित्व के अन्तिम दिन तक मुकाबला करते रहे। काबुल और उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में होने वाली इन घटनाओं का कांगड़ा के तत्कालीन इतिहास से घनिष्ट सम्बन्ध प्रतीत होता है। अतः इनकी ओर संकेत करना आवश्यक है।

काबुल के कटोरमान और कांगड़ा के कटोचों का सम्बन्ध—

कांगड़ा के कटोच राजाओं का सम्बन्ध काबुल के कटोरमान और बाद में ओहिन्द के हिन्दुशाही राजाओं से किसी न किसी रूप में रहा है। कनिंघम के मत में पर्याप्त-विश्वसनीयता है। यह तो सभी इतिहासकार मानते हैं कि उद्भान्तपुर के हिन्दुशाही शासकों का प्रभुत्व पंजाब और पश्चिमी हिमालय क्षेत्र पर था। नवीं सदी में इनका महत्वपूर्ण उत्कर्ष हुआ। इस बात को मानने में भी कोई सन्देह प्रतीत नहीं होता कि जब आठवीं और नवीं सदी में अरबों और गजनवी के सुल्तानों के आक्रमणों से इस क्षेत्र में

आतंक फैला और भगदड़-जैसी मची, तो ये शासक अपने प्राण-प्रतिष्ठा बचाने और धन सम्पत्ति की रक्षा के लिये पूर्वाभिमुख हुये। यह सम्भव है कि काबुल और ओहिन्द के शासकों ने अपने सोने-चांदी और मूल्यवान रत्न-भण्डार को कांगड़ा के किले में सुरक्षित रखा हो। कांगड़ा के शासक या तो उनके अधीन थे या इन्हीं के वंशज थे। कटोच शब्द का मूल क्या है, यह अभी अनिश्चित है। यह भी सम्भव है कि कटोच संज्ञा कटोर शब्द का ही रूपान्तर हो। कटोरमान काबुल के शासकों की उपाधि या जाति सूचक नाम था। कटोर और कटोच शब्दों में कोई बड़ा अन्तर नहीं है। ऐटकिन्सन ने गढ़वाल में जोशीमठ के कत्यूर शासकों को कटोरमान शासकों की एक शाखा माना है। मुसलमानों के आक्रमण से कटोर शासकों का उच्छेद काबुल से हुआ। उनमें से कुछ साहसी राजकुमार अपने दल-बल के साथ पूर्व दिशा की ओर गढ़वाल में पहुंच गये। नवीं सदी से बारहवीं सदी तक इन कत्यूर राजाओं ने जोशीमठ से कुमाऊं और गढ़वाल के गढ़पति खश ठाकुरों पर शासन किया। ऐटकिन्सन ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि जोशीमठ के कत्यूर राजा और काबुल के कटोरमान शासक एक ही वर्ग और जाति के थे। काबुल में तुर्की-शाही का ह्रास और जोशीमठ में कत्यूरों का उदय लगभग एक ही समय में हुआ। कांगड़ा तो इनसे दूर नहीं था। अतः इस बात में काफी वजन है कि कोट कांगड़ा में जो अतुल धन-राशि महमूद गजनी को मिली, वह या तो काबुल के शासकों ने बहुत पहले से यहां सुरक्षित रखी थी या बाद में ओहिन्द के हिन्दुशाही राजाओं ने इन आक्रान्ताओं के भय से यहां रखी थी। काबुल के कटोरमान राजाओं की वंशावली का कांगड़े के किले में विद्यमान होना भी इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि इस क्षेत्र के साथ इनका घनिष्ट सम्बन्ध था। जोशीमठ के कत्यूर, कांगड़े के कटोच और काबुल के कटोरमान एक ही वर्ग या जाति के लगभग समान नाम हैं। देश-काल के कारण इनमें नगण्य अन्तर है। जोशीमठ में कत्यूर राज्य की स्थापना और काबुल में कटोरमान शासकों का विनाश और भगदड़ प्रायः समसामयिक है। इसी प्रकार कांगड़े में कटोच राज्य और उत्तर पश्चिमी क्षेत्र में कुषाण राज्य की स्थापना भी समसामयिक थी। यह ईसा की प्रथम शताब्दी के उत्तरार्द्ध की घटना है।

कुषाण, तुर्कीशाही और हिन्दुशाही राज्य—

कुषाण राज्य कालान्तर में तुर्कीशाही कहलाया। कुषाण शकों का ही एक कबीला था। शकों के कई कबीले ईसा की प्रथम दो-तीन शताब्दियों में बाढ़ के रूप में भारतवर्ष में आये, सीथियन बैक्ट्रियन और कुषाण नामों से वे इस देश में जाने जाते हैं। इनके सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि भारत में आने से पहले ही ये जातियां भारतीय धर्म और संस्कृति में अच्छी तरह से दीक्षित हो चुकी थीं। अशोक के समय से ही मध्य एशिया बौद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति का केन्द्र बन चुका था और ये कुषाण कबीले बौद्ध धर्म के पोषक थे। अतः भारतीय जीवन में अपने आपको ढालने में इनको कोई असुविधा नहीं हुई। उस युग में अफगानिस्तान भी भारतीय धर्म और संस्कृति से पूरी

तरह अनुप्राणित था। इनको तुर्क कदाचित् इसलिये कहा गया हो कि ये तुर्कीस्तान से यहां आये हों। वैसे तुर्क तो मंगोलों का एक कबीला था जो इतिहास में तुर्कों के नाम से† प्रसिद्ध हुआ। शक रंग, रूप और आकार में आर्यों से भिन्न नहीं थे। मंगोलों के साथ रक्त सम्मिश्रण से बाद में इनमें अन्तर आया, इनमें मंगोल आकृति की प्रधानता आई। प्रतिहार, गुर्जर, जाट आदि नामों की जातियां इन्हीं शक कबीलों के वंशज हैं। उनमें मंगोल आकृति का कोई अंश नहीं है। एक युग में ये कुषाण लोग भारतीय भाषा में तुरुक्ष (तुर्क) कहलाये। आरम्भ में उत्तर-पश्चिमी सीमा में बसे कुषाणों को यह नाम दिया गया है। परन्तु बादमें बाहर से आने वाली सभी जातियों को, विशेषतः मुसलमानों को 'तुरुक्ष' की संज्ञा दी गई। हिमालय के पश्चिमी क्षेत्र में तुरुक्ष नाम सदियों तक लोक-परम्परा में जीवित रहा। आरम्भ में काबुल के कटोरमान कुषाण शासक और ओहिन्द के हिन्दुशाही राजा शायद इस नाम से जाने जाते होंगे। लगभग आठ-नौ सौ वर्ष तक कनिष्क एवं कुषाणों के वंशधरों ने उत्तर-पश्चिमी पर्वतीय क्षेत्र जिसमें अफगानिस्तान, सिन्ध और हिन्दुकुश के बीच का प्रदेश कुणार, काबुल और अन्य नदियों की घाटियां सम्मिलित है, राज किया। कोई आश्चर्य नहीं कि कांगड़ा के कटोच शासक भी इन्हीं के वंशधर हों। पिछले कुछ समय तक भी ऊपरि कुणार उपत्यका में, चित्राल, यसम, मस्तुग आदि में काबुल के कटोर शासकों के वंशज राज करते थे। मुसलमान होने पर भी ये शाह कटोर कहलाये। काबुल के कुषाण शासक शाह कहलाते थे और बाद में उद्‌भान्तपुर (ओहिन्द) के ब्राह्मण राजा भी शाह कहलाये। शाह शब्द फारसी भाषा में शासक के लिये प्रयुक्त हुआ है। भारत के मुगल शासकों ने शाह की उपाधि को अपनाया। पीछे पंजाब में धनपति हिन्दू बाणियों को भी व्यवहार में सम्मानार्थ शाह कहा जाता था। धन भी सत्ता का द्योतक है। सत्ताधारी होने से ये शाह कहलाये। यहां पर यह कह देना भी प्रासंगिक होगा कि ईसा से कई सदी पहले हिमालय क्षेत्र में बसने वाली खश जाति और कुषाणों के वंशधर कटोर, कटोच और कत्यूर सर्वथा भिन्न जाति या वर्ग के थे। खश भी शकों का ही एक वर्ग था जो कर्राकोरम और पामीर की विकट पर्वत मालाओं को लांघकर पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में आये थे। बाद में आने वाले शक कबीले अफगानिस्तान के मार्ग से आये थे। खश विकास की दृष्टि से पशु-पालन के स्तर पर यहां आये थे और इनका अधिकांश सांस्कृतिक और सभ्यता का विकास यहीं हुआ, परन्तु कुषाण उन्नत संस्कृति के वाहक थे। कुषाण खशों से लगभग सात-आठ सौ वर्ष बाद भारत में आये।

भीमनगर से मुसलमानों का निष्कासन—

इस क्षेपक के पश्चात् पुनः उन घटनाओं का उल्लेख करना शेष रह जाता है जो भीमनगर के किले को लूटने के बाद हुई। महमूद तत्काल ही सन् १००६ में इस अपरिमित

---

†मंगोल नोकीली टोपी पहनते थे। इसको वे 'टोर्पी' कहते थे। 'तोर्पी' शब्द से ही तुर्की और टोपी की व्युत्पत्ति है। जहां मंगोल लोग मध्य एशिया में मुख्यतः बसे वह तुर्कीस्तान कहलाया और 'तोर्पी' पहनने वाले तुर्क कहलाए। अफगानिस्तान और उत्तर-पश्चिमी सीमान्त में पहना जाने वाला 'कुल्ला' उसी 'तोर्पी' का अवशेष है।

धन-राशि को लेकर वापिस गजनी चला गया। उसने लूट-मार के जितने भी अभियान इस देश पर किये थे सभी शीतकाल में होते थे और गर्मियों के आरम्भ में वह वापिस चला जाता था। नगरकोट के किले में एक उच्च अधिकारी के अधीन उसने सेना का एक दस्ता रखा जो १०४३ ई० तक उस किले में रहा। किंवदन्ति के अनुसार दिल्ली के तत्कालीन तोमर वंशीय राजा को स्वप्न में नगरकोट की बज्रेश्वरी देवी के दर्शन हुए और देवी ने राजा को कहा कि मैंने म्लेच्छराज महमूद का अन्त कर दिया है और मैं अब पुनः नगरकोट में अपने मन्दिर में आना चाहती हूं। तुम मुझे वहां आकर मिलो। स्मरण रहे कि सन् १०२६ में महमूद ने सोमनाथ के मन्दिर को लूटा था। यह उसका अन्तिम आक्रमण समझा जाता है। उसके चार वर्ष बाद सन् १०३० में उसकी मृत्यु हो गई और गजनी राज्य का पराभव आरम्भ हुआ। अपने स्वप्न का समाचार तोमर राजा ने अन्य राजाओं को भेजा। सभी ने उसका साथ दिया—यह एक प्रकार से धर्म-युद्ध का अभियान था। मार्ग में हांसी, थानेसर, सरहिन्द जहाँ-जहां भी महमूद की फौजी टुकड़ियां किलों में थीं, उनको नष्ट करते हुए यह दल-बल नगरकोट पहुंचा। चार मास तक किले को घेरे रखा। अन्त में भूख-प्यास और बीमारी से क्षुब्ध होकर मुसलमान सेना ने आत्म-समर्पण किया। विजय की रात को देवी की वैसी ही मूर्ति जैसी महमूद सन् १००६ को यहां से गजनी को ले गया था, देवी के मन्दिर के प्रांगण में गुप्तरूप से रखी गई। दूसरे दिन जब यह खबर फैली कि देवी गजनी से वापिस आ गई तो उल्लास भरा जनसमूह वहां उमड़ आया। दूर-दूर से श्रद्धालु राजा, महाराजा और अन्य धनिक देवी के दर्शनार्थ यहां आये और कुछ ही दिनों में इतना सोना-चांदी और मोती-माणिक्य चढ़ावे में आया जितना महमूद इस मन्दिर को लूटकर ले गया था। सन् १०४३ में नगरकोट का किला फिर कटोच राजा के अधिकार में आया और तीन सौ वर्ष से भी अधिक समय तक इन्हीं राजाओं के अविच्छिन्न अधिकार में रहा।

फीरोज शाह द्वारा कांगड़ा पर आक्रमण—

सन् १३६० में कटोच राजा रूपचन्द ने युग धर्म के अनुरूप पंजाब के मैदानी क्षेत्र में जाकर मुसलमान शासकों के विरुद्ध लूटमार की और इस अभियान में वह दिल्ली के निकट तक पहुंच गया। उस समय भारत में फिरोजशाह तुगलक का शासन था। कटोच राजा को उसके दुःसाहस के लिये उसको दण्ड देने को फिरोजशाह ने सन् १३६५ में कांगड़ा पर आक्रमण किया और छः महीने तक नगरकोट के किले का घेरा डाला। रूपचन्द ने बड़ी वीरता से मुकाबला किया, परन्तु अन्त में सन्धि करनी पड़ी। रूपचन्द को फिरोजशाह की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। कहते हैं कि फिरोजशाह ने ज्वाला-मुखी में देवी का छत्र ले लिया और मूर्ति को भी खण्डित किया। मन्दिर में उसको १३०० धार्मिक पुस्तकों का संग्रह मिला। सुल्तान के आदेश पर शाही कवि ने इन पुस्तकों में से विज्ञान और ज्योतिष के ग्रन्थों का फारसी कविता में अनुवाद किया जिसका नाम दलाइल-ए-फिरोज शाही रखा गया। उसी सदी के अन्तिम वर्षों में सन् १३९८-९९ में

भारत पर तैमूर का आक्रमण हुआ। पर नगरकोट इस प्रबल संकट से बचा रहा। तैमूर वापिसी पर परम्परागत व्यापारिक मार्ग, होशियारपुर में बजौरा, दसूआ, पठानकोट, नूरपुर शाहपुर कण्डी और वहां से, लखनपुर जसटोरा और शाम्भा होता हुआ जम्मू निकला था। नगरकोट इस आपत्ति से बालबाल बचा था। अगले २०० वर्ष की अवधि तक नगरकोट बाहरी आक्रमणों के संकट से बचा रहा। अकबर के समय में सन् १५७२ में कटोच शासकों को फिर एक प्रबल शक्ति का सामना करना पड़ा। इसका विवरण आगे दिया जावेगा।

कांगड़ा का नामकरण और शल्य चिकित्सा—

बैजनाथ प्रशस्ति में (सन् ८०४) कांगड़ा का नाम सुशर्मापुर लिखा हुआ है। यह कदाचित् कटोच वंश के कथित संस्थापक के नाम से सम्बद्ध हो। महमूद गजनी के आक्रमण के समय इसका नाम भीमनगर तत्कालीन मुसलमान इतिहासकारों ने बताया है। मुगल काल में कांगड़ा का प्रायः उल्लेख आया है। तब इसका प्रचलित नाम नगरकोट था। पारवर्ती समय में कांगड़ा नाम प्रसिद्ध हुआ। एम० एस० रंधावा ने कांगड़ा नाम का सम्बन्ध कांगडा में सदियों से प्रचलित कान व नाक की शल्य-चिकित्सा से जोड़ा है— कान-गर से कांगड़ा की उत्पत्ति की है। किंवदन्ति है कि अकबर ने किसी अपराधी की नाक कटवाई थी जैसा कि पुराने जमाने में रिवाज था। कुछ दिनों के बाद नाक बनवाकर वह अकबर के सामने आया। पूछने पर पता चला कि सम्राट् के किसी शल्य-चिकित्सक ने उसकी नई नाक लगा दी थी। कहते हैं, अकबर ने चिकित्सक को कांगड़ा में जागीर प्रदान की और उसकी ही परम्परा से कांगड़ा में सदियों तक नाक व कान जोड़ने का काम होता रहा। उन्नीसवीं सदी में एलेकजैण्डर कनिंघम और योरुपीय यात्री विजने ने इस शल्य-चिकित्सा का उल्लेख किया है और इस बात की पुष्टि की है कि नैपाल, फारस और अफगानिस्तान तक के लोग अपनी कटी नाक और कान का इलाज कराने कांगड़ा आते थे। प्रायः नाई लोग इस काम को करते थे। अपराधियों के नाक और कान काटने की प्रथा पुराने जमाने में प्रायः कई देशों में थी। क्रोधान्ध पुरुष भी अपनी कुलटा स्त्रियों के नाक काट देते थे। कांगड़े के शल्य-चिकित्सकों ने विजने के पूछने पर भी अपनी चिकित्सा का रहस्य नहीं बताया। उन्होंने यह कहकर टाल दिया कि यह काम तो वज्रेश्वरी भगवती की कृपा से वहां होता है, अन्यत्र यह क्रिया सफल नहीं हो सकती है। परन्तु विजने ने लिखा हैं कि पहले मरीज़ को अफीम, भांग या धतूरा से चेतना-शून्य कर लिया जाता है। फिर नाक के ऊपर माथे पर एक छोटा चीरा देते हैं। जब मांस कुछ उभर जाता है तो काट कर ठीक आकृति में नाक पर उसको सिल देते हैं। एक प्रकार का तेल लगाने के बाद रुई की पट्टी बांध देते हैं। इस प्रकार नाक का पुनर्निर्माण हो जाता है। विजने ने कई लोगों को नव-निर्मित नाक लेकर वापिस जाते हुये देखा था।
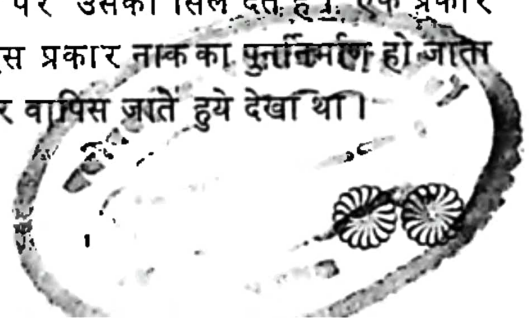
५. मुगल सत्ता और पहाड़ी राज्य

मुगल सत्ता से पहले :—

सन् ११९२ में भारत में महमूद गोरी ने तलवार के बल से मुस्लिम राज्य की स्थापना की और अगले दस पन्द्रह सालों में समस्त उत्तरी भारत में, बंगाल से गुजरात तक इस राज्य की ध्वजा फहराने लगी। हिंसा, लूटपाट, आगजनी और विनाश इस प्रसार के अग्रदूत थे। ये मध्य एशिया के धर्मान्ध क्रूर और नृशंस विजेता थे। दया,करुणा और सम्वेदनशीलता जैसे मानवीय गुण इनके शब्द-कोश में नहीं थे। उसी युग में चंगेज खां ने जो बौद्ध धर्म में दीक्षित बताया जाता है, चीन से लेकर काले सागर और पोलैण्ड तक रक्त की नदियां बहाई थीं। उस जाति से नहीं तो उसी भूमि और वातावरण से ये आक्रमणकारी आए थे। रक्तपात और विनाश इनकी व्यवहारिक रीति-नीति थी। ये विजेता जहां भी गये, बिहार बंगाल, गुजरात व बुन्देलखण्ड, वहां उन्होंने अपने पशु-बल से शासकों को ही नहीं वरन् आम जनता को भी आतंकित किया। बिहार में बौद्ध संघा-राजों में हजारों भिक्षुओं को मौत के घाट उतारा। इन मठों और विहारों में सदियों से संचित ज्ञान-राशि की पुस्तकों को आग की ज्वाला के सुपर्द किया। ऐसा विनाश इस देश ने पहले कभी नहीं देखा था। इसमें सब से विचित्र बात यह थी कि ये विजेता एक नये धर्म और सर्वथा भिन्न परम्परा के अनुयायी थे, भारतीयों की दृष्टि में जो वन्दनीय पवित्र और देव-तुल्य था, विजेता उसको घृणा और तिरस्कार की दृष्टि से देखता था। जन-संहार, मूर्ति और मन्दिरों एवं विहारों को तोड़ना उनके लिये 'जहाद', धर्मयुद्ध था' लूट-मार से अर्जित धन सम्पत्ति भी 'माले गनीमत' के नाम से धर्म-युद्ध का ही अंग था। इसमें कोई अनीति और अन्याय उनकी दृष्टि में नहीं था। माप-दण्डों का वैषम्य आश्चर्य और क्षोभ का विषय था। इस विनाश के कारण उत्तरी भारत में एक भगदड़ जैसी फैल गई। धर्म, मान-प्रतिष्ठा, धन, वैभव सब कुछ दांव पर लग गया था। बचे-खुचे बौद्ध भिक्षु और पण्डित अपनी बची हुई पोथियों को लेकर नैपाल, तिब्बत व हिमालय क्षेत्र के अन्य सुरक्षित स्थानों की ओर भागे। कुछ बीहड़ पहाड़ों और जंगलों को लांघ कर दक्षिणाभिमुख हुए। ऐसे ही राजवंशों के लोग भी हिमालय क्षेत्र की और या जहां भी उनको सुरक्षा की आशा होती होगी, उसी दिशा को गये। भगदड़ अल्प कालिक नहीं थी, तेरहवीं सदी के आरम्भ से मुगलों के आने के समय तक निर्बाध रूप से चलती रही। नैपाल से लेकर पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में सर्वत्र इन राजपूत राजाओं के वंशधरों का फैलाव हुआ। सन् १०३० में महमूद्र गजनी की मृत्यु हुई और ११९३ ई० में मुहम्मदगौरी ने भारत पर आक्रमण किया। सन् १०३० से ११९२ ई० तक १६२ वर्ष की अवधि में

कदाचित महमूद गजनी के हमलों के घाव भर गये थे और लोगों की स्मृति में वे दिल दहलाने वाली घटनाएं धूमिल पड़ गई हों, पर यह नया लोम-हर्षक आतंक पुनः समस्त उत्तरी भारत में फैल गया था।

तिब्बत में भारतीय पण्डित और भिक्षु—

उस युग की तिब्बत की गाथा बताती है कि कैसे भारतीय बौद्ध भिक्षु उस देश में गये और उन्होंने कैसे ह्रासोन्मुख बौद्धधर्म का जीर्णोद्धार किया। सन् ८४० के लगभग लौंगदर्मा नाम के नास्तिक व्यक्ति ने तिब्बत के तत्कालीन शासक त्रिग्डेत्सन की हत्या की और स्वयं सत्ता सम्भाली। त्रिग्डेत्सन का दोष यही था कि वह अत्यन्त धर्म-परायण और बौद्ध-धर्म का अनन्य उपासक था—अपने सिर के बालों की चटाई बनाकर उन पर भारतीय पण्डितों को बिठाकर उसको विशेष आत्म-तृप्ति होती थी। उसके मरने के बाद लौंगदर्मा ने बौद्ध धर्म के विरुद्ध एक अभियान चलाया, और बोन-पो (तिब्बत के प्राचीन धर्म) को पुनर्जीवित किया। लगभग तीन सौ वर्ष तक बौद्ध धर्म ह्रासोन्मुख रहा, यहां तक कि उस युग में मध्य तिब्बत में, "ऊ" और "सांग" प्रदेशों में, भिक्षु-पद की दीक्षा देने वाला कोई अधिकारी पण्डित या भिक्षु नहीं था। सन् १२४७ में चंगेजखान के पौत्र राजकुमार गोदन ने शाक्य पण्डित नाम के भिक्षु आचार्य को तिब्बत का शासन सम्भाला। उस समय से तिब्बत में पुनः बौद्ध धर्म का पुनरुत्थान हुआ। उस समय तिब्बत में भी हिमालय क्षेत्र की छोटी-छोटी ठकुराइयों की भान्ति दर्जनों छोटे-छोटे राज्य थे। उनके शासक बौद्ध भिक्षु थे, पर वे नाम के भिक्षु थे। उनका आचरण और ज्ञान बौद्ध परम्परा के अनुरूप नहीं था। भारतीय पण्डितों को अपने यहां आश्रय देने में वे अपना गौरव समझते थे। तेरहवीं सदी के आरम्भ से ही कई बौद्ध भिक्षु सुरक्षा और आश्रय के लिये तिब्बत के भिक्षु शासकों के संरक्षण में गये। उनको तिब्बत में आश्रय की कमी नहीं थी। कठिनाई थी द्विभाषिए की—ऐसे द्विभाषियों की जो संस्कृत और तिब्बती दोनों भाषाओं से परिचित हों। ऐसे भी उदाहरण तिब्बती परम्परा में मिलते हैं जब कुछ भारतीय पण्डित अपने द्विभाषियों से अलग हो गये और उनको असहाय अवस्था में इधर-उधर भटकना पड़ा था। अन्त में उनको चरवाहे का काम करना पड़ा। उनके द्वारा पत्थरों पर उत्कीर्ण संस्कृत लेख और श्लोक तिब्बत में इधर-उधर मिलते हैं।

पश्चिमी पर्वतांचल में राजपूत राज्यों की स्थापना—

शिमला क्षेत्र के अधिकांश राजपूती राज्यों की स्थापना उसी युग में हुई। बिलासपुर, नालागढ़, बाघल, बघाट, मांगल महलोग आदि राज्यों का जन्म इसी अवधि में हुआ। इन राज्यों के पूर्व पुरुष अपने दलबल के साथ यहां आये। निःसन्देह उनको यहां के मवाना (खश) ठाकुर शासकों से संघर्ष करना पड़ा होगा। इन राजपूतों को खश ठाकुरों को पराजित करना कोई कठिन काम नहीं था क्योंकि सैन्य बल में ये नवागन्तुक अधिक संगठित और शक्ति-सम्पन्न थे। अत्याचारों के कारण खश ठाकुर स्थानीय जनता के सहयोग और सहानुभूति से वंचित थे। इन विजेताओं ने खश ठाकुरों को सर्वथा नष्ट

नहीं किया, बल्कि उनको परास्त करके अपने अधीन सामन्त के रूप में इनके अस्तित्व को कायम रखा और कालान्तर में इनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये। बाघल राज्य का संस्थापक अजयदेव परमार उज्जैन से, मांगल का मारवाड़ से और धामी का दिल्ली से आया हुआ बताया जाता है। उस युग में एक प्रथा-सी थी कि साहसी राजकुमार कुछ लोगों को अपने दल में संगठित करके इधर-उधर विजय-अभियान के लिये दूरस्थ क्षेत्रों को जाते थे। पुरानी दन्त कथाओं में ऐसे अभियानों का संकेत मिलता है। उस युग में समाज राजनैतिक दृष्टि से इतना संगठित नहीं था। ऐसे साहसी लोग बलप्रयोग से अव्यवस्थित राजनैतिक स्थिति का लाभ उठाते थे। मत्स्यनाय के युग में बलवान ही विजयी और सत्ता को सम्भालने वाला होता था। इस क्षेत्र में भी दूरस्थ प्रदेशों से विजय के महत्वाकांक्षी राज-पुरुष आये और बाहु-बल से उन्होंने पहाड़ी क्षेत्र में अपने राज्य स्थापित किये। दसवीं शताब्दी में बंगाल के सेन-वंशीय ब्राह्मण शासक इस क्षेत्र में आये और उन्होंने सुकेत, क्योंथल और किश्तवाड़ में राज्यों की स्थापना की। पुराने-जमाने में ब्राह्मण वंशीय कई राजा हुये, तीसरी-चौथी सदी में विदिशा और ग्वालियर क्षेत्र में सदा शिवभार राजा ब्राह्मण वंश के माने जाते हैं; परन्तु कालान्तर में ये ब्राह्मण राजवंश भी क्षत्रियों की कोटि में गिने जाने लगे। ऐसी ही स्थिति उक्त सेन राजवंशों की हुई। बिलासपुर राज्य का पूर्व पुरुष विजय अभियान के लिये इस क्षेत्र में आया और राज्य स्थापित करने में सफल हुआ। हिमालय क्षेत्र के राज्यों से भी ऐसे साहसी राजपुरुषों ने विजय के द्वारा स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की। जम्मू क्षेत्र के अखनूर राज्य के वंशधरों ने कुनिहार राज्य की स्थापना की। इसी प्रकार कुठाड़ राज्य के संस्थापक किश्तवाड़ (काश्मीर) से आये थे। शिमला क्षेत्र के कई राज्य सिरमौर के राजघराने से सम्बद्ध हैं। जुब्बल, बलसन, उतरोच और कोट-तेश राज्यों के पूर्व पुरुष सिरमौर के शासकों के वंशधर थे और सदियों तक ये राज्य सिरमौर के अधीन या उसकी छत्र-छाया में रहे। इस प्रकार मध्य युग में शिमला क्षेत्र में इन छोटे राज्यों का उदय हुआ। उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण में गोरखा युद्ध के बाद सन् १८१५ में ये अंग्रेजों के संरक्षण में आये। अंग्रेजों ने १२ बड़ी ठकुराई और १८ छोटी ठकुराइयों का उल्लेख किया है। उनका विशेष वर्णन अन्यत्र किया जावेगा। यहां पर इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि ये ठकुराइयां प्राय: किसी बड़ी शक्ति के अधीन होती थीं, कभी बिलासपुर राज्य छोटी ठकुराइयों का अधिनायक था तो कभी सिरमौर या बुशैहर। क्योंथल ने भी छोटी ठकुराइयों के अधिनायक होने का दावा किया है। कोई आश्चर्य नहीं कि सुलतानों या मुगलों के समय में भी भारत के मुख्य शासक शक्ति को इन छोटी-छोटी ठकुराइयों के अस्तित्व का पता भी नहीं होगा। भारत की केन्द्रीय शक्ति का सम्बन्ध तो बड़े-बड़े राज्यों से था। ऐसा प्रतीत होता है कि शिमला क्षेत्र के इन छोटे-छोटे राज्यों के साथ सुलतानों या मुगलों का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था। कभी-कभी दिल्ली के शासक या उनके राजकुमार अथवा उच्च अधिकारी शिवालिक की पहाड़ियों के क्षेत्र तक शिकार खेलने आते थे। तब उनको इस इलाके का कुछ सीधा परिचय मिलता था। ऐसे दलों की

स्थानीय राजा आवभगत और सहायता भी करते थे। फलस्वरूप सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जाते थे। ऐसी किंवदन्ति है कि सिरमौर के राजा नित्य प्रति चूड़ चान्दी (सिरमौर का सबसे ऊंचा पहाड़, ११ हजार फुट ऊंचा) से वर्फ को दिल्ली के मुगल सम्राट् को भेजते थे। द्रुतगामी घोड़ों पर दिन-रात सफर करके वर्फ के बड़े-बड़े टुकड़ों का कुछ भाग तो दिल्ली पहुंच सकता होगा। उसको वन्द करने की कुछ ऐसी व्यवस्था होगी जो बर्फ को पिघलने में बाधक होगी।

अकबर और नूरपुर राज्य—

मुगलों का सबसे पहला सम्पर्क पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के नूरपुर के शासकों से सन् १५५६ में हुआ जब बैरामखान अकबर के साथ शेरशाह सूरी के भतीजे सिकन्दर सूर का पीछा करते हुये पठानकोट की ओर आया। अकबर अभी केवल तेरह वर्ष का था। यहां उनको हुमायूं की मृत्यु का समाचार मिला। वर्तमान गुरदासपुर जिले में कलानौर के स्थान पर एक साधारण चबूतरे पर अकबर को विधिवत् भारतवर्ष का सम्राट् घोषित किया गया। यह घटना १६ फरवरी १५५६ ई० की है। घटना चक्र संक्षेप में इस प्रकार था; हुमायूं ने जुलाई १५५५ ई० दिल्ली पर अधिकार किया ही था और शेरशाह सूर के उत्तराधिकारियों के विरुद्ध वह अपनी स्थिति सुदृढ़ कर रहा था कि जनवरी १५५६ में अपने पुस्तकालय की सीढ़ियों से गिरकर हुमायूं की मृत्यु हो गई। उस समय अकबर पंजाब में सैन्य अभियान पर गया हुआ था। पंजाब में सिकन्दर सूर दिल्ली के सिंहासन का दावेदार होने के कारण अपनी शक्ति बढ़ा रहा था। उसने नूरपुर के तत्कालीन राजा भक्त मल से सहायता मांगी जो उसको तत्काल मिली। उस समय नूरपुर राज्य का नाम धमेरी या पैथान था, पैथान पठानकोट के पुरातन नाम 'प्रतिष्ठान' का अपभ्रन्श है। मुगल काल में पठानकोट पैथान नाम से जाना जाता था। बैरामखान द्वारा पीछा किये जाने पर सिकन्दर सूर ने पैथान राज्य में स्थित मनकोट के किले में शरण ली। यहां लगभग आठ महीने तक मुग़ल सेना ने घेरा डाला और अन्त में सिकन्दर सूर को पकड़ लिया। राजा भक्तमल ने पहले ही सिकन्दर सूर का साथ छोड़ दिया था, परन्तु वह भी पकड़ा गया और लाहौर ले जाया गया जहां बैरामखान ने अपने हाथों भक्त मल का सर धड़ से अलग किया। इस प्रकार पैथान का राजा मुगल सत्ता का पहला शिकार हुआ। सिकन्दर सूर को क्षमा-दान मिला और सुदूर पूर्व बिहार में उसको जागीर प्रदान की गई। पारवर्ती मुगल काल में समय-समय पर पैथान राजाओं ने इस सत्ता के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा प्रायः ऊंचा रखा और साथ ही पश्चिमी क्षेत्र के पहाड़ी राजाओं में मुगल दरबार में ऊंची मनसबदारी के पदाधिकारी भी रहे। नूरपुर के राजा जगतसिंह का सैनिक पद, मनसबदारी ३००० सिपाही और २००० घुड़सवार था और उसके पुत्र रूपराज सिंह का, जो कुछ समय तक कोट-कांगड़ा का फौजदार (राज्यपाल) भी रहा, मनसब ३५०० सिपाही और २५०० घुड़सवार था। अकबर के राज्यारोहण के थोड़े वर्ष बाद पुनः सन् १५६० में मुगल सेना ने शिवालिक क्षेत्र में प्रवेश किया।

आता है कि अकबर कांगड़ा के तत्कालीन राजा जयचन्द में किसी कारण से रुष्ट हो गया था। उसने कुली खान को जयचन्द को पकड़ कर दिल्ली भेजने का हुक्म दिया। जब राजा जयचन्द कैद कर लिया गया और दिल्ली भेज दिया गया तो उसके पुत्र विधिचन्द ने अकबर के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। अकबर ने शाही फरमान जारी करके कांगड़े का सारा राज्य बीरबल को दे दिया और पंजाब के फौजदार को आज्ञा दी कि कांगड़े को जीत कर बीरबल को सौंप दे। इससे स्पष्ट है कि अकबर के आरम्भिक राज्य काल में ही किसी न किसी रूप में कांगड़ा समेत सभी पहाड़ी राज्य मुगल साम्राज्य के आतंक में आ चुके थे। सन् १५७२ में कांगड़ा पर मुगलों का पहला आक्रमण हुआ और नगरकोट के किले को जीतने का प्रयास आरम्भ हुआ। फिरोज शाह तुगलक के आक्रमण के लगभग २०० वर्ष बाद फिर एक बार और नगर कोट को बाहर से आये आक्रमण का सामना करना पड़ा। नूरपुर और कांगड़ा के बीच उस समय घना जंगल था। बड़ी कठिनाइयों से कई दिनों के बाद मुगल सेना कांगड़ा पहुंची। नगर की रक्षा दीवार को मुगल सेना ने ध्वस्त कर दिया और किले के बाहर सेना ने घेरा डाला। नगर की रक्षा दीवार के अन्दर वज्रेश्वरी देवी जिसको मुसलमान इतिहासकारों ने महामाई नाम दिया, का मन्दिर था। राजपूत रक्षकों ने बड़ी वीरता से मन्दिर की रक्षा की और अपने प्राणों की आहुति दी। पर मुसलमान सेना का सामना न कर सके। मन्दिर के पुजारी और कई अन्य ब्राह्मण इस युद्ध में मारे गये। मन्दिर की २०० काली गाइयां थीं। वे सभी इस संघर्ष में मारी गई। कहते हैं कि मुस्लमान सिपाहियों ने रक्त से मन्दिर की दिवारों को अपवित्र किया। यह स्मरण रहे कि उस सेना के साथ स्वंय बीरबल था जो मुगल सेना में सम्मानित मनसबदार था। परन्तु सेनानायक तो हसन कुलीखान था। संसारचन्द के दादा घमण्डचन्द ने सन् १७६० के लगभग कुल्लू पर आक्रमण किया था। उसके सैनिक अफगान और रोहेले थे। वे हिन्दु राजा के सिपाही थे। उन्होंने भी मण्डी की सीमा पर स्थित बजौरा के मन्दिरों की मूर्तियां तोड़ी थीं। वे खण्डित मूर्तियां अभी भी वहां विद्यामान हैं। सैन्य अभिमान में मदान्ध सिपाही प्रायः ऐसा करते थे। ऐसे उदाहरण अन्यत्र भी मिलते हैं। मन्दिर को ध्वस्त करने के बाद किले का घेरा आरम्भ हुआ जो कई महीनों तक चला। राजपूत सैनिकों ने साहस और वीरता से आक्रान्ताओं का मुकाबला किया। राजा विधिचन्द स्वयं सेना का संचालन करता रहा। मुगलों ने तोपों से किले की दीवार तोड़नी चाही। एक गोले से किले की दीवार का एक भाग नष्ट हुआ और उसके अस्सी राजपूत सैनिक मारे गये।

कांगड़ा राज्य सरास्त पर किला अजेय—

जैसा कि पहले बताया गया कि इसी समय अकबर ने गुजरात पर हमला किया। वहां का फौजदार मिर्जा इब्राहीम हुसेन बागी हो गया था। मुगलसेना से पराजित होकर वह पंजाब की ओर आया। उसको यह ज्ञात था कि पंजाब का फौजदार हसन कुली खान नगरकोट के घेरे में व्यस्त है। अतः पंजाब में लूटमार करने का उसे अच्छा मौका मिला।

जब हसन कुली खान को पंजाब पर मिर्जा हुसेन के आक्रमण का समाचार मिला तो कांगड़ा में लम्बा घेरा डालना कठिन हो गया। वैसे भी मुगल सेना का साहस किले की अजेयता और इसके रक्षकों की वीरता को देख कर, गिर चुका था। वे किसी प्रकार सम्मान के साथ यहां से निकलना चाहते थे। बड़े-बड़े अधिकारियों ने फौजदार को घेरा उठाने की सलाह दी। अन्त में सन्धि की शर्तें तय हुईं। मुख्य ये थीं :– (१) किसी राजकुमारी को शाही हरम (रनिवास) के लिये देना होगा। (२) राजा को हरजाने के रूप में पांच मन सोना देना होगा, (३) राजा को अकबर की अधीनता स्वीकार करनी पड़ेगी, किसी राजकुमार या अन्य निकट सम्बन्धी को बन्धक के रूप में शाही दरबार में रहना होगा, (४) कांगड़ा का राज्य शाही फरमान से राजा बीरबल को दे दिया गया था। अतः उसको भी राज्य को छुड़ाने के लिये उपयुक्त मुआवजा देना होगा। ये शर्तें एक अधीन और परास्त राजा के अनुरूप थीं। मुगल सेना नगरकोट के किले को तो नहीं जीत सकी; परन्तु मुगल भारत की साम्राज्य सत्ता होने के नाते कांगड़ा के राजा को ये शर्तें माननी पड़ीं। सन्धि सम्पन्न होने पर अकबर के नाम के सिक्के ढाले गये और हफीज अहमद वकीर ने सम्राट के नाम पर कुतबा पढ़ा। इसके अतिरिक्त प्रचुर धन सम्पति मुगल सेना में बांटी गई। यह सब युग धर्म के अनुरूप था।

अकबरनामा से पता चलता है कि इसी अवधि के लगभग सम्राट ने राजा टोडरमल को पहाड़ी राज्यों को मुगल साम्राज्य की व्यवस्था के अन्तर्गत विधिवत् संगठित करने के लिये भेजा था। टोडरमल ने कांगड़ा घाटी के ६६ गांवों को एवं अन्य राज्यों से भी उनकी सामर्थ्य के अनुसार इलाके लेकर एक अलग जागीर या प्रान्त का निर्माण किया था। यह प्रान्त सीधे मुगल अधिकार में ले लिया गया था। सम्भवतः मुगल फौज के खर्च के लिये ये इलाके लिये हों। सन् १६२० में जहांगीर ने कांगड़ा के किले पर अधिकार किया और यह किला कटोच राजाओं के हाथ से लगभग २०० वर्ष के लिये छीन लिया गया। इस अवधि में मुगल फौजदार और सेना कांगड़ा के किले में रही। उसका खर्च इन ६६ गांवों की आय से होता होगा। सन् १८०९ में जब कांगड़े का किला रणजीत सिंह ने अपने अधिकार में लिया था तो उसने भी इन ६६ गांवों का इलाका जिसको संसारचन्द और रणजीत सिंह के इकरारनामे में सन्धात क्षेत्र कहा गया है, अपने अधिकार में ले लिया था। शेष राज्य राजा संसारचन्द के लिये छोड़ दिया था। राजा टोडरमल ने अपने स्वामी अकबर को विवरण देते हुए कहा था कि मांस-मांस मैंने ले लिया हैं और हड्डियां छोड़ दी हैं। उसका आशय यह था कि उपजाऊ क्षेत्र मैंने साम्राज्य के उपयोग के लिये ले लिये हैं और बंजर, अनुपयोगी पहाड़ी क्षेत्र छोड़ दिये हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि अकबर कांगड़ा के किले पर अधिकार न कर सका; परन्तु पहाड़ी राज्य मुगल-सत्ता के अधीन आ गये थे। मुगल सम्राट इन पहाड़ी राजाओं को पहाड़ी 'जिमींदार' कहते थे। राजा की उपाधि व्यक्तिगत सम्मान के लिये प्रदान की जाती थी। बीरबल टोडरमल आदि दरबारी मुगल सेना में मनसबदार थे, परन्तु व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के लिये उनको राजा की उपाधि प्रदान की हुई थी, मुगलों के बाद अंग्रेजों ने भी इस प्रथा को जारी

रखा। किसी क्षेत्र के शासक न होते हुये भी कई लोगों को अंग्रेजों ने राजा की उपाधि दी। अंग्रेजों ने राजा की उपाधि के अतिरिक्त अन्य उपाधियों का भी सृजन किया।

पहाड़ी राजाओं द्वारा विद्रोह और बन्धक प्रथा—

अकबर के शासन के आरम्भिक काल में ही पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के सभी राजाओं को मुगल सत्ता की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी थी, परन्तु ये राजा आसानी से इस पराधीनता को स्वीकार न कर सके। समय-समय पर इन राजाओं ने मिलकर अथवा व्यक्तिगत रूप से मुगल सत्ता के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। अकबरनामा के अनुसार अकबर के शासन के पैंतीसवें वर्ष, सन् १५९१-९२ में कांगड़ा के राजा विधिचन्द, मनकोट के राजा रामप्रताप, जम्मू के राजा परशराम, पैथान के राजा वासु, लखनपुर के राय बलभद्र आदि ने मिलकर विद्रोह किया। पंजाब के राज्यपाल जैनखान को अकबर ने इन 'पहाड़ी जिमींदारों' का दमन करने की आज्ञा दी। जैनखान ने इन सब राजाओं को परास्त किया। फौज की टुकड़ी जम्मू की ओर भेजी गई और मुख्य सेना जैनखान के सेना नायकत्व में व्यास घाटी की ओर गई। इस क्षेत्र के मण्डी, कुल्लू बिलासपुर और सुकेत समेत सभी राजाओं को दण्डित किया गया। जैनखान ने इन विद्रोही राजाओं को लेकर लाहौर की ओर कूच किया। इन सब की सेना मिलाकर एक लाख पैदल सेना थी और दस हजार घुड़सवार। उस समय अकबर ने लाहौर को साम्राज्य की राजधानी बना लिया था। काश्मीर और उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र की विजय के लिये अकबर सन् १६८५ से १६९५-९९ तक लाहौर में रहा। सम्राट ने इन सब विद्रोही राजाओं को क्षमादान दिया और राजभक्ति का वचन लेकर इनके राज्य और उपाधियां लौटा दीं। इस घटना के लगभग पांच वर्ष बाद पुनः इन पहाड़ी 'जिमींदारों' ने विद्रोह किया। इस विद्रोह का नेता जसरोटा का राजा था। अकबर ने मिर्जा रुस्तम कन्धारी और शेख फरीद के नेतृत्व में इन राजाओं को दबाने के लिये एक विशाल सेना भेजी। इस अभियान में जम्मू, जसरोटा, मनकोर, गुलेर, आदि राज्यों पर आक्रमण हुआ। कांगड़ा की रानी ने मुगल सेनापति को उपहार भेजा। शायद तब विधिचन्द जीवित नहीं था और उसका पुत्र त्रिलोकचन्द मुगल दरबार में बन्धक के रूप में रह रहा था। यह घटना सन् १५९८-९९ की है।

अकबर को पहाड़ी राजाओं को मुगल शक्ति के अधीन रखने के लिये तीन बार इनके विरुद्ध सैन्य अभियान करना पड़ा। ऐसा प्रतीत होता कि दूसरे अभियान के समय (१५९१-९२) से अकबर ने राजवंश के किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति को बन्धक रखने की प्रथा को चलाया था। इन राजाओं के द्वारा मुगल सत्ता के प्रति निष्ठा रखने का यह एक आसान उपाय था। जहांगीर के राज्यारोहण के समय मुगल दरबार में २२ बन्धक राजकुमार पश्चिमी पहाड़ी राजाओं के थे। राजाओं की निष्ठा और सद्व्यवहार की ग्रांटी के लिये ये बन्धक रखे जाते थे। इन राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा तत्कालीन मुगल परम्परा के अनुरूप दरबार में ही होती थी। वहां रहते हुये ये मुगल अदब और शिष्टाचार

में दीक्षित होते थे। कदाचित् ये बाइस राजकुमार, ग्यारह डूगर समुदाय के थे और ग्यारह त्रिगर्त समुदाय के थे। मुगल दरबार में इनकी उपाधि 'मियां' थी। पारवर्ती समय में पहाड़ी राज्यों में प्रथम राजकुमार को छोड़ कर अन्य राजकुमारों को मियां कहा जाता था। सम्भवत: इसका आरम्भ जहांगीर के समय में हुआ हो। उस युग के पहाड़ी राजा और उनके दरबारी भी मुगल वेष-भूषा को अपनाने में अपना गौरव समझते थे। कई अंग्रेज भी मुगलों के राज्यकाल में मुगल वेष में रहते थे।

जहांगीर के समय कांगड़ा विजय—

जहांगीर सन् १६०५ में गद्दी पर बैठा और उसके दस वर्ष बाद सन् १६१५ में उसने पंजाब के गवर्नर मुरतजाखां को कोट-कांगड़ा के किले को जीतने की आज्ञा दी। ३३ वर्ष पहले अकबर ने इस किले पर अधिकार करने का असफल प्रयत्न किया था। नूरपुर का राजा सूरजमल जो मुगल दरबार में एक प्रतिष्ठित मनसबदार था, दूसरे नम्बर का सेनापति मुरतजा खां की सहायता के लिले नियुक्त किया गया। राजा सूरजमल नहीं चाहता था कि कांगड़ा के किले पर मुगलों का अधिकार हो। मुगल सेना ने जब किले को घेरा तो नूरपुर का राजा इस अभियान में विघ्न डालने लगा। मुरतजा खां ने सम्राट् से राजा के विरुद्ध शिकायत की। परन्तु राजा सूरजमल का मुगल दरबार में बड़ा प्रभाव था, विशेषकर राजकुमार खुर्रम जो बाद में शाहजहां के नाम से मुगल सम्राट् बना, के साथ उसकी घनिष्ट मित्रता थी। राजा ने खुर्रम के द्वारा अपनी स्थिति स्पष्ट की और उलटे गवर्नर के विरुद्ध स्वार्थ-सिद्धि का अभियोग लगाया। राजा सूरजमल को दक्षिण की ओर सैन्य अभियान में भेजा गया। उधर अगले वर्ष सन् १६१६ में पठानकोट में मुरतजा खां की बीमारी से मृत्यु हो गई। कुछ दिन तक आमेर के राजा मानसिंह के सेनापतित्व में कांगड़ा के किले का घेरा चलता रहा। परन्तु उसी अवधि में राजा मानसिंह के अपने राज्य में अशान्ति और विद्रोह खड़ा हो गया। फलत: कांगड़ा का घेरा उठाना पड़ा। इस अभियान में किले को हस्तगत करने में सफलता नहीं मिली। सन् १६१८ में दक्षिण से वापिस आने पर राजा सूरजमल ने पुन: कोट-कांगड़ा की विजय का प्रस्ताव जहांगीर के सम्मुख रखा। कुमार खुर्रम के कहने पर राजा सूरजमल को एक बड़ी सेना देकर कांगड़ा की ओर कूच करने की आज्ञा दी गई। उसकी सहायता के लिए शाहकुली खां को उसके साथ भेजा गया। शाहकुली खां भी एक बड़ा मनसबदार था। परन्तु राजा सूरजमल नहीं चाहता था कि कोई निष्ठावान् मुगल मनसबदार उसके साथ रहे। राजा की इच्छा कोट कांगड़ा को जीतकर मुगलों के हवाले करने की कदापि नहीं थी। वह इस अभियान के बहाने इलाके को लूटना चाहता था। सूरजमल किसी प्रकार से शाहकुली खां से छुटकारा पाना चाहता था। उसकी शिकायत करके उसको वापिस बुला लिया गया। फिर मनमाने ढंग से राजा सूरजमल शिवालिक क्षेत्र के निचले भागों को लूटने लगा। उस समय जहांगीर अहमदाबाद में था। उसको जब राजा सूरजमल के कार्य कलापों का पता लगा तो उसने राजा विक्रमजीत नाम के मनसबदार को शाहजहां के सेना नायकत्व में पाठनकोट की ओर भेजा।

विक्रमजीत अत्यन्त निष्ठावान् मनसबदार था। उसी समय सूरजमल के भाई जगतसिंह को बंगाल से बुलाया गया। वह भी मुगल दरबार में ३०० घुड़सवार का मनसबदार था। जहांगीर ने उसका दर्जा बढ़ा कर उसको ५०० घुड़सवार और १००० सिपाही का मनसबदार बनाया। उसको राजा की उपधि प्रदान की। उपहार के रूप में २०,००० रुपये नकद, हीरों से जड़ी एक खड्ग, एक घोड़ा और एक हाथी जगतसिंह को दिया गया। और यह वचन दिया गया कि यदि वह निष्ठा के साथ मुगल सम्राज्य की सेवा करेगा तो उसको नूरपुर का राज्य भी दे दिया जाएगा। राजा विक्रमजीत पहले ही नगरकोट के किले का घेरा डाले हुये था। जगतसिंह के आने से राजा सूरजमल और भी हतोत्साह हुआ। विक्रमजीत के सम्मुख उसकी एक न चली। पहले वह नूरपुर में अपने किले में जाकर मुगल सेना का मुकाबला करता रहा; पर अन्त में उसको वहां से भी भागना पड़ा। उसने चम्बा के राजा के यहां शरण ली; परंतु वहां पहुंचते ही राजा सूरजमल की मृत्यु हो गई। इसके बाद जगतसिंह को विधिवत् नूरपुर का राजा घोषित किया गया।

सन् १६२० में राजा विक्रमजीत और जगतसिंह ने मिलकर नगरकोट के किले का घेरा डाला और चार मास तक यह घेरा चलता रहा। किले की चारों ओर से नाकेबन्दी कर दी गई, कहीं से भी किले में कोई सामान या आदमी अन्दर नहीं जा सकता थे। भीषण गोलाबारी किले पर की गई। चार मास तक यह क्रम चलता रहा। किले में अन्न का अभाव हो गया। पेड़ों की छाल को उबाल कर प्राण रक्षा की नौबत आ गई; परन्तु तब भी राजपूतों ने वीरता से किले की रक्षा की। पर ऐसी विकट स्थिति में विशाल मुगल सेना का मुकाबला अधिक दिन तक नहीं किया जा सकता था। विवश होकर किले के रक्षकों को आत्मसमर्पण करना पड़ा। १६ नवम्बर १६२० को किला मुगल सेना को सौंपा गया। शाहजादा खुर्रम मुगल सेना का अधिनायक था; और विक्रमजीत युद्ध का मुख्य संचालक। राजा त्रिलोकचन्द के पुत्र हरिचन्द ने किले को विक्रमजीत को समर्पित किया। अब्दुलअजीज खां नाकाशबन्दी को किले का फौजदार नियुक्त किया गया और मुगल सेना ने किले में प्रवेश किया। सन् १००९ से सन् १०४३ तक ३४ वर्ष तक पहली बार कटोच राजाओं के हाथ से निकल कर किला सुलतान महमूद गजनी के अधिकार में रहा। सन् १६२० में सदियों के बाद फिर एक बार नगरकोट का किला लगभग १६३ वर्षों के लिये कटोच वंश से छीना गया। राजा संसारचन्द को इस किले का अधिकार २६ वर्ष की अल्प अवधि के लिये सन् १७८३ से सन् १८०९ तक मिला। तत्पश्चात् यह महाराजा रणजीतसिंह के अधिकार में चला गया। ख्याति प्राप्त नगरकोट के किले से वंचित होकर कटोच शासकों ने व्यास के बांए किनारे पर स्थित निदौण में अपनी राजधानी बनाई। मुगलकाल में कटोच राजा नदौण में ही रहे। सन् १७६० के लगभग संसारचन्द के दादा घमण्डचन्द ने सुजानपुर टीरा में महलों का निर्माण किया और कालान्तर में यह स्थान कटोच शासकों का निवास स्थान बना। मुगल सेना द्वारा किले पर अधिकार करने के पश्चात्, विक्रमजीत राजा हरिचन्द

और उसके उच्च अधिकारियों को लेकर लाहौर गया जहां जहांगीर काश्मीर से वापिस पहुंचा था। विजय की खुशी में विजेताओं को उपहार दिये गये। विक्रमजीत को राजा की उपाधि से सम्मानित किया गया। इसी प्रकार नूरपुर के राजा जगतसिंह को भी सम्मानित किया गया। राजा हरिचन्द तब केवल १२ वर्ष का था। उसको क्षमा-दान के साथ कांगड़े का राज्य वापिस दिया गया; अकबर के समय कांगड़े के सन्धान क्षेत्र में ६६ गांवों की जो मुगल कारदारी बनाई गई थी, वही कदाचित् किले के प्रबन्ध के लिये फौजदार के अधीन रही। कोट-कांगड़ा के मुगल किलेदार का दर्जा नवाब के स्तर का रखा गया।

जहांगीर कोट-कांगड़ा में—

कोट-कांगड़ा की विजय को जहांगीर अपनी एक विशेष गौरवमयी सफलता मानता था; अकबर जिस सफलता को न प्राप्त कर सका, वह जहांगीर ने प्राप्त की। उससे पहले किसी सम्राट् या सुल्तान ने इस पर अधिकार नहीं किया था। उससे ६०० वर्ष पूर्व गजनी ने किले को लूटा ही था; स्थायी अधिकार का ध्येय उसके मन में नहीं था। अतः कोट-कांगड़ा को स्वयं देखने की उसकी प्रबल इच्छा थी। सन् १६२२ में वह नूरजहां और कुछ मुल्लाओं एवं मुख्य काजी के साथ सीबा और हरिपुर गुलेर के मार्ग से कांगड़ा पहुंचा। वैसे जहांगीर ने अकबर की उदार और सहिष्णु नीति का ही अपने शासककाल में अनुसरण किया, परन्तु इस अवसर पर उसने हिन्दू-भावनाओं के सम्मान का परित्याग किया, यह सम्भवतः संकीर्ण मुल्लाओं के प्रभाव में किया हो। किले में उत्सव मनाते हुये, एक बछड़े को काटा गया और वहां एक मस्जिद के निर्माण का भी आदेश किया गया। पहली बार गौ-हत्या इस किले में की गई। सम्राट् के नाम पर कुतबा पढ़ा गया। ऐसा भी उल्लेख आता है कि इस स्थान के सौंदर्य से सम्राट् इतना आकृष्ट हुआ कि उसने वहां ग्रीष्म काल के वास के लिये महल बनाने की आज्ञा दी। कहा जाता है कि कांगड़े के निकट गरगरी गांव में आयोजितप्रासाद की नींव भी रखी गई, परन्तु काश्मीर की सुषमा के आकर्षण के कारण यह विचार छोड़ दिया गया। कांगड़ा आगमन के समय इस क्षेत्र के राजा दस्तूर के अनुसार सम्राट् को भेंट चढ़ाने दरबार में आये। उनमें से चम्बा के राजा जनार्दन और उसके भाई विश्वम्भर का विशेष उल्लेख आया है। जहांगीर नूरपुर के मार्ग से वापिस गया था। उस समय नूरपुर का नाम निश्चय ही धमेरी था और पैथान नाम से यह राज्य जाना जाता था। इस राज्य की मुगल दरबार की दो कारणों से विशेष जानकारी थी; पहला पैथान शासकों को मुगल दरबार में अकबर के समय से ही बड़ी मनसबदारी प्राप्त हुई थी और दूसरा मुगल सत्ता के विरुद्ध इन शासकों ने समय-समय पर विद्रोह किया। बैरमखान ने पैथान राजा भक्तमल का, सिकन्दरसूर का साथ देने के कारण शिरोच्छेदन किया था। यह नृशंस कार्य सन् १५५६ में लाहौर में हुआ था। भक्तमल के बाद तख्तमल पैथान शासक हुआ। उसने पठानकोट से हटकर धमेरी में अपनी राजधानी बनाई, वहां

महल और किले का निर्माण किया। इस निर्माण-कार्य को सम्पन्न करने का सौभाग्य उसके पुत्र वासु को प्राप्त हुआ। राजा वासु को अकबर के समय १५०० घुड़सवारों का मनसब का दर्जा था। जहांगीर ने उसको बढ़ाकर ३५०० घुड़सवार कर दिया। सन् १६११ में राजा वासु मुगल सेना का नायक बनकर मेवाड़ के राणा के विरुद्ध सैन्य अभियान में गया और वहीं सन् १६१३ में उसकी मृत्यु हुई। जहांगीर के आगमन के समय वासु का छोटा पुत्र जगतसिंह धमेरी का शासक था जिसने कोट-कांगड़ा की विजय में मुगलों का साथ दिया था। जहांगीर के आगमन के हर्षोल्लास में धमेरी का नाम नूरपुर रखा गया। जहांगीर का पूरा नाम नुरुद्दीन जहांगीर था। नुरुद्दीन के नाम पर धमेरी का नाम नूरपुर हुआ। यह भी प्रसिद्ध है कि नूरजहां इस स्थान के सौन्दर्य से इतनी आकृष्ट हुई कि उसने वहां भी अपने लिये एक महल बनवाने की इच्छा प्रकट की। सम्राट् ने शाही खजाने से इसके लिये धन-राशि भी स्वीकृत की थी। परन्तु राजा जगतसिंह को यह बात कहां पसन्द हो सकती थी? निर्माण-कार्य आरम्भ हुआ। एक दिन नूरजहां इस कार्य को देखने गई तो वहां काम करने वाले मजदूरों और मिस्त्रियों में अधिकांश के गले में लटके गिलड़ थे। नूरजहां के पूछने पर कि इन लोगों की ऐसी अवस्था क्यों है, राजा जगतसिंह ने बताया कि इस स्थान का पानी ऐसा दोषपूर्ण है कि लोगों को यह गले का रोग हो जाता है। जगतसिंह की चालाकी काम कर गई; नूरजहां ने वहां महल बनाने का विचार छोड़ दिया और जहांगीर ने लाहौर को प्रस्थान किया।

मुग़लों और पहाड़ी राजाओं का आपसी सम्बन्ध—

मुग़ल साम्राज्य के अन्तर्गत सैकड़ों छोटे-बड़े राज्य थे। राज्यों की विजय के बाद उनको मुगल-सत्ता की अधीनता स्वीकार करनी पड़ती थी। पराजित राज्यों का वंश नाश करना मुगल-नीति नहीं थी। अधीनता की स्वीकृति के फलस्वरूप मुगल सम्राट् को नजराना पेश करना पड़ता था। यह नजराना वार्षिक देना पड़ता था। इसको 'पेश कश' कहते थे। नये राजा के राज्यारोहण पर मुगल दरबार की स्वीकृति प्राप्त की जाती थी। सम्राट् को नजराना देना पड़ता था और मुगल दरबार की ओर से 'खिल्लत' उपहार नये शासक को प्रदान की जाती थी। 'खिल्लत' में राजसी वस्त्र, तलवार, खड्ग, घोड़े, हाथी आदि राजा की हैसियत के अनुसार उपहार में मिलते थे और इनके साथ लिखित शाही फरमान के द्वारा राजा के राज्याधिकार का अनुमोदन होता था। अकबर और जहांगीर राजाओं के राज्याभिषेक के अवसर पर उनके द्वारा अपने मस्तक पर टीका भी लगवाते थे। यह बड़े-बड़े राजपूत राजाओं को उत्तराधिकार देने के अवसर पर सम्भव था। शाहजहाँ ने टीका ग्रहण करने का काम अपने मंत्रियों को सौंपा। मुगल सत्ता की अधीनता स्वीकार करने पर राजाओं का अपने शासक को स्वतन्त्र रूप से चलाने का पूरा अधिकार था। मुगल दरबार उनकी आन्तरिक व्यवस्था में बिल्कुल हस्तक्षेप नहीं करता था। हिमालय क्षेत्र के पहाड़ी राज्यों की भी यही स्थिति थी। मुगल दरबार इन राजाओं के आपसी झगड़ों में भी हस्तक्षेप नहीं करता था। बाहु-बल से वे

आपस में इन झगड़ों का निपटारा स्वयं करते थे। नूरपुर के राजा जगतसिंह ने चम्बा, बसोली, सुकेत और मण्डी को जीतने के लिये इन पर आक्रमण किये और इसके लिये उसने पंजाब के मुगल गवर्नर से सहायता प्राप्त की। ये राजा आपस में युद्ध और सन्धि करने में स्वतंत्र थे। जहांगीर के समय से पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के राज्य नगरकोट के फौजदार के अधीन समझे जाते थे। उसका काम इन राजाओं से वार्षिक कर वसूल करना था। शाहजहां के समय में यह कर चार लाख रुपया था। इसमें कांगड़ा समुदाय के ग्यारह पहाड़ी राज्य थे। शिमला क्षेत्र के छोटे-छोटे राज्यों की स्थिति के बारे में कोई विशेष जानकारी नहीं है। अकबर के समय में पश्चिमी क्षेत्र के राजाओं ने कई बार मुगल-सत्ता को चुनौती दी, यह मुगल साम्राज्य की अधीनता का आरम्भिक युग था, परन्तु जहांगीर और शाहजहां के समय विद्रोह की स्थिति समाप्त हो गई और मुगल दरबार और इन राजाओं के बीच मैत्रीपूर्ण मधुर संबंध रहे। अकबर के द्वारा ज्वालामुखी के मन्दिर को सोने के छत्र का दान एक ऐतिहासिक तथ्य है। इसकी स्मृति लोक परम्परा में अभी तक जीवित है। सम्भवतः देवी को छत्र चढ़ाने का उदार काम उस अवधि में हुआ जब अकबर सन् १६८५ से लगभग पन्द्रह वर्ष तक लाहौर में रहा। उस समय अकबर की धार्मिक सहिष्णु नीति अपने चरमोत्कर्ष पर थी। इसाइयों को लाहौर और कोटा में गिर्जाघर बनाने की स्वीकृति भी इसी समय दी गई थी। सन् १६८२ में सम्राट् ने दीने-इलाही धर्म का प्रतिपादन किया था। दीने-इलाही मत में सभी धर्मों के प्रति समभाव की भावना थी और हिन्दू, जैन मुसलमान पारसी धर्मों के मुख्य तत्वों का इसमें समावेश व समन्वय था। जहांगीर के राज्य-काल में भी यह उदार और सहिष्णु धार्मिक नीति स्थिर रही। शाहजहां के समय से इसमें कठोरता उगने लगी और औरंगजेब के समय में सर्वथा समाप्त हो गई।

औरंगजेब और उसके बाद पहाड़ी राज्यों की स्थिति—

औरंगजेब के अन्तिम दिन दक्षिण की विजय में बीते। वर्षों तक उसका स्कंधावार औरंगाबाद में रहा और वहीं से साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तों को फरमान जाते थे। पंजाब और पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के पहाड़ी राज्यों पर साम्राज्य का नियन्त्रण ढीला हो रहा था और इन शासकों को यह स्पष्ट हो रहा था कि मुगल-सत्ता ह्रासोन्मुख हो रही है। उसी अवधि में औरंगजेब ने चम्बा, कांगड़ा आदि राजाओं को मन्दिर गिराने के फरमान भेजे। चम्बा का राजा उस समय छत्रसिंह था। उसने इसके विरोध में चम्बा के मन्दिरों को स्वर्ण कलश चढ़ाये। उसी प्रकार कांगड़े के राजा ने भी शाही आज्ञा का उल्लंघन किया जिसके फलस्वरूप उसको कैद करके दिल्ली ले जाया गया। दूसरी ओर कुछ वर्षों से इस क्षेत्र के राजाओं ने वार्षिक पेशकश, नज़राना नहीं दिया था। पहाड़ी राजा ऐसी स्थिति में मुगल-सत्ता के विरोध में संगठित थे। गुरू गोविन्दसिंह भी इस संगठन में सम्मिलित हो गये। औरंगजेब ने अपने सेनाध्यक्ष अलिफ खां के अधीन फौज कांगड़ा के राजा कृपालचन्द, जसवाल के राजा केसरीचन्द, डडवाल के पृथ्वीचन्द,

जसरोटा के राजा सुखदेव चन्द आदि के विरुद्ध भेजी। इन राजाओं की संगठित सेना के साथ मुगल सेना का मुकाबला नदौण के स्थान पर हुआ। गुरु गोविन्दसिंह उनके अनुयायियों में भी इस युद्ध में राजाओं का साथ दिया। मुगल सेना इसमें पराजित हुई। फलतः पहाड़ी राजा मुगल-सत्ता से लगभग मुक्त हुये। सन् १७०७ में औरंगजेब की मृत्यु हुई और अगले चालीस वर्षों में मुगल साम्राज्य लगभग छिन्न-भिन्न हो गया। दिल्ली की सत्ता का उत्तराधिकार प्राप्त करने के लिये उत्तर-पश्चिम की ओर से अहमदशाह दुरानी निरन्तर आक्रमण करता रहा और सन् १७५२ में उसने पंजाब पर विधिवत् अधिकार कर लिया और पश्चिमी क्षेत्र के सभी पहाड़ी राज्य भी अफगान साम्राज्य के अन्तर्गत आ गये। अहमदशाह दुरानी ने संसारचन्द के दादा घमण्डचन्द को जालन्धर द्वाब और कांगड़ा क्षेत्र के रावी और सतलुज के बीच के पहाड़ी राज्यों का उपराज्यपाल नियुक्त किया। राजा घमण्डचन्द ने कटोच वंश की खोई हुई कीर्ति को पुनर्जीवित करने का भरसक प्रयास किया, परन्तु इसमें पूरी सफलता उसके पौत्र राजा संसारचन्द को अठारहवीं सदी के अन्तिम चरण में मिली।

६. पश्चिमी हिमालय के प्रमुख राज्यों का संक्षिप्त परिचय

कुल्लू—

वीर्यस राजा का एक सिक्का कुल्लू में मिला। इस सिक्के का इतना ही महत्व है कि ईसा की पहली और दूसरी शताब्दी में इस राज्य का अस्तित्व था और वीर्यस इसका शासक था। इससे अधिक और कोई सूचना इससे नहीं मिलती है। कुल्लू के सम्बन्ध में दूसरा महत्वपूर्ण उल्लेख पांचवीं सदी के विशाखदत्त कृत नाटक मुद्रा राक्षस में आता है। इस नाटक का आख्यान चाणक्य से सम्बद्ध तत्कालीन राजनैतिक उथल-पुथल से है। कुल्लू के राजा चित्र वर्मा द्वारा पाटलिपुत्र में होने वाले संघर्ष में भाग लेने का उल्लेख है। चित्रवर्मा निःसन्देह एक काल्पनिक पात्र है; परन्तु पांचवीं सदी में ख्याति प्राप्त राज्य था और इसका नाटक की घटनाओं से सम्बद्ध होना इसकी प्राचीनता का सूचक है। सातवीं सदी के पूर्वार्द्ध में चीनी यात्री ह्वीवानसांग हर्ष राज्य-काल में भारत में आया। वह त्रिगर्त होता हुआ कुल्लू गया। उसने अपने यात्रा विवरण में कुल्लू का उल्लेख किया है। उसके अनुसार कुलूत में महादान बौद्ध सम्प्रदाय प्रचलित था। यहां वीस संघारामों में एक हजार भिक्षु रहते थे। अन्य देवताओं के भी मन्दिर थे। इसके अतिरिक्त पहाड़ी गुफाओं में भी ऋषि और अर्हंत व योगी रहते थे। ह्वीवानसांग के अनुसार बुद्ध धर्म-प्रचारार्थ कुल्लू आये थे; पर चीनी यात्री की यह बात सन्देहास्पद प्रतीत होती है। बुद्ध का धर्म प्रचार क्षेत्र मुख्यत: मगध, अयोध्या, कौशाम्बी आदि रहे। पश्चिमी दिशा की ओर वे कदाचित् मथुरा क्षेत्र तक आये हों। सारे बौद्ध तीर्थ मगध और नैपाल तराई क्षेत्र में हैं जहां उनकी जन्म से परिनिर्वाण तक की जीवन लीलाएं सम्पन्न हुईं। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि चीनी यात्री का साक्ष्य कि कुल्लू में बौद्ध धर्म था, सत्य है। आज भी इस क्षेत्र में किसी न किसी रूप में बौद्ध अवशेष पाये जाते हैं।

पाल और सिंह

कैप्टन हरकोर्ट के अनुसार कुल्लू के राजवंश की स्थापना लगभग ईसा की पहली सदी में हुई प्रतीत होती है। इस वंश में ८८ राजा हुये। इनमें से ७३ राजाओं के नाम के साथ पाल शब्द आया है जैसे विशुद्ध पाल, सिद्ध पाल आदि। पन्द्रहवीं सदी से पाल के स्थान को सिंह शब्द ने ले लिया। अन्य पहाड़ी राज्यों में भी ऐसा ही परिवर्तन हुआ। राजाओं का नामान्त सिंह शब्द से हुआ। यदि एक राजा के राज्य-काल की औसद अवधि २० वर्ष मान ली जाय जैसी कि हाइकोर्ट ने गणना की है तो कुल्लू के राजवंश ने

१७६० वर्ष तक राज किया। सन् १८३९ में सिख दरबार ने राज-सत्ता इस वंश के राजाओं के हाथ से छीन ली। इसके वंशधर तत्पश्चात् जागीरदार के रूप में रहे। इस वंश की मूल राजधानी नस्त या जगत सुख में थी। बारह पीढ़ियों तक यहीं राजधानी रही। इसके पश्चात् नगर को स्थानान्तरित हो गई। यह स्थान कुल्लू और मनाली के बीच व्यास के बायें किनारे पर है। आधुनिक समय में यह स्थान इसलिये प्रसिद्ध हुआ कि ख्याति प्राप्त रूसी कलाकार और विचारक रोरिक ने नगर को अपना कला-केन्द्र बनाया। राजा जगतसिंह ने सन् १६६० में सुल्तानपुर को अपनी राजधानी बनाया, अब यह स्थान मुख्यतः कुल्लू नाम से जाना जाता है। पुराने इतिहास का ज्ञान अधिकतर धूमिल है। जैसा कि पुरातन युग में सर्वत्र छोटे-छोटे राज्य या ठकुराइयां थी, यहां भी कुल्लू राज्य के अन्तर्गत दर्जनों सामान्त या ठाकुर थे। अपने-अपने इलाके पर वे ही राज करते थे; परन्तु उन्हें कुल्लू राजवंश के अधीन रहना पड़ता था, उसके आदेश पर विजय अभियान पर जाना पड़ता था। उस युग में कुल्लू एक विस्तृत राज्य था। ग्यारहवीं सदी से पहले मण्डी, सुकेत आदि राज्यों का कहीं अस्तित्व ही नहीं था। तब ये सभी क्षेत्र कुल्लू राज्य के अन्तर्गत थे। बुशैहर राज्य भी तब सम्भवतः बांगतू से ऊपर कनौर तक ही सीमित था। उससे नीचे सतलुज घाटी कुल्लू राज्य में थी। ह्वीनसांग ने कुल्लू राज्य की परिधि सीमा ३००० ली याने ५०० मील मानी है। इन सभी क्षेत्र को मिलाकर ही इतनी विशाल सीमा हो सकती हो।

कुल्लू और लद्दाख के सम्बन्ध—

लद्दाख के ऐतिहासिक वृतान्त ग्यालरब से ज्ञात होता है कि लद्दाख के राजा ला-छेन-उत्तपाल (११२५-११५०) ने कुल्लू पर आक्रमण किया और कुल्लू के राजा को वार्षिक कर के रूप लोहा और सूरा मादा (जो) देने के लिये प्रतिबन्धित किया था। उस सन्धि के अनुसार—"जब तक कैलाश पर हिम और मानसरोवर में पानी है तब तक कुल्लू को यह वार्षिक कर देना होगा।" इससे पता चलता है कि बहुत प्राचीन काल में भी लाहौल कुल्लू के अधीन था। अन्यथा सुरा मादा कहां से उपलब्ध हो सकता था? कुल्लू तब से लेकर सतारहवीं सदी के अन्तिम चरण तक लद्दाख को यह कर सम्भवतः देता रहा। सतारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पांचवें दलाईलामा नावांग लौबजंग ग्यात्सो (१६१७-८२) के समय तिब्बत सदियों के पराभव और पतन के बाद एक प्रबल राज-नैतिक सत्ता के रूप में उभर आया। कमलक मंगोलों की सहायता से पंचम दलाईलामा ने समस्त तिब्बत को संगठित किया। पश्चिमी तिब्बत के नारी क्षेत्र को जीतने के बाद मंगोलों ने लद्दाख पर भी आक्रमण किया। लद्दाख का राजा भाग कर श्रीनगर में मुगल फौजदार की शरण में गया। तब औरंगजेब का राज्य-काल था। लद्दाख के बौद्ध राजा को इस आधार पर सैन्य सहायता देनी औरंगजेब ने स्वीकार की कि—राजा मुस्लिम धर्म को स्वीकार करें और लेह में मस्जिद का निर्माण कराये। राजा ने दोनों शर्तें मान लीं, परन्तु औरंगजेब के मरने के बाद लद्दाख का राजा पुनः बौद्ध धर्म में दीक्षित हो

गया। मुगलों ने तिब्बती आक्रान्ताओं को तो भगा दिया, परन्तु लद्दाख की शक्ति सर्वथा क्षीण हो गई। मुगलों ने यह शर्त लद्दाख पर लादी कि आगे से तिब्बत, लद्दाख और अन्यत्र से आने वाली सारी पशम काश्मीर के मार्ग से बाहर जाया करेगी। पहले यह पशम बारालाचा के मार्ग से कुल्लू और बुशैहर भी आती थी। लद्दाख की स्थिति से लाभ उठाकर कुल्लू ने भी सारे लाहौल को अपने अधिकार में ले लिया और बहुत प्राचीन काल से 'जो' और लोहे के रूप में कर देना भी समाप्त कर दिया। यह घटना सन् १६८२ के लगभग की है। उस समय कुल्लू का शासक राजा विधिसिंह था।

रघुनाथ जी का आगमन—

सतारहवीं सदी में ही राजा जगतसिंह के राज्य काल में श्री रघुनाथ जी का कुल्लू में आगमन हुआ। कुल्लू की गद्दी श्री रघुनाथ को समर्पित की गई और राजा रघुनाथ जी की ओर से प्रतिनिधि के रूप में कुल्लू राज्य का शासक हुआ। संक्षेप से घटना इस प्रकार की है : कुल्लू राज्य के अन्तर्गत पारवर्ती घाटी में एक ब्राह्मण रहता था। उसके पास मूल्यवान रत्न, हीरे, मणि-माणिका थे। राजा लोभी था। वह इनको हस्तगत करना चाहता था, परन्तु ब्राह्मण आसानी से देने वाला नहीं था। एक बार मणि कर्ण की यात्रा पर जाते हुये राजा ने ये रत्न मांगे। ब्राह्मण ने वापिस आने पर देने का वचन दिया, परन्तु जब राजा वापिस पहुंचा तो ब्राह्मण सपरिवार अपने मकान में आत्म-दाह करके मर चुका था। राजा पर ब्रह्म हत्या का पाप लग गया। इसका प्रायश्चित करने के लिये राजा बहुत आतुर था, पर ब्रह्म हत्या का कोई सरल प्रायश्चित तो शास्त्रों में है ही नहीं। अन्त में किसी पण्डित ने समस्त राज्य का दान श्री रघुनाथ जी को देने का सुझाव दिया। फलतः अयोध्या से रघुनाथजी की मूर्ति लाई गई और विधिवत् राज्य का दान श्री रघुनाथ जी को कर दिया गया। दशहरे के अवसर पर केवल लोग ही नहीं वरन् कुल्लू क्षेत्र के समस्त देवी-देवता अपनी पालकियों में रघुनाथ जी के दर्शनार्थ प्रति वर्ष कुल्लू में आते हैं और इस उत्सव में सम्मिलित होते हैं। उस युग में शासक किसी को धनपति नहीं देखना चाहते थे। युग-धर्म की परम्परा के अनुसार वे प्रायः ऐसा अपहरण किया करते थे।

नेपालियों का पश्चिमी हिमालय क्षेत्र पर आक्रमण—

सन् १८०५ में नैपाल ने पश्चिमी हिमालय क्षेत्र पर आक्रमण किया और वे कांगड़ा तक पहुंच गये। कुमाऊं और गढ़वाल पर वे पहले ही अधिकार कर चुके थे। चार वर्ष तक गोरखाओं ने कांगड़ा के किले को घेरे रखा। महाराजा रणजीतसिंह की सहायता से कांगड़ा के राजा संसारचन्द ने गोरखाओं को कांगड़ा से भगाया और कांगड़े का किला और त्रिगर्त समुदाय के ग्यारह राज्य जिनमें कुल्लू, मण्डी, चम्बा, सुकेत आदि सभी राज्य थे लाहौर दरबार के अधीन हो गये। सतलुज नदी महाराज रणजीतसिंह और नैपाल द्वारा विजित शिमला क्षेत्र के राज्यों की सीमा निश्चित हुई। सतलुज के बायें किनारे पर सांगरी नाम का एक छोटा क्षेत्र है। यह कुल्लू राज्य का इलाका था।

इस प्रकार सतलुज कुल्लू राज्य को दो भागों में बांटती थी—अधिकांश क्षेत्र दाहिनी ओर था और एक छोटा भाग बाईं ओर। सांगरी गोरखा राज्य सीमा में आता था और शेष कुल्लू क्षेत्र रणजीतसिंह की राज्य-सीमा के अन्तर्गत। अतः कुल्लू को गोरखा और रणजीतसिंह दोनों को नजराना देना पड़ता था। सन् १८१५ में अंग्रेजों और गोरखाओं के मध्य युद्ध में कुल्लू ने अंग्रेजों की कोटगढ़ क्षेत्र से नैपालियों को निष्कासित करने में कुछ सहायता की। नारकण्डा के निकट हाटू नामक ऊंचे पहाड़ की धार पर गोरखाओं के किले थे। वहीं से वे इस इलाके पर नियन्त्रण करते थे। बुशैहर और कुल्लू की सेनाओं ने मिलकर गोरखा फौजदार कीर्तिराणा को यहां से भगाया था। कीर्तिराणा की पराजय के बाद सारा बुशैहर राज्य, कुमारसेन, सांगरी कोटगढ़ आदि क्षेत्र गोरखा-शासन से मुक्त हुये थे। यह काम कुल्लू और बुशैहर की सेनाओं के संयुक्त प्रयास से सफल हुआ। अंग्रेजों ने इस सहायता के लिये सम्भवतः कुल्लू को पांच हजार रुपये का पुरस्कार या भेंट दी थी। जब महाराजा रणजीतसिंह को पता लगा तो उसने कुल्लू पर पचास हजार रुपये का जुर्माना किया। इस बात का उल्लेख अंग्रेज यात्री विव्यूर क्रॉफ्ट ने भी किया है। कुल्लू पर आरोप लगाया गया कि उसने इस युद्ध में हस्तक्षेप किया। सन् १८१५ की नैपाल और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के मध्य की लड़ाई में रणजीतसिंह सर्वथा तटस्थ था। परन्तु कुल्लू की स्थिति भिन्न थी। उसके सांगरी क्षेत्र पर गोरखाओं का अधिकार था। युद्ध के उपरान्त भी तो कुल्लू को दो शक्तियों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी—सांगरी के लिये अंग्रेजों की और शेष राज्य के लिये लाहौर दरबार की। यही स्थिति बिलासपुर की भी थी। सतलुज उस राज्य को भी दो भागों में बांटती थी। बिलासपुर के शासकों को भी सन् १८४६ तक दोनों शक्तियों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी थी। सतलुज पार के क्षेत्र के लिये लाहौर दरबार की और वार क्षेत्र के लिये अंग्रेजों की।

शाहसूजा कुल्लू में—

काबुल का अमीर शाहसूजा अपदस्थ होकर कुछ दिन रणजीतसिंह के अतिथि या कैदी के रूप में मुल्तान के किले में रहा। इसी अवधि में शाहसूजा से रणजीतसिंह ने कोहेनूर हीरे को हस्तगत किया था। मुल्तान से भागकर वह काश्मीर के किश्तवाड़ क्षेत्र की ओर गया। दो वर्ष बाद वहां से भी उसको भागना पड़ा। वह जांस्कर, बारालाचा और रोहतांग के विकट मार्ग से कुल्लू पहुंचा। अंग्रेजों के आग्रह पर कदाचित् कुल्लू के राजा अजीतसिंह ने उसकी लुधियाना जाने में कुछ सहायता की हो। वह निःसन्देह कुल्लू से वनजार होता हुआ बुशैहर के मार्ग से लुधियाना पहुंचा होगा। महाराजा रणजीतसिंह ने रुष्ट होकर कुल्लू के राजा पर शाहसूजा को भागने में सहायता देने के लिये अस्सी हजार रुपये जुर्माना किया। यह घटना सन् १८१६-१७ की है।

कुल्लू राज्य का अन्त—

सन् १८०९ में गोरखाओं को कांगड़ा से निष्कासित करने के पश्चात्, कांगड़ा समुदाय के सभी राज्य जिनमें कुल्लू राज्य भी सम्मिलित था, रणजीतसिंह के अधीन हो

गये। महाराजा रणजीतसिंह के जीवन काल में ही कांगड़ा, मण्डी, सुकेत, चम्बा और कुल्लू को छोड़कर, इस क्षेत्र के अन्य सभी छोटे-छोटे राज्य सिख-राज्य में मिला लिये गये और उनके राजाओं को जागीर देकर पदच्युत कर दिया गया था। इनमें नूरपुर, हरिपुर गुलेर, जसवां, कुटलैहड़ आदि मुख्य राज्य थे। शेष राज्यों को लाहौर दरबार को वार्षिक कर देना पड़ता था। सिख सेना-नायक प्रायः कर वसूल करने के बहाने इन क्षेत्रों में आते और अतुल धन-राशि ऐंठते थे। सन् १८१० में सिख सेना की एक टुकड़ी कुल्लू उपत्यका में प्रविष्ट हुई और राजा से ४०,००० रुपये नजराने के वसूल किये। इसके तीन वर्ष बाद फिर नजराने की मांग की गई। नजराना न मिलने पर सरदार मोकमचन्द के नेतृत्व में सिख सेना ने कुल्लू को लूटा और नजराना वसूल किया। सन् १८३९ में सिधावाला सरदारों ने सेना के साथ कुल्लू घाटी में प्रवेश किया। तब राजा रणजीतसिंह कुल्लू का शासक था। राजा को सिख-शिविर में बुलाकर कैद कर लिया गया और जागीर के बदले राज्य को सिख दरबार को समर्पित करने को कहा। विवश परिस्थितियों में राजा को यह मांग स्वीकार करनी पड़ी। फलतः राजा को पारवर्ती घाटी में रूपी वजीरी की जागीर दी गई। तत्पश्चात् राजा को साथ लेकर सिख सेना सतलुज और व्यास नदियों के बीच के क्षेत्र सिराज की ओर गई। उस क्षेत्र में कई किले थे जिनको राजा की सहायता से सिख सेना ने अपने अधिकार में लेना था। सिखों ने बिना किसी बाधा के आउटर सिराज पर अधिकार कर लिया और कुछ दिनों के बाद जब वे वापिस आ रहे थे तो बशलेऊ की घाटी के नीचे जब वे एक लम्बी पंक्ति में तंग मार्ग से गुजर रहे थे, तब वहां पेड़ों की ओट में पहाड़ के ऊपर की ओर सिराज-वासी घात लगाकर छिपे थे। सिख सेना लगभग एक हजार थी। जब सिख सेना का वह भाग वहां पहुंचा जिसमें राजा अजीतसिंह भी चल रहा था, तो सिराजियों ने उन पर आक्रमण कर दिया। राजा को पकड़ कर ऊपर की ओर अपने पास ले गये और पत्थरों से सिख-सेना को मारने लगे। सिखों में भगदड़ मच गई। गोली और पत्थरों से सिराजियों ने कई सिपाहियों को मौत के घाट उतारा। सिख सेना ने पास के एक किले में जाकर अपने प्राण बचाये। पर वहां पानी और खाद्य-सामग्री के अभाव में वे दो दिन से अधिक न टिक सके। पहाड़ की उतराई में जब यह सेना चल रही थी तो सिराजियों ने फिर उन पर पत्थरों को गिरा और फेंककर ऊपर की ओर से हमला किया। भागते हुये वे एक ऐसे स्थान पर पहुंच गये जहां से उन्हें रास्ता मिलना कठिन हो गया। इस क्षेत्र से वे सर्वथा अपरिचित थे। कहते हैं कि चार-पांच चमारों को ब्राह्मणों के वेष में सिखों के पास भेजा गया जिन्होंने गाय की पूंछ हाथ में लेकर सिखों को आश्वासन दिया कि यदि वे हथियार डाल दें तो उन्हें सुरक्षित वापिस जाने दिया जावेगा। पर यह सब धोखा था। सिख सेना ने हथियार डाल दिये—निःशस्त्र हो गये, पर विश्वासघात करके सिराजियों ने उन पर आक्रमण किया और लगभग सबको मौत के घाट उतारा।

राजा अजीतसिंह भाग कर सतलुज के पार सांगरी चला गया। यह क्षेत्र अंग्रेजों के राज्य के अन्तर्गत था। कुल्लू में स्थित सिख सेना को जब इस विनाश का पता लगा

तो वे पुनः सिराज की ओर गये। प्रतिशोध में उन्होंने सिराजियों के कई गांव जला डाले। यह क्षेत्र मण्डी के राजा को ३२००० रुपये वार्षिक ठेके पर दे दिया और शेष कुल्लू क्षेत्र सिख राज्य में सम्मिलित कर दिया गया। सन् १८४६ में जब लाहौर दरबार की अंग्रेजों के साथ प्रथम युद्ध में पराजय हुई तो रावी और सतलुज के बीच का सारा पहाड़ी क्षेत्र अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया। सिख दरबार ने इस क्षेत्र के जिन राजाओं को पदच्युत करके जागीरें दीं थीं, उनकी स्थिति अंग्रेजी राज्य में भी वैसी ही रखी गई, प्रयत्न करने पर भी उनको राज्य वापिस नहीं दिये गये। कुल्लू की सदियों पुरानी राज-सत्ता जो सन् १८३९ में समाप्त हो गई थी, वह अंग्रेजों के राज्य में भी पुन-जीवित न हो सकी।

नूरपुर राज्य—

नूरपुर के राजाओं का कुछ परिचय पिछले परिच्छेदों में दिया गया है। यह परिचय मुख्यतः मुगल काल से ही मिलता है। जहांगीर के शासन काल में नूरपुर का राजा जगतसिंह मुगल दरबार में एक प्रतिष्ठित मनसबदार था। सन् १६२० में कोट-कांगड़ा की विजय के समय जगतसिंह ने मुगल सेनापति विक्रमजीत का साथ दिया था। उससे पहले जगतसिंह बंगाल में किसी बड़े पद पर था और उस समय नूरपुर का राजा सूरजमल था। सूरजमल ने कांगड़ा के किले को जीतने में विघ्नबाधा उत्पन्न की थी। फलतः उसको विद्रोही माना गया और उसने चम्बा राज्य में शरण ली जहां उसकी बीमारी से मृत्यु हुई। उस समय मुगल सम्राट् ने विशेष रूप से जगतसिंह को बंगाल से बुलाया और नाना प्रकार के सम्मान से अलंकृत करके उसको नूरपुर का राजा घोषित किया। सन् १६२२ में जहांगीर नूरपुर आया था और उसके अगले वर्ष जगतसिंह ने चम्बा पर आक्रमण किया। डलहौजी के निकट चम्बा की सेना ने जगतसिंह का मुकाबला किया, परन्तु चम्बा की पराजय हुई और राजा का छोटा भाई इस लड़ाई में मारा गया। नूरपुर ने चम्बा पर अधिकार किया, तत्कालीन राजा जनार्दन भाग गया। कहते हैं कि सन्धि की शर्तों पर विचार विनमय करने के लिये उसको महल में बुलाया गया। जब बात-चीत हो रही थी तो जगतसिंह ने कटार जनार्दन के वक्षःस्थल में भोंक दी और वहीं पर उसका प्राणान्त कर दिया। उसके बाद चम्बा सन् १६४३ तक नूरपुर के अधीन रहा। नूरपुर के अधिकारी चम्बा की शासन-व्यवस्था को इस अवधि में चलाते रहे। जगतसिंह को मुगल दरबार का संरक्षण प्राप्त था,यहां तक कि चम्बा-विजय के समय पंजाब के फौजदार ने मुगल-सेना जगतसिंह की सहायता के लिये दी थी। उस जमाने में जगतसिंह का प्रभाव और आतंक सभी पहाड़ी राजाओं पर छाया था। उसने बसौली राज्य को भी जीता और वहां के राजा भूपतपाल को चौदह वर्ष तक दिल्ली में मुगल-कारावास में रखा। उसी के कहने पर गुलेर और सुकेत के राजा भी दिल्ली में मुगल कारावास में डाले गये। सन् १६३४ में जगतसिंह को बंगाश (बिलोचिस्तान) का फौजदार नियुक्त किया गया। उसका पुत्र रूपराजसिंह कोट-कांगड़ा का फौजदार

बन गया जिसके अधीन पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के सभी हिन्दू राजा माने जाते थे और जिसको इन राजाओं से वार्षिक कर वसूल करने का अधिकार था। यह कर चार लाख रुपये था परन्तु रूपराजसिंह गुप्तरूप से मुगल सत्ता के विरुद्ध षड़यन्त्र रच रहा था। यह काम वह जगतसिंह के संकेत पर ही कर रहा था। जब सम्राट् को रूपराजसिंह की साम्राज्य-विरोधी गति-विधियों का पता लगा, तो जगतसिंह ने हस्तक्षेप किया और सम्राट् से आग्रह किया कि उसे कोट-कांगड़ा का फौजदार नियुक्त किया जाय। जगतसिंह को ऐसा आत्म-विश्वास था कि कांगड़ा क्षेत्र का फौजदार बनने पर वह साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने में सफल होगा। जगतसिंह के असन्तोष का कारण यह भी था कि उसने अपने जीवन के आरम्भिक समय से बड़ी निष्ठा और ईमानदारी से मुगल साम्राज्य की सेवा की थी, परन्तु कुछ समय से उसकी सेवाओं के अनुरूप उसका सम्मान नहीं हो रहा था। अपने प्रति उसने सम्राट् की उदासीनता और उपेक्षा-वृत्ति का अनुभव किया। फलतः कांगड़ा का फौजदार नियुक्त होने पर उसने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया।

नूरपुर के राजा जगतसिंह का विद्रोह और उसका अन्त—

मुग़ल-सेना ने नूरपुर को घेर लिया। राजा जगतसिंह ने पहले मनकोट और बाद में तारागढ़ नाम के किलों में शरण ली पर वहां भी मुगल-सेना ने उसका पीछा किया और घमासान लड़ाई के बाद उसको मुगल-सेना के सम्मुख आत्म-समर्पण करना पड़ा। यह घटना सन् १६४२ की है। शाहजहां ने जगतसिंह की पुरानी सेवाओं को ध्यान में रखते हुये, उसको क्षमा-दान दिया और पुनः उसको कांगड़े का फौजदार नियुक्त किया। सन् १६४३ में सम्राट् ने जगतसिंह को बदख्शां की ओर सैन्य-अभियान पर भेजा। वहां उजबेक जाति ने मुगलों के विरुद्ध बग़ावत कर दी थी। चौदह सौ वीर राजपूतों की सेना को लेकर जगतसिंह ने बड़ी विकट परिस्थितियों में इस हिमाच्छादित क्षेत्र में वीरता से विद्रोहियों का दमन किया। इस अभियान में अथक परिश्रम और अदम्य वीरता प्रदर्शित करने से उसका स्वास्थ्य गिर गया और पेशावर पहुंचने पर जगतसिंह का सन् १६४३ में निधन हो गया। नूरपुर राज्य के इतिहास में जगतसिंह का नाम इसलिये प्रसिद्ध है कि वह अपने समय की परम्परा के अनुरूप एक वीर सैनिक और साहसी विजेता था। इन्हीं गुणों के कारण उसको मुगल-दरबार में विशेष प्रतिष्ठा मिली। किसी अन्य श्लाघ्य मानवीय गुण या आदर्श का उसके जीवन से आभास नहीं मिलता है। वह अन्य पहाड़ी राज्यों के लिये आतंक का स्रोत था। कइयों का उसने दमन किया और कुछ को राज्य-विहीन। सन् १६५८ में जब औरंगजेब ने सत्ता सम्भाली तो उस समय जगतसिंह का पुत्र रूपराजसिंह नूरपुर राज्य का शासक था। उत्तराधिकार के संघर्ष में रूपराजसिंह ने औरंगजेब का साथ दिया प्रतीत होता है। दाराशिकोह आगरा की लड़ाई में परास्त होकर पंजाब की ओर चला गया था। औरंगजेब की सेना ने वहां भी उसका पीछा किया। उधर दाराशिकोह का पुत्र सुलेमान शिकोह गढ़वाल राज्य की

राजधानी श्रीनगर में था। इन दोनों के मध्य सम्पर्क को रोकने के लिये सिरमौर और नूरपुर के राजाओं एवं कांगड़ा के फौजदार को औरंगजेब ने आदेश दिये थे। सम्भवत: रूपराजसिंह ने सुलेमान शिकोह को पकड़ने के लिये गढ़वाल राज्य की ओर सैन्य अभियान में भाग लिया था। कांगड़े का फौजदार नजबतखां इस अभियान में मुख्य सेनापति था। दाराशिकोह और सुलेमान शिकोह दोनों को पकड़ लिया गया था। दाराशिकोह को दिल्ली में अपमानित करके औरंगज़ेब ने कत्ल करवा दिया था और सुलेमान शिकोह को ग्वालियर के किले में बन्दी बनाकर रखा गया था जहां विष-प्रयोग से कुछ वर्षों में इसकी मृत्यु हुई।

पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में अफ़गान-सत्ता—

सन् १७०७ में औरंगज़ेब की मृत्यु हुई और इसके साथ ही मुगल-सत्ता का ह्रास आरम्भ हुआ। पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के पहाड़ी राज्य भी स्वतन्त्र हो गये। परन्तु कुछ वर्षों के बाद पंजाब पर काबुल के अमीर अहमदशाह दुरानी का अधिकार हो गया। फलत: सन् १७५२ से पर्वतीय क्षेत्र के अधिकांश राजे जिनमें नूरपुर और कांगड़ा क्षेत्र के शासक भी सम्मिलित थे, दुरानी शासन के अधीन आ गये। अहमदशाह दुरानी ने यह उत्तराधिकार तलवार के बल से मुग़ल-सत्ता से प्राप्त किया था। परन्तु काबुल के अमीर की शासन-अवधि भी अल्पकालिक ही रही। सन् १७६१ में मरहठों और अहमदशाह के मध्य पानीपत का तीसरा युद्ध हुआ। इसमें यद्यपि अहमदशाह की विजय हुई और मरहठों की अपमानजनक पराजय ही नहीं अपितु मरहठा-संगठन और सत्ता पर विनाशकारी कुठाराघात हुआ। इस पराजय के बाद मरहठा-शक्ति पुन: एक प्रबल-सत्ता के रूप में संगठित न हो सकी। उधर अहमदशाह अब्दाली भी भारत में मुग़ल-सत्ता का उत्तराधिकारी न बन सका। विजयी होने पर भी उसको भारत छोड़कर काबुल जाना पड़ा। उसके सैनिकों ने उसके विरुद्ध विद्रोह किया और उसे वापिस अफ़गानिस्तान जाने के लिये विवश किया। सन् १७७३ में अहमदशाह की मृत्यु हुई। पंजाब, काश्मीर और कांगड़ा समुदाय के राज्यों पर जो नाम मात्र का उसका शासन था, उसकी मृत्यु के साथ ही उसका भी अन्त हुआ।

अराजकता और रणजीतसिंह का उदय—

अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पंजाब में लूट-खसूट, अशान्ति, अव्यवस्था और अराजकता व्यापकरूप से फैली। इस अराजकता में पंजाब के सिख राज्यों का उदय हुआ। सूकर चकिया मिसल के मुखिया रणजीतसिंह ने अपने बाहुबल और बुद्धि-कौशल से शक्ति-संचय किया और एक सुदृढ़ राज्य की नींव डाली। अपने राज्य-काल के आरम्भिक वर्षों में ही रणजीतसिंह ने समस्त पंजाब पर अधिकार कर लिया और चिनाब एवं सतलुज नदियों के बीच का पहाड़ी क्षेत्र भी रणजीतसिंह के अधीन हो गया। सन् १७८३ में एक अंग्रेज पर्यटक जॉर्जफॉस्टर जो मद्रास की ईस्टइण्डिया कम्पनी की फैक्टरी में असैनिक कर्मचारी था, श्रीनगर (गढ़वाल), नाहन, बिलासपुर और नदौण

होता हुआ नूरपुर राज्य में आया। फॉस्टर काश्मीर गया और वहां से अफ़गानिस्तान के मार्ग से रूस होता हुआ वापिस अपने देश गया था। नूरपुर राज्य का उसने अपने यात्रा-विवरण में उल्लेख किया है। उसके अनुसार नूरपुर उस समय शान्ति-सम्पन्न समृद्धिशाली राज्य था। प्रजा अपने राज्य की शासन-व्यवस्था से सन्तुष्ट और सुखी थी। सन् १८०६ में नगरकोट कांगड़ा का किला रणजीतसिंह के अधिकार में चला गया और इसके साथ ही त्रिगर्त समुदाय के सभी ग्यारह राज्य भी रणजीतसिंह के अधीन हो गये। इनमें नूरपुर राज्य भी सम्मिलित था। राजा वीरसिंह उस समय नूरपुर राज्य का शासक था। यह बहुत स्वाभिमानी और साहसी व्यक्ति था। सन् १८१५ में रणजीतसिंह ने पंजाब के बड़े-बड़े सरदारों और पहाड़ी राजाओं के लिये स्यालकोट में एक बड़े दरबार का आयोजन किया। कांगड़ा समुदाय के नूरपुर और जसवां के राजा इसमें हाज़िर नहीं हुये। रणजीतसिंह ने उन पर भारी जुर्माना किया और उनके राज्य सीधे अपने अधिकार में ले लिए। दोनों राजाओं को जीवन-निर्वाह के लिये जागीरें प्रदान कीं। जसवां के राजा ने तो जागीर स्वीकार करके सन्तोष कर लिया, परन्तु वीरसिंह ने जागीर लेने से इनकार कर दिया। उसने चम्बा में जाकर एक सेना एकत्र की और सिख-सेना पर आक्रमण कर दिया। सिख सेना ने उसको पराजित किया, पर वीरसिंह अपने प्राण बचाकर सतलुज के पार अंग्रेजी इलाके में भाग गया जहां वह दस वर्ष तक प्रवास में रहा। इस अवधि के उपरान्त वेष बदल कर वह फिर नूरपुर पहुंचा। परन्तु जब सिख सेना को नूरपुर में वीरसिंह की उपस्थिति का ज्ञान हुआ, तो वह वहां से भाग कर चम्बा चला गया। वीरसिंह को चम्बा राज्य में पकड़ लिया गया और वह सात वर्ष तक अमृतसर के निकट गोविन्दगढ़ के किले में महाराजा रणजीतसिंह का बन्दी रहा। राजा वीरसिंह चम्बा के राजा का बहनोई था। उसने रणजीतसिंह को पिचासी हज़ार रुपये वीरसिंह को छुड़ाने के लिये फ़िरौती के रूप में दिये। वीरसिंह ने अपने जीवन के शेष वर्ष चम्बा में बिताये। रणजीतसिंह ने जम्मू के राजा ध्यानसिंह के द्वारा एक बार फिर उसको जागीर देनी चाही। राजा ध्यानसिंह की यह प्रबल इच्छा थी कि वीरसिंह एक बार उसका 'जै देव' कहकर अभिवादन करे तो वह वीरसिंह को जागीर प्रदान करे, पर राजा वीरसिंह अपने आपको उच्च वंश का मानता था और ध्यानसिंह को अपने से निम्न स्तर का समझता था। अतः उसको 'जै देव' कह कर अभिवादन करना वीरसिंह को अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध लगा। स्वाभिमानी वीरसिंह ने ऐसी जागीर को लात मारना अपनी मान-मर्यादा के अनुरूप समझा। सन् १८४५-४६ में सिखों और अंग्रेजों के मध्य पहला युद्ध हुआ। इसमें सिखों की पराजय हुई। वीरसिंह ऐसे सुअवसर की उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहा था। उसने चम्बा से नूरपुर की ओर कूच किया, परन्तु जब वह नूरपुर नगर की प्राकार के पास पहुंचा तो उसका प्राणान्त हो गया। वीरसिंह का अधिकांश जीवन दुःख, विपन्नता और संघर्ष में बीता। सिख राज्य के विरुद्ध उसके मन में बहुत आक्रोश और प्रतिशोध के भाव थे। विजने नामक युरोपियन पर्यटक ने, जो वीरसिंह को सन् १८३८ में चम्बा में मिला था, इसका उल्लेख अपने यात्रा-विवरण में किया है।

कांगड़ा समुदाय के राज्यों का अंग्रेजी राज्य में विलय—

सन् १८४६ के सिख युद्ध के बाद ये राज्य अंग्रेजी राज्य में मिला लिए गए। इस प्रकार नूरपुर सहित सारा कांगड़ा क्षेत्र अंग्रेजी राज्य का भाग बन गया। राजा वीरसिंह अपने पीछे एक नाबालिग पुत्र को छोड़ गया था। उसका नाम जसवन्तसिंह था। वीरसिंह के वजीर रामसिंह पठानिया ने जसवन्तसिंह को नूरपुर का राजा घोषित किया। उसने शाहपुर कण्डी के किले पर अधिकार कर लिया। यह स्थान रावी के बायें किनारे पर नूरपुर के निकट पुराने व्यापारिक मार्ग पर स्थित है। अंग्रेजों ने रणजीतसिंह द्वारा पदच्युत कांगड़ा क्षेत्र के किसी भी राजा को राज्याधिकार नही दिया, रणजीतसिंह ने अधिकांश राजाओं के राज्य छीनकर उनको जीवन-निर्वाह के लिये जागीरें दी थीं। इनमें चम्बा, मण्डी और सुकेत राज्य अपवाद थे। जयसिंह पठानिया द्वारा जसवन्तसिंह को नूरपुर का राजा घोषित करना अंग्रेज सरकार की नीति के विरुद्ध था, यह एक प्रकार का विद्रोह था। जब अंग्रेज़ों को इसका पता चला तो उन्होंने एक फौजी टुकड़ी भेजकर शाहपुर के किले को घेरना चाहा। पर रामसिंह वहां से भाग कर पंजाब में गुजरात की ओर चला गया। वहां सिख सेना ने उसको आश्रय दिया और फिर तीन वर्ष बाद सिख सेना की सहायता से उसने शाहपुर के निकट अंग्रेजी सेना का मुकाबला किया। इस लड़ाई में दोनों पक्षों के बीच भारी मुकाबला हुआ। एक अंग्रेज उच्च अधिकारी भी मारा गया। रामसिंह पठानिया ने कांगड़े में एक ब्राह्मण के घर में शरण ली, परन्तु ब्राह्मण ने धन के लोभ में रामसिंह को अंग्रेजों के हवाले किया। अंग्रेजों ने उसको भारत से दूर सिंगापुर में बन्दी बनाकर भेजा जहां इसके जीवन का अन्त हुआ। वजीर रामसिंह पठानिया की वीरता और राज-भक्ति की गाथाएं कांगड़ा के लोक-गीतों में अभी तक अक्षुण्ण हैं।

मण्डी और सुकेत राज्य—

मण्डी,सुकेत,क्योंथल और किश्तवाड़ (काश्मीर का एक भाग) राज्यों के संस्थापक बंगाल के सेन वंश से सम्बद्ध थे। परम्परा के अनुसार वीरसेन,गिरिसेन और हमीरसेन नाम के तीन राजकुमार बंगाल से चल कर पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में आये, वीरसेन ने सुकेत राज्य, गिरिसेन ने क्योंथल और हमीरसेन ने किश्तवाड़ राज्य की स्थापना की। कनिंघम के अनुसार यह घटना आठवीं सदी के उत्तरार्द्ध की है। मण्डी राज्य की स्थापना बारहवीं सदी में सुकेत-राजवंश के राजकुमार ने की। सेन वंश का मूल राज्य सुकेत था। मण्डी राज्य की स्थापना सुकेत से लगभग चार सदी बाद हुई थी। जिस प्राचीन युग में सुकेत राज्य का उदय हुआ, वह प्रधानतः ठकुराइयों का युग था। वीरसेन ने सबसे पहले सतलुज के दाहिने किनारे पर पांगना में अपना केन्द्र बनाया और वहां से उसने दर्जनों ठकुराइयों को परास्त किया और इस अभियान में वह व्यास नदी के बायें तट के क्षेत्र तक पहुंच गया। इस प्रकार वीरसेन का राज्य दक्षिण में सतलुज से लेकर उत्तर में व्यास नदी तक फैल गया। दसवीं सदी के लगभग विजय सेन के राज्य-काल

में सेन राज-परिवार के दो भाग हो गये। विजयसेन के दो पुत्र थे—साहुसेन और वाहुसेन। दोनों में पारस्परिक सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। अतः छोटा भाई वाहुसेन परिवार से अलग होकर कुल्लू क्षेत्र में मंगलूर नामक स्थान पर जाकर बस गया और वहां उसने एक छोटा-सा राज्य स्थापित किया। वाहुसेन से बारहवीं पीढ़ी पर वाणसेन के समय में मण्डी राज्य की स्थापना हुई। वाणसेन के पिता कर्णसेन ने कुल्लू की कई ठकुराइयों को जीता। इस अभियान में उसको कुल्लू की सेना का मुकाबला करना पड़ा और वह युद्ध

जनरल वंटूरा

में मारा गया। उसकी रानी मण्डी के निकट शिवकोट के ठाकुर की लड़की थी। कहते हैं, वह गर्भवती थी। राजा के मरने पर वह निःसहाय अवस्था में इधर-उधर भटकती रही। कहते हैं कि बान के पेड़ के नीचे उसने पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम वाणसेन रखा गया। शिवकोट के राणा के भृत्यों ने रानी को अपने पिता के घर पहुंचाया। राजा का कोई पुत्र नहीं था। अतः वाणसेन उसका उत्तराधिकारी बना। इसके वंशधर अजबसेन ने सन् १५०० के लगभग मण्डी नगर की स्थापना की। उसने अपने बाहुबल से सुकेत का बहुत-सा भाग छीन कर अपने राज्य में मिलाया। अजबसेन ने भूतनाथ और उसकी रानी ने त्रिलोकी नाथ के मंन्दिर का निर्माण कराया। सन् १६३७ से मण्डी के

राजाओं द्वारा निर्मित सती स्तम्भ पाये जाते हैं। इन स्तम्भों को स्थानीय भाषा में 'वरसेला' कहते हैं। ये स्तम्भ राजा के मरने पर स्थापित किये जाते थे। सबसे पहला सती-स्तम्भ राजा हरिसेन के समय का है। पुराने समय में नैपाल से पश्चिमी हिमालय क्षेत्र तक यहां के निवासियों में मृतात्मा के नाम पर पहाड़ों के ऊपर अथवा अन्यत्र चबूतरा जैसा बनाने का रिवाज था। कालान्तर में यह प्रथा केवल एक पत्थर स्थापित करने तक शेष रह गई। गढ़वाल कुमाऊं और नैपाल में दिवंगत आत्मा के नाम पर पत्थर स्थापित करने की प्रथा अभी तक प्रचलित है। कुल्लू मण्डी और बिलासपुर आदि राज्यों में राजाओं के मरने पर पत्थर की शिला को तराश कर उसको स्थापित करने का रिवाज था। इस शिला पर राजा और उसके साथ सती होने वाली रानियों और दासियों के चित्र भी उत्कीर्ण किये जाते थे। इनको सती-स्तम्भ या 'वरसेला' कहते थे। मण्डी में स्थित सती-स्तम्भों का विशेषरूप से अध्ययन किया गया है।

मण्डी में संसारचन्द और रणजीतसिंह का आतंक—

राजा हरिसेन ने सन् १६२५-३० में मण्डी के सुप्रसिद्ध कमलाहगढ़ किले का निर्माण कराया। मण्डी के निकट सिकन्दरा धार पर छः सुदृढ़ किले थे। इनके नाम थे; कमलाहगढ़, चौकी, चबर, पद्मपुर, शमशेरपुर और नरसिंहपुर। बहुत प्राचीन काल में मण्डी राज्यमें ३६० किले थे। वह सम्भवतः ठकुराइयों का युग था। राजा सूरजसेन से ईश्वरी सेन के राज्य-काल तक कमलाहगढ़ मण्डी की बहुमूल्य सम्पति का कोषागार रहा। इस किले की सुदृढ़ता पर मण्डी राज्य की स्वतन्त्रता निर्भर करती थी। अट्ठारहवीं सदी के अंतिम भाग में कांगड़ा में राजा संसारचन्द का अभ्युदय हुआ। उसका आतंक इस क्षेत्र के सभी राजाओं पर छाया। उस युग की यह अद्भुत परम्परा थी कि राजा या सामन्त दूसरे के इलाके को जीतने के साथ-साथ वहां के शासक और जनता दोनों को लूटते थे। अठाहरवीं और उन्नीसवीं सदी का पूर्वार्द्ध, लूट-खसूट, अरक्षा और अव्यवस्था के लिये, विशेषतः उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में, भारत के इतिहास में कुख्यात था। सन् १७९२ के लगभग संसारचन्द ने मण्डी पर आक्रमण किया और मण्डी नगर को लूटा। सुकेत के राजा ने आत्म-समर्पण किया और संसारचन्द के प्रति निष्ठा का वचन दिया। मण्डी का कुछ भाग सुकेत को दिया गया और अनन्तपुर का इलाका संसारचन्द ने अपने अधिकार में ले लिया। मण्डी के तत्कालीन राजा ईश्वरीसेन को सुजानपुर टीरा में बन्दी बनाकर रखा गया जहां उसने अपने आरम्भिक जीवन के बारह वर्ष बिताये। सन् १८०५में गोरखा सेनापति अमरसिंह थापा ने उसको इस कारावास से मुक्त किया। ईश्वरीसेन की अनुपस्थिति में खानदानी वजीर शासन को चलाते रहे। संसारचन्द मण्डी से एक लाख वार्षिक नजराने के लेता था। सन् १८०९ में काँगड़ा समुदाय के सभी राज्य रणजीत सिंह के अधीन हो गये। आरम्भ में मण्डी तीस हजार रुपया वार्षिक कर लाहौर दरबार को देता था; परन्तु १८१६ में यह एक लाख कर दिया गया। लाहौर दरबार की ओर से जो अधिकारी यहां कर वसूल करने आते थे, वे अपने ढंग से राज्य का शोषण करते थे और

कुछ अधिकारी जो स्थायी रूप से दरबार की ओर से मण्डी में रहते थे, उनका दब-दबाव और समय-समय पर धन की मांग राज्य के शोषण का अप्रतिहत साधन था। १८३६ में महाराजा रणजीतसिंह की मृत्यु हुई और उसके अगले वर्ष फ्रांस-निवासी रणजीतसिंह के सेनापति वंटूरा ने एक फौजी टुकड़ी लेकर मण्डी से सात मील पीछे पहुंच कर, राजा वलवीरसेन से कर की बकाया राशि मांगी। यह राशि तत्काल चुकाई गई। वलवीरसेन इतना भयभीत हुआ कि उसने गुप्त रूप से सपाटू में स्थित अंग्रेज़ अधिकारी से शरण की याचना की। परन्तु इससे पहले ही जरनल वंटूरा ने राजा को कैद कर लिया और अमृतसर के निकट गोविन्दगढ़ के किले में बन्द कर दिया। सन् १८४१ में महाराजा शेरसिंह ने वलवीरसेन को कारागार से मुक्त करके मण्डी वापिस भेजा। उन दिनों लाहौर दरबार की ओर से शेख गुलाम महीउद्दीन मण्डी का नाजिम था। उसने मण्डी राज्य की आय चार लाख निर्धारित की जिसमें से तीन लाख रुपया लाहौर दरबार का कर था और शेष एक लाख राजा और मण्डी के प्रबन्धक के लिये। १८४६ में सिखों और अंग्रेजों के मध्य पहला युद्ध हुआ। मण्डी राज्य ने ३०० सिपाही सिखों की ओर से युद्ध में भाग लेने के लिये भेजे थे परन्तु मण्डी और सुकेत के राजा गुप्त रूप से शिमला में स्थित अंग्रेज अधिकारियों से बातचीत कर रहे थे। उनकी इर्सकाइन नाम के अंग्रेज़ अधिकारी से मुलाकात विलासपुर में हुई। तत्पश्चात राजा वलवीरसेन ने मण्डी में स्थित सिख सेना पर आक्रमण किया और सारे किलों पर अधिकार कर लिया। लड़ाई की समाप्ति पर मण्डी और सुकेत समेत रावी और सतलुज के बीच स्थित सभी पहाड़ी राज्य अंग्रेज साम्राज्य के अंग बन गये। अंग्रेजों ने राजा मण्डी से जो सन्धि की उसमें और बातों के अलावा दो शर्तें ये भी थीं कि आगे से मण्डी में न गुलामी और न ही सती-प्रथा रहेगी। कन्या-वध व कोढ़ियों को जिन्दा जलाने व बहाने की प्रथा भी कानून विरुद्ध मानी गई। पहले ये अमानवीय और घृणित प्रथाएं प्रचलित होंगी।

चम्बा राज्य—

पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में चम्बा बहुत प्राचीन राज्य माना जाता है, छटी शताब्दी के लगभग इसकी स्थापना मानी जाती है। इस राज्य का मूल केन्द्र पहाड़ों के अन्दर भरमौर था। हीवानसांग द्वारा वर्णित ब्रह्मपुर भरमौर था, ऐसा कुछ लोग मानते हैं; परन्तु ऐसी धारणा ऐतिहासिक प्रमाणों पर आधारित प्रतीत नहीं होती है। ऐसा विश्वास करना कि हीवानसांग भरमौर आया हो, उसके ब्रह्मपुर के वर्णन से स्पष्ट नहीं होता हैं। कुछ भी हो, इतना तो निर्विवाद है कि भरमौर बहुत प्राचीन काल के एक सुसंस्कृत राज्य का केन्द्र था। आज भी वहां के मन्दिरों से प्राप्त कला-कृतियां उस प्राचीन राज्य के वैभव का आभास देती हैं। विशाल पर्वत मालाओं से घिरे इस छोटे से स्थान में पीतल की इतनी कला-पूर्ण और भावाभिव्यक्ति में प्रभावोत्कारी मूर्तियां देखने वाले को चकित कर देती हैं। भरमौर में तीन मुख्य मन्दिर हैं; दो पाषाण-निर्मित हैं और एक लकड़ी का बना है। मुख्य मन्दिर मणि महेश (शिव) का है। इसके गर्भ-गृह में शिवलिंग

और इसके चारों ओर पीतल की कई देवताओं की कलापूर्ण मूर्तियां हैं। दूसरा मन्दिर विष्णु के अवतार नरसिंह का है। नरसिंह की पीतल की बनी मूर्ति अत्यन्त कलापूर्ण और भावभंगी में भयावह प्रतीत होती है, यह मूर्ति एक अलंकृत सिंहासन पर आसीन है। दोनों मन्दिरों के मध्य विशालकाय नान्दी की मूर्ति है। यह भी सुडौल और कलापूर्ण है। तीसरा दुर्गा(लक्षणादेवी)का मन्दिर है। यह काष्ट-निर्मित है। इसके गर्भ-गृह में महिषासुर मर्दिनी दुर्गा की मूर्ति है; महिषासुर का वध करती हुई दुर्गा का भयावह रूप मूर्तिकार ने बड़ी सफलता से व्यक्त किया है। ये सब मूर्तियां पीतल की हैं। दुर्गा की मूर्ति के सिंहासन पर यह लेख है:—

'ओं मोशुनास्व गोत्रादित्य वंशसंभूत:
श्री: आदित्य वर्म देव प्रपौत्र: श्री: बाल वर्म देव पौत्र.'

श्री: दिवाकर वर्म देव पुत्रेण श्री: मेरू वर्मणा आत्म पुण्याय वृद्धये लक्षणा देवी अर्चया व कारायिता कर्मणा गूगेन। (ओं सूर्य वंश सम्भूत मोशुनस्व गोत्र में उत्पन्न, आदित्य वर्मदेव के परपौत्र, श्री बाल वर्मदेव के पौत्र और दिवाकर वर्मदेव के पुत्र मेरू वर्मा ने अपनी पुण्य-वृद्धि के हेतु लक्षणा देवी की अर्चना के लिये निर्माण कराया। मूर्तिकार गूग नाम का था।) अन्यत्र भी मूर्ति के उपासन पर उत्कीर्ण लेख में गूग मूर्तिकार का ही नाम आता है। ये मूर्तियां मेरू वर्मा के राज्य-काल में गूग ने निर्मित की थीं।

हिन्दू शाही शासक और चम्बा राज्य—

कल्हण कृत राजतरंगिणी में चम्बा का उल्लेख आता है। बहुत प्राचीन काल में काश्मीर एक शक्ति-सम्पन्न राज्य था। कई छोटे-छोटे राज्य और ठकराइयां इस की क्षत्र-छाया में थीं। चम्बा राज्य भी सदियों तक काश्मीर के अधीन था। ऐसा प्रतीत होता है कि ह्वीवानसांग के समय चम्बा काश्मीर के अधीन था। उसने चम्बा का अलग से उल्लेख नहीं किया। जैसा कि पहले कहा गया है कि ब्रह्मपुर, भरमौर का पुराना नाम मानना सन्देहास्पद है—बाड़ाहाट (वर्तमान उत्तरकाशी) को ब्रह्मपुर मानना ह्वीवानसांग के वर्णन के अनुसार अधिक समीचीन प्रतीत होता है। ह्वीवानसांग का भारत आगमन, महाराजा हर्षवर्धन का राज्य-काल और अरब में मुस्लिम धर्म का उदय समसामयिकी घटनाएं थीं। अरब विजेताओं के अभ्युदय का भारत के उत्तर-पश्चिम क्षेत्र के तत्कालीन इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आठवीं सदी के आरम्भ से ही अरब आक्रान्ताओं का प्रहार सिन्ध, बिलोचिस्तान और अफगानिस्तान पर आरम्भ हो गया था। ईराक के राज्यपाल हजाज ने सिन्ध पर कई आक्रमण किये और अन्त में वह सिन्ध के ब्राह्मण राजा दाहिर का उच्छेद करने में सफल हुआ और कुछ वर्षों के लिये सिन्ध क्षेत्र अरबों के अधिकार में चला गया। काबुल के तुर्कीशाही हिन्दू राजा लगभग दो सदियों तक इनका सफल मुकाबला करते रहे, परन्तु नवीं सदी के अन्तिम चरण में तुर्कीशाही राजवंश के अन्तिम शासक वासुदेव की उसके ब्राह्मण मंत्री कनक या कल्लार ने हत्या करके स्वयं राजगद्दी पर अधिकार कर लिया और अपनी राजधानी काबुल से हटाकर सिन्ध नदी के तट पर

स्थित उद्भान्तपुर या ओहिन्द में हिन्दुशाही नाम से नये राजवंश की स्थापना की। यह राजवंश लगभग दो सदियों तक विकट संघर्ष में भी अपने अस्तित्व को जीवित रख सका। इस राजवंश का प्रभाव-क्षेत्र समस्त उत्तर-पश्चिमी पर्वतीय भाग, जिसमें स्वात और कुणार उपत्यकाएं सम्मिलित थीं और पूर्व में कांगड़ा तक का इलाका इनके राज्य में था या इनके राजनैतिक प्रभाव में था। सम्भवत: चम्बा भी इसी प्रकार उद्भान्तपुर के हिन्दुशाही शासन के प्रभाव क्षेत्र में था। सन् ९७७ में गजनी का शासन सबुक्तगीन के हाथ आया। उस समय उद्भान्तपुर (ओहिन्द) में हिन्दुशाही राजा जयपाल का शासन था। सबुक्तगीन ने काबुल में जयपाल के राज्य का अधिकांश भाग हस्तगत कर लिया और वह लमघन (वर्तमान जलालाबाद) तक पहुंच गया। राजा जयपाल उसका मुकाबला करने आगे बढ़ा परन्तु उसको अपमानजनक पराजय का सामना करना पड़ा। सन् ९९७ में सुलतान की मृत्यु हुई। गजनी का शासन उसके पुत्र महमूद के हाथ आया जो भारत के इतिहास में आक्रमण और लूटमार के लिये कुख्यात है। सन् १००१ में महमूदगजनी ने दूसरी बार जयपाल को पेशावर के निकट पराजित किया। जयपाल ने अपमान से क्षुब्ध होकर जीवित चिता पर जलना उचित समझा। उसके बाद उसका पुत्र आनन्दपाल और पौत्र ब्रह्मपाल महमूदगजनी के आक्रमणों का सामना करते रहे। सन् १००८ में राजकुमार भीमपाल का पीछा महमूद ने भीमनगर तक किया बताया जाता है। हिन्दुशाही राजाओं के वंशधर निरन्तर इन आक्रमणों का मुकाबला करते रहे। सन् १०२६ में इस वंश के अन्तिम राजा भीमपाल की मृत्यु के बाद यह राजवंश समाप्त हो गया। उसके चार वर्ष बाद महमूद की भी मृत्यु हो गई। ऐसा प्रतीत होता है कि इस क्षेत्र के राजा जिसमें काश्मीर भी सम्मिलित है, इन युद्धों में भाग लेते रहे। काश्मीर के राजा क्षेमगुप्त की पत्नी रानी डिडा मातुल पक्ष से उद्भान्तपुर के हिन्दुशाही राजा की पौत्री थी। रानी डिडा के बाद काश्मीर का शासन उसके चचेरे भाई संग्रामराज के हाथों में गया। संग्रामराज ने इन युद्धों में भाग लिया था या ओहिन्द के राजाओं की सेना भेजकर सहायता दी थी। चम्बा का राजा साहिल वर्मा कदाचित् इन युद्धों में भाग लेने गया था और इन अभियानों के बाद कदाचित् उसने रावी घाटी के निचले भाग को जीता हो। चम्पा या चम्बा नगर के बसने का आख्यान साहिल वर्मा के इस क्षेत्र की विजय से सम्बद्ध है। भरमौर पहाड़ों के अन्दर विजित क्षेत्र से दूर एक कोने पर पड़ जाता था। चम्पा नगर की स्थिति रावी घाटी के मध्य क्षेत्र में सामरिक व प्रशासनिक दृष्टि से सुविधाजनक थी। प्रचलित पौराणिक परम्परा के श्लोक में चम्पा नगरकी स्थापना के आख्यान को व्यक्त करने का प्रयास किया गया है:—

> 'विजित्य क्षत्रियान्युद्धे पुरीं 'चम्पां' चकार ह।
> पुरैव चम्पकेनालंकृतां देव्याभिरक्षिताम्।
> चम्पावत्यैव महिषादीन हत्वैवैरावती तटे॥'

क्षत्रियों को युद्ध में मार कर चम्पा नगरी को रावी नदी के तट पर स्थापित किया गया। यह पहले से ही चम्पा के वृक्षों से अलंकृत एवं महिषासुर मर्दिनी चम्पावती

(दुर्गा) के द्वारा अभिरक्षित थी। इस श्लोक में कितना ऐतिहासिक तथ्य है और कितना पारम्परिक कवित्व का चमत्कार, यह इसको पढ़ने से स्पष्ट हो जाता हैं। निःसन्देह कविता का चमत्कार अधिक है और ऐतिहासिक महत्व कम।

चम्बा का संक्षिप्त सिंहावलोकन—

चम्बा क्षेत्र का पर्याप्त पुरातात्त्विक अध्ययन किया गया है। इस राज्य में पुरातत्त्व ऐतिहासिक महत्व के कई उत्कीर्ण लेख, ताम्र-पत्र, शिला-लेख, मन्दिर और मूर्तियां आदि प्राप्त हुई हैं। इनका संग्रह चम्बा के भूरिसिंह संग्रहालय में विद्यमान हैं। जैसे अन्य राज्यों में पुराने जमाने में ठकुराइयों की प्रचुरता थी, चम्बा भी इनका अपवाद नहीं था। इनको ठाकुर, सामन्त, राजन्य, राजुक आदि नामों से जाना जाता था। राजतन्त्र के स्थापित होने पर वे सभी राजा के शासन में आगये। परन्तु इनके आपसी झगड़े और द्वेष-भाव किसी न किसी रूप में इनके अस्तित्व-काल तक जीवित रहे। पुरातन काल में काश्मीर और त्रिगर्त पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में बड़े राज्य थे। छोटे-छोटे राज्य इन बड़े राज्यों की छत्र-छाया में जीवित रह सकते थे। उस युग में चम्बा मुख्यतः काश्मीर के प्रभाव-क्षेत्र में था। बारहवीं सदी के बाद चम्बा स्वतंत्र हो गया या त्रिगर्त राज्य के प्रभाव में आ गया। तेरहवीं सदी के आरम्भ से ही भारत पर मुसलमानों का अधिकार होने पर एक भयंकर उथल-पुथल मच गई। सारे हिमालय क्षेत्र में नैपाल, पश्चिम में काश्मीर तक नई सत्ता और नये राज्यों का उदय हुआ। मुगलों के समय तक पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में बाईस मुस्लिम और बाईस ही हिन्दू राज्यों का उदय हो चुका था। इन बाइस हिन्दू राज्यों में ग्यारह राज्य डूगर (जम्मू) समुदाय में थे और ग्यारह त्रिगर्त समुदाय में। चम्बा त्रिगर्त समुदाय में सम्मिलित था। चम्बा का राजा प्रतापसिंह वर्मा (सन् १५५९) अकबर का समकालीन था। अकबर के शासन के आरम्भ में ही सभी पहाड़ी राज्य मुगल-सत्ता के अधीन हो चुके थे। इन राज्यों ने अकबर के समय ही कई बार विद्रोह किया, परन्तु जहांगीर के शासन-काल से ये सभी राज्य पूरी तरह मुग़ल-सत्ता की जकड़ में आ गये और औरंगजेब के शासन के अन्तिम चरण तक पूरी तरह से मुग़ल इन पर हावी रहे। परन्तु उसके बाद वे धीरे-धीरे स्वतन्त्र हो गये। सन् १७५२ में अहमदशाह दुरानी पंजाब का शासक बना और इसके साथ ही पहाड़ी राज्य भी इसके अधीन हो गये। परन्तु उसकी सत्ता अल्पकालिक रही। अठारहवीं सदी के अन्तिम चरण में कांगड़े में राजा संसारचन्द का अभ्युदय हुआ और उसके बाद १८०९ में समस्त पश्चिमी पहाड़ी राज्य रणजीतसिंह के अधिकार में आ गये। लगभग सैंतीस वर्ष तक इन राज्यों पर लाहौर दरबार का शासन रहा। रणजीतसिंह ने अपने शासन के आरम्भिक काल में ही कांगड़ा क्षेत्र के सभी राजाओं को जागीर देकर पद-च्युत कर दिया था। केवल चम्बा, मण्डी, सुकेत और कुल्लू राज्य बच सके। रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद कुल्लू का भी सिख राज्य में विलय किया गया। सन् १८४६ में सिखों की प्रथम युद्ध में पराजय के बाद रावी और सतलुज के मध्य का समस्त पहाड़ी क्षेत्र और जालन्धर द्वाब अंग्रेजी

राज्य में मिला लिये गये। अंग्रेज़ों ने युद्ध के हर्जाने के रूप में डेढ़ करोड़ रुपये लाहौर दरबार से मांगे। लाहौर दरबार इतनी बड़ी राशि देने में असमर्थ था। अतः व्यास और सिन्ध नदी के बीच वाला सारा पर्वतीय क्षेत्र अंग्रेजों को एक करोड़ रुपये के बदले में दे दिया गया और शेष राशि का नकद भुगतान किया गया। उसी वर्ष मार्च में अंग्रेज़ों ने जम्मू के राजा गुलाबसिंह से एक अलग सन्धि करके रावी और सिन्ध के मध्य का पहाड़ी क्षेत्र जिसमें चम्बा, काश्मीर, जम्मू आदि कई राज्य थे ७,५०,००० पौण्ड के बदले गुलाबसिंह को बेच दिया, परन्तु रावी चम्बा राज्य को दो भागों में बांटती है। इस सन्धि के अनुसार चम्बा राज्य की स्थिति विवाद-ग्रस्त हो गई। चम्बा के तत्कालीन वजीर भगा ने लाहौर जाकर सर हैनरी लॉरेंस के सम्मुख चम्बा की ओर से प्रभावशाली पैरवी की और इसके फलस्वरूप सन्धि में संशोधन करके चम्बा राज्य को इस सन्धि से निकाल कर अक्षुण्ण रखा गया। इसके बदले गुलाबसिंह को लखनपुर राज्य दिया गया और चम्बा को भद्रवाह का क्षेत्र छोड़ना पड़ा। सन् १८५३ में धौलाधार के पश्चिमी भाग का कुछ क्षेत्र यहां स्वास्थ्य-केन्द्र स्थापित करने के लिये अंग्रेज़ों ने चम्बा राज्य से मांगा। इसके बदले वार्षिक कर में चम्बा को २००० रुपये की छूट दी गई। इस स्थान पर डलहौज़ी नगर की स्थापना की गई। इसी प्रकार वार्षिक कर में ५००० रुपये की कमी के बदले सन् १८६६ में बकलोह का इलाका भी अंग्रेज़ सरकार को दे दिया गया। यहां फौजी छावनी स्थापित की गई।

७. राजा संसारचन्द का अभ्युदय और पराभव

नादिरशाह द्वारा मुग़ल सत्ता पर कुठाराघात—

सन् १७०७ में मुग़ल सम्राट औरंगजेब के मरने पर मुग़ल-सत्ता का ह्रास अप्रत्याशित गति से हुआ। इसके पतन के बीज औरंगजेब ने स्वयं बो दिये थे। उसके निधन के १६ वर्षों के अन्दर चार मुग़ल राजकुमार दिल्ली की गद्दी पर बैठे। सबसे पहले मोजिम बहादुरशाह प्रथम के नाम से गद्दी पर बैठा। वह बहुत वृद्ध और सर्वथा शक्ति और बुद्धि-हीन था। पांच वर्ष के बाद उसकी मृत्यु हो गई। उसके पश्चात् उत्तराधिकार के लिये रक्त-पात आरम्भ हुआ और यह क्रम १७१६ तक चलता रहा, इस संघर्ष में कई राजकुमार निर्मम हत्या से मौत के घाट उतारे गये। सन् १७१६ में औरंगजेब का पौत्र मुहम्मदशाह के नाम से गद्दी पर बैठा। यह इतिहास में मुहम्मदशाह रंगीला के नाम से प्रसिद्ध है। इसके राज्य-काल की अवधि अपेक्षाकृत अधिक रही—सन् १७१६ से १७४८ तक। परन्तु इसी अवधि में साम्राज्य को छिन्न-भिन्न करने वाली शक्तियां पनप रहीं थीं, सूबों के राज्यपाल स्वतंत्र हो रहे थे। दक्षिण में मरहठों की शक्ति बढ़ रही थी और पंजाब में सिख लूट-मार कर रहे थे। चारों ओर अशान्ति और अव्यवस्था का वातावरण फैला हुआ था। सन् १७३६ में फारस के नादिरशाह के आक्रमण ने रही-सही कसर पूरी कर दी। मुहमम्दशाह ने हिम्मत बांध कर करनाल के निकट नादिरशाह को रोकने का प्रयास किया परन्तु ईरानी सेना के सामने उसकी सेना दो घण्टे से अधिक न टिक सकी और इस अल्प अवधि में ही उसके बीस हजार सैनिकों के शव युद्धभूमि में बिखर गये। इस विनाश के बाद दिल्ली सम्राट ने विजयी नादिरशाह के साथ दिल्ली में प्रवेश किया और मुहम्मदशाह ने महल में अतुल धन-राशि उसके समाने पेश की। दिल्ली-वासियों के दुर्भाग्य से शहर में यह झूठी खबर फैल गई कि नादिरशाह की मुत्यु हो गई है। दिल्ली-वासियों ने उल्लास के उन्माद में ईरानियों को मौत के घाट उतारना शुरू किया। कई सौ ईरानियों की दिल्ली की सड़कों और गलियों में हत्या की गई। इसका परिणाम भयावह हुआ। नादिरशाह ने दिल्ली के मध्य रोशन उद्दौला की सुनहरी मस्जिद में अपना स्थान ग्रहण किया और अपनी सेना को दिल्ली में कत्ले-आम का हुक्म दिया। ईरानी सैनिक नौ घंटे तक दिल्ली-वासियों की निर्मम हत्या करते रहे। दिल्ली के घरों, गलियों और सड़कों पर रक्त की नदियां बह गईं, अनगिनत लाशें बिखर गईं। दिल्ली लोहू-लुहान कांप रही थी। हाहाकार और चीख पुकार की दुःखद ध्वनि वायुमण्डल में गूंज रही थी। पर ईरानी

आक्रान्ता के प्रतिशोध की ज्वाला शान्त नहीं हो रही थी। मुहम्मदशाह उस जन-संहार से क्षुब्ध हाथ जोड़ कर नादिरशाह से अनुनय-विनय कर रहा था परन्तु उसकी पैशाची रक्त-पिपासा शान्त नहीं हो रही थी। नौ घंटे के नर-संहार के बाद उसने कत्लेआम बन्द करने की आज्ञा दी। दिल्ली ने अपने लम्बे इतिहास में कई प्रहार सहे; कई बार धन-जन की हानि के दारुण दृश्य देखे परन्तु यह नर-संहार अपने ढंग का था। इसके बाद

राजा संसार

कई दिनों तक ईरानी सैनिकों ने विधिवत् दिल्ली को लूटा। लोग पहले ही आंतकित थे, बचे खुचे लोगों ने चुपचाप जो किसी के पास था, उन सैनिकों के सम्मुख रख दिया। सन् १३९८ में तैमूर ने दिल्ली को पांच दिन तक लूटा था, तब भी दिल्ली नग्न कर दी गई

थी। लेकिन इसके बाद लगभग तीन सौ वर्ष तक कोई बड़ी लूट-खसूट नहीं हुई थी। तीन सौ से अधिक वर्षों की संचित दौलत दिल्ली के अमीर, गरीब, नवाब, सामन्त, सबको नादिरशाह को अर्पण करनी पड़ी। तैमूर तो केवल पांच दिन दिल्ली में रहा था परन्तु नादिरशाह पूरे ५८ दिन दिल्ली में रहा। दिल्ली के शाही खजाने में और दिल्ली-वासियों की तिजोरियों में जो संचित धन, सोना-चांदी, हीरे-मोती, मणि-माणिक्य थे, सब नादिरशाह ले गया। अनुमान है कि इस लूट का मूल्य मुग़ल साम्राज्य की तीन वर्ष की आय के बराबर था। शाहजहां का मूल्यवान् तख़्तेताऊस और कोहेनूर हीरा इसके अलावा थे।

अहमदशाह दुरानी—

अभी नादिरशाह की लूट को नौ वर्ष ही हुए थे कि अफ़गानिस्तान की ओर से एक और आक्रान्ता पंजाब में उतर आया। यह अहमदशाह दुरानी था। अहमदशाह नादिरशाह का शस्त्र-वाहक था और कहते हैं कि नादिरशाह के साथ सन् १७३९ में वह दिल्ली आया था। नादिरशाह के मरने के बाद उसने काबुल पर अधिकार किया और एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। सन् १७४८ में मुहम्मदशाह की मृत्यु से एक महीना पहले, उसने पंजाब पर आक्रमण किया। सरहिन्द के पास मुग़ल सेना ने नाम मात्र के लिये उसका मुकाबला किया। पंजाब पर उसका अधिकार हो गया। अगले वर्ष दुरानी फिर पंजाब होता हुआ दिल्ली पहुंचा। तब दिल्ली का सम्राट् उसी का नाम राशि अहमदशाह था। उससे दुरानी ने पंजाब पर अपना अधिकार विधिवत् स्वीकार करवाया। इस प्रकार सन् १७५२ में पंजाब, काश्मीर और पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के सभी राज्य अफ़गानिस्तान के शासक के अधीन हो गये। परन्तु दुरानी का अधिकार नाम मात्र का था। उसका ध्येय भी देश पर शासन करने का नहीं, वरन् लूट-खसूट करने का ही रहा। उसने पांच बार भारत पर आक्रमण किये और सदा ही लूट-खसूट करके गर्मियों में काबुल चला जाता था। अठारहवीं सदी मुख्यतः लूट-पाट का जमाना था और दुरानी भी युग-धर्म के अनुसार ऐसा ही करता रहा। पंजाब में प्रचलित यह कहावत कि "जे खादा-पीता ओह अपणा ते बाकी अहमदशाह दा" उस युग की अव्यवस्था और अरक्षा की ओर संकेत करती है। उसी युग में सिखों के जत्थे भी यही काम करते थे। उनके लूट-पाट का क्षेत्र यमुना से लेकर झेलम-तट तक था; कभी-कभी यमुना पार करके ये दून क्षेत्र तक भी पहुंच जाते थे। उधर दिल्ली की गद्दी पर बैठे अहमदशाह को केवल छः वर्ष ही हुए थे कि उसके वजीर गजीउद्दीन ने सन् १७५४ में उसकी आंखें निकलवा कर उसको गद्दी से अलग कर दिया और उसके स्थान पर औरंगज़ेब के परपौत्र और जहांदारा शाह के पुत्र को अलमगीर द्वितीय के नाम से गद्दी पर बिठाया; पर पांच वर्ष बाद उसको भी कत्ल कर दिया गया। सन् १७६१ में अहमदशाह ने पांचवीं बार भारत पर आक्रमण किया। तब उसको मुग़ल-सत्ता के स्थान पर मरहठों का सामना करना पड़ा। यह मुकाबला पानीपत की तीसरी लड़ाई के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हैं। इसके परिणाम में मरहठा-शक्ति

छिन्न-भिन्न हो गई और दिल्ली पर अहमदशाह दुरानी का अधिकार हो गया परन्तु शाही खजाना बिल्कुल खाली था। दुरानी के सैनिकों को दो वर्ष से वेतन नहीं मिला था। दिल्ली के खजाने में इतना भी धन नहीं था कि दुरानी अपने सैनिकों को वेतन देकर सन्तुष्ट कर पाता। वे विद्रोह करने पर उतारू हो गये। विवश होकर दुरानी को अफ़गानिस्तान की राह पकड़नी पड़ी। दिल्ली में उसने अफगान रोहिला सरदार नजीबउद्दौला को वजीर नियुक्त किया जिसने सन् १७६१ से १७७० तक दिल्ली पर शासन किया। वह नाम के लिये तो अहमदशाह दुरानी और दिल्ली सम्राट् शाह आलम, दोनों का वज़ीर था।

शाहआलम अंग्रेजों के कुचक्र में—

शाहआलम का राज्यारोह सन् १७५९ में उसकी अनुपस्थिति में ही हुआ था। वह बिहार में अपने भाग्य का निर्णय देख रहा था जहां बंगाल और बिहार के अयोग्य नवाब अंग्रेजों के कुचक्र में फंसे उनके हाथ बंगाल और बिहार की जिमींदारी बेच रहे थे। शाहआलम विधि के अनुसार दिल्ली का सम्राट था; पर था दिल्ली से दूर बिहार में। उधार लिये हुये सैनिकों के बलबूते पर वह अपने भाग्य और साम्राज्य का निर्णय करना चाहता था। क्लाइव के दांव-पेच में वह भी बाजी लगाता रहा; परन्तु अन्त में उसको बंगाल और बिहार की जिमींदारी अंग्रेजों को देनी पड़ी और उसको इलाहाबाद और कांगा की कारदारी मिली। सन् १७७२ के बाद सम्राट् ईस्ट इण्डिया कम्पनी का पेन्शन-भोगी जैसा बन गया। अवध में अंग्रेजी फौज रखी गई जिसका खर्च अवध के नवाब को वहन करना पड़ता था। यह सेना नवाब के सूबे की आक्रान्ताओं से रक्षा करने के लिये रखी गई थी। यह सब कुछ करने के बाद शाहआलम अपने लम्बे प्रवास के बाद सन् १७७२ में दिल्ली चला आया। तब से सन् १७८२ तक ईरानी सरदार मिरजा नजफखान सम्राट् का प्रधान मंत्री (वकीले मुत्लक) रहा। इसने बड़ी योग्यता से शासन चलाया। परन्तु अराजकता और अव्यवस्था चारों ओर फिर भी रही। रोहेले गुलामकादिर के नेतृत्व में दून और शिवालिक क्षेत्र में लूटमार कर रहे थे। उसने बिलासपुर और सिरमौर में भी लूट मचाई। क्यारदादून में कटासन के निकट सिरमौर की सेना ने इसका मुकाबला किया और उसको परास्त किया। सिरमौर के राजा जगत प्रकाश ने इस विजय के उपलक्ष्य में कटासन में देवी के मन्दिर की स्थापना की जो अभी तक विद्यमान है। गुलामकादिर निजामुदौला का पौत्र था, जिसको अहमदशाह दुरानी ने दिल्ली में अपना प्रधान मंत्री (वकीले मुत्लक) नियुक्त किया था। गुलाम कादिर ने सन् १७८५ में दिल्ली पर आक्रमण किया। जब उसको दिल्ली के शाही खजाने में कुछ न मिला तो वह बौखला उठा और क्रोध व पागलपन में उसने मुग़ल सम्राट् शाहआलम की आंखें निकलवा दीं। उस समय महदाजी सिंधिया मुग़ल सम्राट का प्रधान मंत्री था। उसकी अनुपस्थिति में उसने यह जघन्य कार्य किया। महदाजी सिंधिया ने गुलाम कादिर को पकड़कर मृत्यु-दण्ड दिया। अन्धा शाह आलम नाम मात्र के लिये अपने जीवन के अन्त, सन् १८०३ तक मुग़ल सम्राट् रहा।

पंजाब में अराजकता—

पंजाब में सिखों के जत्थे लूट-मार में व्यस्त थे। बघेलसिंह, जस्सासिंह रामगढ़िया, जयसिंह कन्हैया, जस्सासिंह अहलूवालिया, महासिंह सूकरचकिया आदि अपने आप को मिसलों में संगठित कर रहे थे और 'राखी' (रक्षित क्षेत्र) के नाम से अपने-अपने राज्य स्थापित करने का उपक्रम कर रहे थे। इनके लूट-पाट का क्षेत्र पंजाब ही नहीं था, वरन् ये दिल्ली, सहारनपुर, दून आदि क्षेत्र में जाकर लूट करते थे एवं शासकों से 'कर' वसूल करते थे। ये लुटेरे सरदार दून क्षेत्र में कई बार देखे गये। जॉर्ज फॉस्टर ने ऐसे जत्थों को दून में स्वयं देखा था। उसके अनुसार वे श्रीनगर (गढ़वाल) के राजा से चार हजार रुपया वार्षिक 'कर' लेते थे, फॉस्टर सन् १८८२-८३ में श्री नगर से गुजरा था। मध्य-भारत और राजपूताना में अफगान सरदार अमीरखाँ ३० हजार सैनिकों को लेकर आतंक फैला रहा था। ये भाड़े के सैनिक थे। जो चाहे धन देकर इनके द्वारा किसी भी राज्य या क्षेत्र को रौन्दा जा सकता था। उसी युग में कुल्लू के राजा टेडीसिह ने भी वैरागियों की अपने राज्य में एक सेना बनाई थी। उस सेना की संख्या एक हजार थी। वैरागी साधुओं का एक सम्प्रदाय था और अभी भी है। ये जीवन-मुक्त साधु थे; परन्तु उस लूट-खसोट के युग में ये भी वेतन-भोगी सैनिक बन गये। इन्होंने राजा टेडीसिंह के विरोधियों की निर्मम हत्या की थी। मुगल-सत्ता के पतन के बाद उत्तरी भारत में सर्वत्र अराजकता, अशान्ति और अव्यवस्था का वातावरण था। सन् १७५२ में दुरानी ने मुगल सम्राट् अहमदशाह से पंजाब पर विधिवत् अधिकार प्राप्त किया; परन्तु पंजाब में दुरानी शासन की स्थिति डामाडोल ही रही। सिख मिस्लें शक्ति-सम्पन्न हो रही थीं। अफगानों के लिये सिखों को दबाना कठिन हो गया था। वे गोरिल्ला युद्ध में निपुण थे। इनके आक्रामण अप्रत्याशित, छिपकर और द्रुत गति से होते थे। इनके घुड़सवारों ने नादिरशाह की सेना के पृष्ठ भाग को भी लूटा था और नादिरशाह कुछ न कर सका। यह घटना उसकी वापिसी की यात्रा के समय की है। पहाड़ी क्षेत्र के राजे स्वतन्त्र थे। उन पर दुरानी शासन नाम मात्र का था। अपनी शक्ति और अवसर के अनुसार वे एक दूसरे के क्षेत्र पर आक्रमण करते और जितना इलाका हथिया सकते थे, उसको अपने अधीन कर लेते।

राजा घमण्डचन्द—

अहमदशाह दुरानी का समकालीन कांगड़ा का राजा घमण्डचन्द था। ऐसा प्रतीत होता है कि घमण्डचन्द कटोच सेनापति था और वह वीर और प्रभावशाली व्यक्ति था। गोपाल शास्त्री के अनुसार वह वंश परम्परा के आधार पर राज्य का अधिकारी नहीं था। उसका चाचा गम्भीरचन्द राजा था। उसके ग्यारह पुत्र थे। गम्भीरचन्द के मरने पर जब उसके पुत्र अपने पिता का अन्तिम संस्कार करने श्मशान पर गये हुये थे तो घमण्डचन्द ने कुछ लोगों के साथ मिलकर सेना के द्वारा उनको बन्दी बना लिया और सब को अन्धा करके दूर पहाड़ की दराड़ में डाल दिया। इस जघन्य कर्म को करने के बाद उसने राज्य प्राप्त किया। एचीसन के अनुसार दुरानी शासक ने सन् १७५८ में राजा

घमण्डचन्द को जालन्धर द्वाब का नायब राज्यपाल नियुक्त किया था; परन्तु उक्त घटना-क्रम के अनुसार तब तक उसको कांगड़ा का राज्याधिकार प्राप्त ही नहीं हुआ था। सम्भवतः सन् १७६१ में पानीपत के युद्ध में विजय के उपरान्त और काबुल वापिस जाने से पहले, दुरानी ने घमण्डचन्द को पहाड़ी क्षेत्र और जालन्धर द्वाब का नायब राज्यपाल नियुक्त किया हो। इस पद पर प्रतिष्ठित होने पर घमण्डचन्द का कांगड़ा क्षेत्र के सभी राज्यों पर अधिकार हो गया। मण्डी और कुल्लू राज्यों पर इसने आक्रमण किया और उनको लूटा। उसने अपनी सेना में रोहेला अफ़गान और राजपूतों को भरती किया। मूरक्रॉफ्ट के अनुसार इनकी संख्या चार हज़ार थी। कुल्लू पर आक्रमण के समय सम्भवतः इन्हीं अफ़गान और रोहेला मुसलमान सैनिकों ने बजौरा के मन्दिरों की मूर्तियों को खंडित किया था। इसने चम्बा से भी धौलाधार के पूर्वांचल में पठियार दुर्ग और उस क्षेत्र को हस्तगत करने का प्रयास किया परन्तु इसमें उसको आंशिक सफलता मिली। कांगड़ा समुदाय के नूरपुर, गुलेर, दातापुर, सीबा आदि राज्यों पर उसका पूरा अधिकार हो गया था, उसने सुजानपुर टीरा में नई राजधानी और किले का निर्माण आरम्भ किया। सन् १७७४ में उसका निधन हो गया। उसने कांगड़े के किले पर भी अधिकार करने का प्रयत्न किया था, पर इसमें उसको सफलता नहीं मिली। यह किला सन् १६२० से अभी तक मुग़लों के अधिकार में था। उस समय सैफअलीखां नाम का नवाब इस किले का फौजदार था। इस क्षेत्र में मुग़ल-सत्ता समाप्त हो चुकी थी परन्तु नवाब सैफअलीखां अकेला ही शत्रुओं से घिरा इस किले में जमा हुआ था। किले के आस-पास जो भूमि थी उसी की उपज से उसका अपना और उसकी छोटी-सी आत्म-रक्षक सेना का निर्वाह होता था।लगभग तीस वर्ष से वह इस प्रकार इस किले में रह रहा था। किले की सुदृढ़ता और आत्म-निर्भरता के बल-बूते पर वह विकट परिस्थितियों में भी वीरता के साथ इसमें डटा हुआ था।

कांगड़ा में सिखों का आगमन—

सन् १७७० में सिखों की बारह मिसलों में से रामगढ़िया नाम की मिसल के मुखिया जस्सासिंह ने कांगड़ा पर आक्रमण किया और राजा घमण्डचन्द सहित कांगड़ा समुदाय के सभी राज्य उसके अधीन हो गये। अब पहाड़ी राज्य दुरानी के स्थान पर सिख मिसल के अधिकार में आ गये। परन्तु जस्सासिंह का शासन बहुत दिन न चला। इन मिसलों की स्थिति उन दिनों अनिश्चित थी। ये आपस में लड़ते रहते थे, एक दूसरे पर आक्रमण करके अपने प्रतिद्वन्द्वी के इलाके पर अधिकार कर लेते थे। सन् १७७४ में कन्हैया मिसल के मुखिया सरदार जयसिंह ने पंजाब में जस्सासिंह रामगढ़िया को हरा दिया। फलतः कांगड़ा समुदाय पर अब जयसिंह कन्हैया का अधिकार हो गया। इसका शासन काल अपेक्षाकृत अधिक समय तक रहा, सम्भवतः सन् १७८४ तक। सन् १७७४ में घमण्डचन्द का देहावसान हो गया और उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र तेगचन्द हुआ।परन्तु तेगचन्द की भी एक वर्षके अन्दर मृत्यु हो गई। फलतः उसका पुत्र संसारचंद

उत्तराधिकारी हुआ। संसारचन्द का जन्म सन् १७६५ में बीजापुर नामक स्थान पर हुआ था। यह स्थान लम्बा गांव के निकट है। तेगचन्द की मृत्यु के समय संसारचन्द की आयु केवल दस वर्ष की थी। कहा जाता है कि उस समय कटोच राज्य का मंत्री कुन्हों संसारचन्द का संरक्षक और शासन का संचालक था। संसारचन्द को पूरी वयस्कता प्राप्त करने के लिये अभी दस वर्ष की अवधि और अपेक्षित थी। निःसन्देह इस लम्बी अवधि तक उसका मार्ग-प्रदर्शक और राज्य का संचालक कोई योग्य व्यक्ति रहा होगा और सम्भावना यही है कि कुन्हों मंत्री ही इस सुयोग्य संचालन को कर रहा था।

संसारचन्द का कोट कांगड़ा पर अधिकार—

ऐसा भी उल्लेख आता है कि सन् १७७४-७५ के लगभग कोट कांगड़ा का फौजदार नवाब सैफअलीखां मर गया और संसारचन्द ने उस समय सरदार जस्सासिंह रामगढ़िया की सहायता से कांगड़े के किले पर अधिकार करने का यत्न किया। किले पर घेरा डाला गया। कुछ दिन घेरा पड़ने पर, बड़ी चतुरता से किले के सैनिकों को प्रलोभन देकर किले का मुख्य द्वार खुलवाया गया, परन्तु जस्सासिंह के पुत्र गुरुवख्शसिंह के सैनिकों ने पहले किले में प्रवेश किया ओर उसने स्वयं किले पर अधिकार कर लिया। संसारचन्द के सैनिक और अधिकारी देखते रह गये। घटना-क्रम का ऐसा होना तर्कसंगत प्रतीत होता है। उस समय इस क्षेत्र पर अधिकार सरदार जस्सासिंह का ही था। उसके पुत्र ने अपनी प्रतिष्ठा और सत्ता के अनुरूप ही किले पर अधिकार किया। उस युग की राजनीति या रण-नीति में नैतिकता का प्राय: अभाव ही था। संसारचन्द और उसके संरक्षकों को यह वात वहुत चुभी होगी। कटोच वंश के पैतृक किले पर एक के वाद दूसरे बाहर के शासकों का अधिकार होना उनकी प्रतिष्ठा और शक्ति के लिये निःसंदेह घातक था। ऐसी भी धारणा है कि सन् १७७४-७५ में कोट-काँगड़ा को हस्तगत करने का प्रयत्न किया गया, परन्तु सफलता नहीं मिली थी और नवाब सैफअलीखां सन् १७८४ तक जीवित रहा। सन् १७७४-७५ के ही लगभग सरदार जयसिंह कन्हैया ने जस्सासिंह रामगढ़िया को पंजाब में परास्त करके उसको हांसी की ओर भगा दिया और स्वयं जालन्धर द्वाब का शासक बन गया। कांगड़े का किला भी उसके अधिकार में आ गया। तत्कालीन एक दस्तावेज से जिसका उल्लेख कांगड़ा की सैटलमैण्ट रिपोर्ट में किया गया है, पता लगता है कि सरदार जयसिंह ने चम्बा के राजा पर सन् १७७६में ४००रुपये का कर लगाया था। गोपालशास्त्री ने हरिपुर गुलेर में प्राप्त एक ऐसे चित्र का उल्लेख किया है जिसमें जयसिंह कन्हैया को सिंहासन पर बैठा दिखाया गया है और उसके दांये-बांये चम्बा, गुलेर, जस्वां, सीवा, कांगड़ा आदि राज्यों के राजा एवं कुछ प्रमुख मंत्री बैठे दिखाये गये हैं। यह चित्र सन् १७७६ के लगभग का होगा। चित्रित व्यक्तियों के नाम देवनागरी लिपि में लिखे हैं। इससे स्पष्ट है कि सन् १७७५ में जस्सासिंह के निष्कासन पर जयसिंह कांगड़ा समुदाय का सर्वोपरि शासक बन गया और वह इस स्थिति में सन् १७८५ तक इस क्षेत्र में रहा। परन्तु पंजाब में उसको सूकरचकिया मिसल से कड़ा

मुकाबला करना पड़ा। इस मिसल का मुखिया सरदार महासिंह शक्ति सम्पन्न हो रहा था। महासिंह ने रणजीतदेव के राज्य की बहुसम्पन्न राजधानी जम्मू नगर को लूट कर असाधारण सम्पन्नता प्राप्त की थी और उसकी धाक अन्य मिसलों में सर्वोपरि हो रही थी। उसने जयसिंह कन्हैया का पंजाब और पर्वतीय क्षेत्र में मुकाबला किया। उस समय कोट-कांगड़ा पर जयसिंह कन्हैया का अधिकार था। इन दोनों मिसलों में निरन्तर संघर्ष होता रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि संसारचन्द भी जयसिंह से छुटकारा पाना चाहता था। जॉर्ज फॉरस्टर सन् १७८३ में कांगड़ा के मार्ग से काश्मीर की ओर जा रहा था। उसने अपने यात्रा-विवरण में कोट-कांगड़ा के घेरे का उल्लेख किया। गोपाल शास्त्री ने स्थानीय साक्ष्यों और परम्पराओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि फॉरस्टर का संकेत कि सन् १७८३ में कांगड़े के किले पर घेरा पड़ा था, ठीक है परन्तु यह घेरा नवाब सैफअली खां के विरुद्ध नहीं था; सैफअली सन् १७७४ में मर चुका था और तत्कालीन घेरे के परिणाम में किले का कब्जा सरदार जयसिंह कन्हैया को मिला था और तब से लेकर सन् १७८४ तक उसी का शासन और अधिकार कांगड़े के किले समेत इस क्षेत्र पर रहा। परन्तु साथ ही वह पंजाब में सूकरचकिया मिसल के साथ संघर्ष-रत था। सन् १७८० के लगभग कांगड़ा के किले पर सूकरचकिया मिसल और संसारचन्द ने मिलकर घेरा डाला। जॉर्ज फॉरस्टर ने यही घेरा देखा था। सन् १७८४ में सैफअलीखां के जीवित होने की बात भ्रान्तिपूर्ण है। यह घेरा सम्भवतः बहुत लम्बा चला। सन् १७८४ के लगभग जयसिंह पंजाब में सूकरचकिया मिसल से परास्त हुआ और सन १७८५ में संसारचन्द का कांगड़े के किले पर अधिकार हो गया। सन् १६२० में कोट कांगड़ा कटोच वंश के हाथों से निकल कर मुगलों के अधिकार में चला गया था। लगभग १६५ वर्ष के बाद पुनः इस वंश के अधिकार में आया। परन्तु यह अधिकार भी अल्पकाल तक ही रहा। सन् १८०९ में यह किला संसारचन्द के हाथ से निकल कर पंजाब के शासक रणजीतसिंह के अधिकार में चला गया। तत्कालीन शासन-व्यवस्था और रणनीति के अनुसार इस किले का बहुत महत्व था। ऐसा कहा जाता था कि जिसका अधिकार इस किले पर होगा, वही इस पहाड़ी क्षेत्र पर शासन करेगा। वास्तव में १७८५ के उपरान्त राजा संसारचन्द का असाधारण अभ्युदय हुआ और लगभग बीस वर्ष तक उसने सतलुज और रावी के बीच के क्षेत्र में एक निरंकुश और शक्तिशाली शासन स्थापित किया।

संसारचन्द द्वारा विजय-अभियान—

कोट काँगड़ा पर अधिकार होने के बाद राजा संसारचन्द ने अपने पुरातन गौरव को पुनः स्थापित करने के लिये इस क्षेत्र के ग्यारह राज्यों को अपने अधीन करना चाहा। रेहलू का इलाका पठियार दुर्ग सहित अभी तक चम्बा के पास था। मुगलों के समय यह क्षेत्र उस कारदारी का भाग था जो अकबर ने ६६ गांवों को लेकर कांगड़ा में स्थापित की थी। घमण्डचन्द ने इस प्रदेश को लेने का प्रयत्न किया था। इसमें उसको आंशिक

सफलता मिली थी। परन्तु चम्बा ने पुनः अधिकार कर लिया था। संसारचन्द ने चम्बा के राजसिंह को यह इलाका खाली करने को कहा; परन्तु राजसिंह ने खाली करने की बजाय अपनी सीमा के साथ सेना का जमाव बढ़ा दिया और किलों की मरम्मत करके अपनी शक्ति को सुदृढ़ किया। राजसिंह ने नूरपुर राज्य से भी सहायता मांगी। नूरपुर और चम्बा की सेनाएं नेरटी नामक स्थान पर एकत्रित हुई; परन्तु संसारचन्द की सेना ने अचानक उस पर धावा बोल दिया और वे तितर-बितर हो गई। नूरपुर की सेनाएं युद्ध-
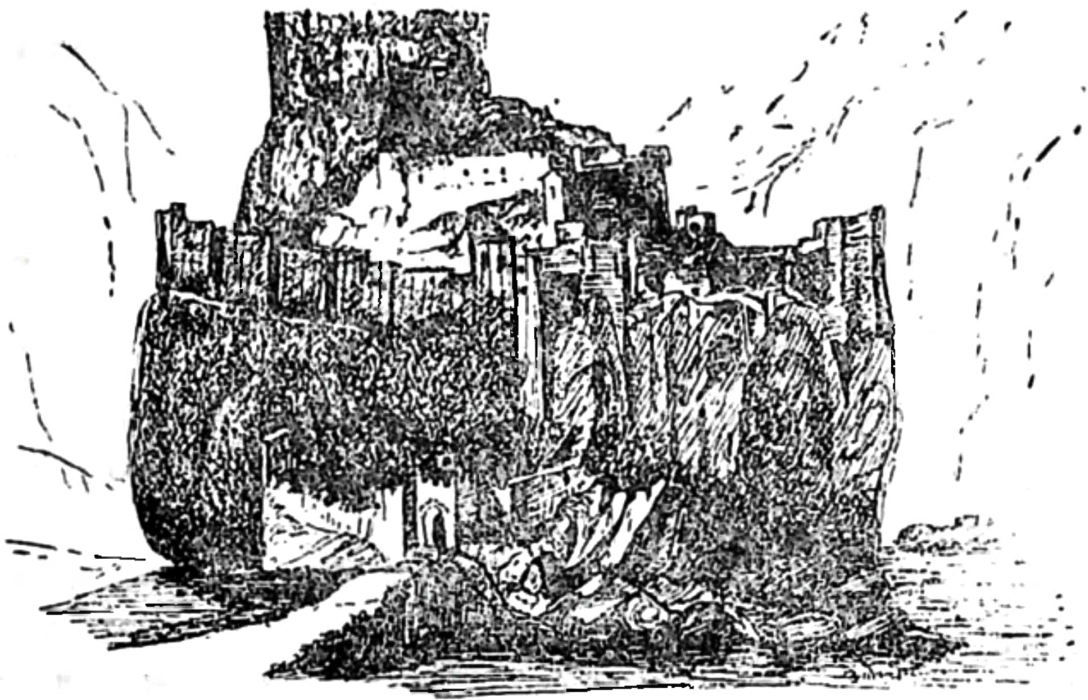
1905 के भू-कम्प से पूर्व प्रसिद्ध कांगड़ा दुर्ग

क्षेत्र छोड़कर भाग गई। चम्बा की सेना ने कुछ समय तक मुकाबला किया; परन्तु संसारचन्द की सेना के प्रबल प्रहार को न सह सकी। उसकी सेना के अधिकारियों ने राजसिंह को भी युद्ध-भूमि छोड़कर भागने का परामर्श दिया; परन्तु राजसिंह ने यह कह कर कि युद्ध-भूमि से भागना क्षत्रिय का धर्म नहीं, लड़ते रहने का संकल्प किया और अपने ४५ अंगरक्षकों के साथ अतुल शौर्य प्रदर्शित कर युद्ध में वीरगति पाई। रेहलू का सारा क्षेत्र कांगड़ा के अधीन हो गया। सन् १७९२ में संसारचन्द ने मण्डी पर आक्रमण किया और नगर को लूटा। मण्डी राज्य का कुछ भाग इसने अपने अधिकार में ले लिया, कुछ कुल्लू और सुकेत को दे दिया। मण्डी राज्य पर उसने एक लाख रुपया वार्षिक कर नियत किया। मण्डी के राजा ईश्वरीसेन जो उस समय बालक ही था वह बन्दी बनाकर उसको सुजानपुर टीरा ले गया। बारह वर्ष तक ईश्वरीसेन संसारचन्द का बन्दी या उसके संरक्षण में रहा। सन् १८०५में गोरखाओं ने उसको इस बन्धन से मुक्त किया था। सुकेत के राजा के भाई किशनसिंह की लड़की संसारचन्द को व्याही थी। अतः उसकी सुकेत राज्य को ध्वस्त करने की कठोर नीति न रही। पश्चिमी क्षेत्र के सभी बड़े राज्य, चम्बा,

नूरपुर, कुल्लू, मण्डी और सुकेत संसारचन्द के राज्य-काल के आरम्भिक वर्षों में ही उसकी पकड़ में आ गये थे। कांगड़ा क्षेत्र के छोटे-छोटे राज्य, हरिपुर गुलेर, सीवा, तादारपुर आदि उसके वंशधरों के ही राज्य थे; पर संसारचन्द कर सभी से लेता था। इन अधीनस्थ राजाओं को कर देने के अतिरिक्त समय-समय पर विजय अभियानों में जाना पड़ता था। कहलूर राज्य (बिलासपुर) पर संसारचन्द ने दो बार आक्रमण किया और सतलुज के बायें किनारे के सारे क्षेत्र पर अधिकार कर लिया था। इस प्रकार थोड़े ही वर्षों में सतलुज से लेकर रावी तक के समस्त प्रदेश पर संसारचन्द का निर्विरोध अधिकार हो गया। यह स्थिति लगभग बीस वर्ष तक रही। इन राजाओं को समय-समय पर संसारचन्द के दरबार में आना पड़ता था। शासन-व्यवस्था और इन अधीनस्थ राजाओं के साथ सम्बन्ध मुगल परम्परा के अनुरूप था। उत्तराधिकार की स्वीकृति राजा संसारचन्द देता था और उत्तराधिकार प्राप्त करते समय संसारचन्द को नजराना देना पड़ता था। संसारचन्द नये राजा को सम्मानार्थ उपहार, वस्त्र आदि खिल्लत के रूप में देता था। उस युग के राजा व दरबारी मुग़लों की तरह वस्त्र पहनते थे। सिर पर मुग़ल ढंग की पगड़ी, लम्बा चोगा और कमरबन्द बहुमूल्य कपड़ों के होते थे।

विलियम मूरक्रॉफ्ट सुजानपुर टीरा में—

सन् १८२० की वर्षा ऋतु में मूरक्राफ्ट नाम का एक अंग्रेज पर्यटक सुजानपुर टीरा में संसारचन्द का सम्मानित अतिथि रहा। मूरक्राफ्ट ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार के अश्व-विभाग का अध्यक्ष था और लद्दाख के मार्ग से घोड़े खरीदने बुखारा जा रहा था। उसने अपने यात्रा-विवरण में राजा संसारचन्द की तत्कालीन स्थिति का रोचक उल्लेख किया है। तब कांगड़ा के किले और सतलुज के पार समस्त पहाड़ी क्षेत्र पर रणजीतसिंह का अधिकार था। यह अधिकार सन् १८०९में हो चुका था। मूरक्रॉफ्ट के अनुसार राजा संसारचन्द को निरन्तर यह भय रहता था कि रणजीतसिंह कभी-भी उसके राज्य को हस्तगत करके उसको पदच्युत कर लेगा। साल में कम-से-कम एक बार उसको रणजीतसिंह के दरबार में जाना पड़ता था। सिख राजा के विजय-अभियानों में भी उसको सैन्यसहायता देनी पड़ती थी। अब संसारचन्द का राज्य कांगड़ा क्षेत्र में ही सीमित था। उत्तर से दक्षिण को इसकी लम्बाई ४० कोस और पूर्व से पश्चिम की चौड़ाई १५ से ४० कोस के बीच में थी। अपने उत्कर्ष के समय सिन्ध से सतलुज तक का क्षेत्र इस के अधीन था। उस समय संसारचन्द की आय ३५ लाख रुपये थी, परन्तु तब यह केवल ७० हजार थी। इसी से उसको अपनी सेना, नौकर-चाकर, विशाल अन्तःपुर, हरम और राज्य एवं दरबार के सभी खर्च निभाने पड़ते थे। राजा संसारचन्द ६० वर्ष की आयु का वृद्ध व्यक्ति था, उसका रंग सांवला पर मुखाकृति सुन्दर और अभिव्यक्तिपूर्ण थी। उसका पुत्र अनिरुद्धसिंह गौर-वर्ण और स्थूलकाय था। संसारचन्द के दरबार में कई चित्रकार और गाने-बजाने वाले थे। चित्र-कला का विषय महाभारत के आख्यान, और राधा-कृष्ण सम्बन्धी थे और व्रज भाषा के गीत गायन के विषय थे। राजा संसारचन्द दस बजे तक

का समय पाठ-पूजा में व्यतीत करता था और तदुपरान्त मध्यान् काल तक राज्य के काम-काज करता था। दोपहर के भोजनोपरान्त वह दो-तीन घण्टे विश्राम करता था। सायं काल का समय नृत्य-गायन या चौपड़ खेलने में व्यतीत होता था। ओग्रीन नाम का एक अंग्रेज अधिकारी सेना का अध्यक्ष था। वह चौदह सौ के लगभग सैनिकों को प्रशिक्षित करता था। यह अंग्रेजी सेना का भगोड़ा था। राजा संसारचन्द के यहां उसने नौकरी स्वीकार की। जेम्स नाम का एक और अनपढ़ अंग्रेज राजा के यहां नौकरी करता था। वह लोहार के काम को जानता था; वह राजा के लिये बन्दूकें बनाता था। व्यास के पार टीरा में संसारचन्द के पूर्वजों के महल थे; परन्तु संसारचन्द ने अपने लिये टीरा के सामने व्यास के दाहिने किनारे पर महल बनाया हुआ था। वहीं बगीचे में अपने उपयोग के लिये और मकान भी बनाये हुये थे। कहते हैं कि एक बार रणजीतसिंह ने संसारचन्द को कहा कि मैंने सुना है कि सुजानपुर टीरा के महल बहुत सुन्दर और दर्शनीय हैं। मैं उनको देखना चाहता हूं। संसारचन्द रणजीतसिंह से दूर ही रहना चाहता था। वह उसकी लोलुप प्रवृत्ति से परिचित था। अतः उसने कहा कि वहां आपके देखने योग्य कोई आकर्षण नहीं है और रणजीतसिंह के दूतों के पहुंचने से पहले ही संसारचन्द ने टीरा के पुराने महलों का कुछ भाग खण्डहर कर दिया। मूरक्रॉफ्ट के सुजानपुर में रहते हुए, दो स्त्रियां सती हुई थीं, जिनमें से बड़ी की आयु केवल चौदह वर्ष की थी। उसी अवधि में संसारचन्द का छोटा भाई फतेहसिंह बहुत बीमार हुआ। वैद्य और हकीमों का उपचार व्यर्थ हो गया। मूरक्रॉफ्ट स्वयं डॉक्टर था; पर उस पर विश्वास के अभाव में आरम्भ में उससे उपचार नहीं कराया गया। उसकी अन्तिम अवस्था जब निकट आ गई और अन्तिम क्रिया करने के लिये उसको जमीन पर रख दिया गया और उसके हाथ से गाय-दान किया जाने वाला था तो एक ब्राह्मण ने सुझाव दिया कि फिरंगी द्वारा इलाज भी करके देख लिया जाय। तत्काल मूरक्रॉफ्ट को बुलाया गया। उसकी दवाई से बीमार को कुछ चेतना आई और दो-तीन दिन के उपचार के उपरान्त फतेहसिंह की हालत आशा-जनक हो गई। एक हफ्ते के बाद वह बिल्कुल स्वस्थ हो गया। इससे राज-परिवार और प्रजा में हर्ष की लहर दौड़ गई। मूरक्रॉफ्ट के प्रति राजपरिवार की कृतज्ञता शब्दों में व्यक्त नहीं की जा सकती थी। कहां तो फतेहसिंह की रानियां उसकी चिता में सती होने की तैयारियां कर रही थीं और कहां फिरंगी के इलाज से उसको पुनर्जीवन प्राप्त हुआ। इस उल्लास में सारा परिवार मूरक्रॉफ्ट के प्रति बहुत कृतज्ञ था। परम्परागत विधि से फतेहसिंह और मूरक्रॉफ्ट में धर्म भाई बनने की रस्म सम्पन्न की गई। फतेहसिंह ने मूरक्रॉफ्ट का टोप अपने सिर पर रखा और फतेहसिंह की पगड़ी मूरक्रॉफ्ट ने अपने सिर पर रखी। दोनों ने एक दूसरे के सिर पर रुपये वार करके गरीबों को दिये। संसारचन्द ने मूरक्रॉफ्ट को जागीर देने का प्रस्ताव भी किया; परन्तु वह तो एक विशिष्ट ध्येय के लिये लम्बी यात्रा पर जा रहा था। अतः जागीर लेने से उसने इन्कार किया। ये घटनाएं राजा संसारचन्द के पराभव काल की हैं।

गोरखाओं का आगमन--

संसारचन्द का पराभव सन् १८०३ से आरम्भ हुआ। अट्ठारहवीं सदी के अन्तिम चरण में नैपाल के शासक गोरखाओं ने पश्चिम की ओर पहाड़ी क्षेत्र में अपने राज्य का विस्तार आरम्भ किया। सन् १७९२ तक उन्होंने कमाऊं और गढ़वाल पर अधिकार कर लिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय दून और भावर क्षेत्र में सिरमौर का अधिकार था। वैसे यह गढ़वाल-राज्य का अंग था; पर उस अनिश्चितता के युग में सीमावर्ती क्षेत्रों पर अधिकार बदलता रहता था। उस समय गढ़वाली राज्य की स्थिति बहुत कमजोर थी। परिणामतः उस क्षेत्र में सिरमौर का अधिकार था। गोरखा विजेताओं ने सिरमौर राज्य के साथ मित्रता की सन्धि की और भागीरथी जिसको भूल से अलकनन्दा भी कहा गया है, सिरमौर और गोरखा राज्य की सीमा मानी गई। यह सन्धि और सीमा-निर्धारण सन् १७९२ में हुआ। उसके बाद नेपाल की कुछ आन्तरिक घटनाओं के कारण गोरखाओं की शक्ति का विस्तार लगभग दस वर्ष के लिये पश्चिम दिशा की ओर रुक गया। परन्तु सन् १८०३ में नैपाल का विस्तारवाद पुनः आरम्भ हुआ और दो वर्षों में सन् १८०५ तक गोरखा सैन्य शक्ति सतलुज के किनारे तक पहुंच गई। सिरमौर, शिमला क्षेत्र के बाहर बड़ी और अट्ठारह छोटी ठकुराइयां, नालागढ़ और बिलासपुर सभी राज्य गोरखा विस्तारवाद की परिधि के अन्दर आ गये। ऐसा उल्लेख मिलता है जिसका विस्तार से आगे वर्णन किया जायेगा कि सन् १८०६ में सिरमौर में हण्डूर (नालागढ़) और संसारचन्द की सेनाओं की नैपाली और सिरमौर की सेना के साथ दो बार मुठभेड़ हुई। पहली बार नैपाली हार गये; परन्तु दूसरी बार जब अमरसिंह थापा स्वयं लड़ाई में भाग लेने आया तब कांगड़ा और नालागढ़ की सेनाएं हार गईं। सम्भव है उस समय संसारचन्द और गोरखा कमाण्डर अमरसिंह थापा या रुद्रबीरशाह के मध्य एक सन्धि हुई थी जिसमें अन्य बातों के अलावा सतलुज तक गोरखा राज्य की सीमा निश्चित की गई थी। उधर संसारचन्द के अधीनस्थ सभी राज्य उसकी दमननीति के कारण उससे छुटकारा पाने के लिये छटपटा रहे थे। इनमें कुल्लू और चम्बा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सभी राज्य संसारचन्द के विरुद्ध संगठित होना चाहते थे; परन्तु इन में पारस्परिक अविश्वास था और संसारचन्द से वे भयत्रस्त थे। बिलासपुर का राजा महाचन्द संसारचन्द से बदला लेने के लिए सबसे अधिक आतुर था क्योंकि संसारचन्द ने बिलासपुर राज्य के सतलुज पार के क्षेत्र पर अधिकार कर लिया था। गोरखा कमाण्डर अमरसिंह थापा बिलासपुर तक पहुंच चुका था। वह ऐसे अवसर की ताक में था। अमरसिंह थापा को बिलासपुर, चम्बा, सिरमौर कांगड़ा क्षेत्र के राज्यों ने सहायता का आश्वासन दिया। सन् १८०६ में गोरखा सेना ने सतलुज नदी पार करके सन्धि को तोड़ा और शीघ्र ही कांगड़ा दुर्ग को घेर लिया। यह घेरा सन् १८०९ तक चला। अन्त में संसारचन्द ने रणजीतसिंह से सहायता मांगी। रणजीतसिंह ने इस शर्त पर सहायता देना स्वीकार किया कि कोट-कांगड़ा पर उसका अधिकार होगा और

संसारचन्द का कांगड़ा क्षेत्र में केवल अपने पैतृक राज्य पर ही शासन रहेगा। उसके वदले रणजीतसिंह ने गोरखाओं को सतलुज पार भगा दिया। सन् १८०९ से कांगड़ा समुदाय के सभी राज्य लाहौर दरबार के अधीन हो गये और सन् १८४६ तक इसी रूप में रहे।
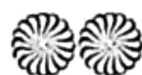
८. बारह बड़ी और अठारह छोटी ठकुराइयों में गोरखा-प्रसार

यमुना और सतलुज का मध्यवर्ती क्षेत्र—

सतलुज और यमुना नदियों के मध्यवर्ती क्षेत्र में बहुत प्राचीन काल से कई ठकुराइयां थीं। इनमें से कइयों का अस्तित्व तो दसवीं-ग्यारहवीं सदी से आरम्भ माना जाता है, परन्तु अधिकांश का उदय पन्द्रहवीं सदी के लगभग या उसके भी बाद हुआ प्रतीत होता है। इसी क्षेत्र में तीन बड़े राज्य भी थे। इन बड़े राज्यों के नाम थे—बिलासपुर, सिरमौर और बुशैहर। बिलासपुर राज्य दक्षिण-पश्चिमी सीमा पर था, सिरमौर पूर्व-दक्षिण में और बुशैहर उत्तर और उत्तर-पश्चिमी सीमा पर स्थित था। टौंस और यमुना इस क्षेत्र की पूर्वी सीमा बनाती थी और सतलुज पश्चिमी सीमा पर बहती थी। बुशैहर के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र कनौर को सतलुज दो भागों में बांटती है। इस प्रकार सतलुज की उपरि उपत्यका कनौर कहलाती है। बिलासपुर राज्य को भी सतलुज दो भागों में बांटती हैं; सतलुज-वार और सतलुज-पार का क्षेत्र सतलुज-पार का क्षेत्र कांगड़ा के साथ लगता था। यहां पहले कांगड़ा के कटोच राजाओं का अधिकार था और बाद में रणजीतसिंह का शासन स्थापित हुआ। इन तीन बड़े राज्यों से घिरे बीच में लगभग तीस ठकुराइयां थीं। इनके शासक राणा या ठाकुर कहलाते थे। इन ठकुराइयों के क्षेत्र को आधुनिक युग में, अंग्रेजों के शासन-काल में, शिमला-पहाड़ी क्षेत्र कहते थे। सतलुज और यमुना के मध्यवर्ती पहाड़ी राज्यों पर अंग्रेजों का अधिकार सन् १८१५ में गोरखाओं को युद्ध में पराजित करने के बाद हुआ। इससे पहले सन् १८०३ से १८१४ तक यह क्षेत्र लगभग ग्यारह वर्ष तक गोरखाओं के अधीन रहा। गोरखा-युद्ध के समय अंग्रेजों को इस इलाके का ज्ञान हुआ। सतलुज-पार के क्षेत्र, पंजाब पर पूर्णरूप से इसके लगभग इकतीस वर्ष बाद सन् १८४६ में अंग्रेज़ों का अधिकार हुआ था। आरम्भ में शिमला-क्षेत्र के राज्यों और ठकुराइयों से सम्पर्क स्थापित करने के लिये, लेफ्टिनैण्ट रौस को सहायक पोलिटिकल एजेण्ट नियुक्त किया गया। इसका कार्यालय स्पाटू में था। उसके बाद सन् १८१८ से मेजर कैनेडी इस पद पर आया, इसने सबसे पहले अपना कार्यालय शिमला में स्थापित किया। लेफ्टिनैण्ट रौस ने गोरखा युद्ध के समय हण्डूर(नालागढ़) की सेना का नायकत्व किया था और बन्दला के मार्ग से उतरकर हण्डूरी सेना ने इसके अधीन बिलासपुर नगर पर अधिकार किया था। लेफ्टिनैण्ट रौस ने सबसे पहले यमुना और

सतलुज के मध्य स्थित बारह बड़ी और अठारह छोटी ठकुराइयों का उल्लेख किया। १२ बड़ी ठकुराइयों के नाम इस प्रकार थे :—

१. क्योंथल, २. बघाट, ३. कुठाड़, ४. कुनिहार, ५. भज्जी, ६. धामी, ७. महलोग, ८. कोटी, ९. क्यारी (मधाण), १०. कोटगढ़ (कोटखाई), ११. ठ्योग और १२. बाघल।

१८ छोटी ठकुराइयां—

१. जुब्बल, २. बलसन, ३. कुमारसेन, ४. खनेटी, ५. डेलट, ६. रांवी, ७. कुरांगुलू, ८. उत्तरोच (थरोच), ९. कुनैटू, १०. बेजा, ११. सांगरी, १२. नावर, १३. सारी, १४. रतेश, १५ डोडरा क्वार, १६. घूण्ड, १७. भरोली और १८. शिली (दरकोटी)।

उपरोक्त राज्यों में बड़ी और छोटी ठकुराइयों का भेद सर्वथा तर्क-हीन प्रतीत होता है। बड़ी ठकुराइयों में कुठाड़, कुनिहार, ठ्योग, महलोग, कोटी (मधाण), भज्जी जैसी छोटी ठकुराइयों को सम्मिलित किया गया है जबकि जुब्बल, बलसन और कुमारसेन
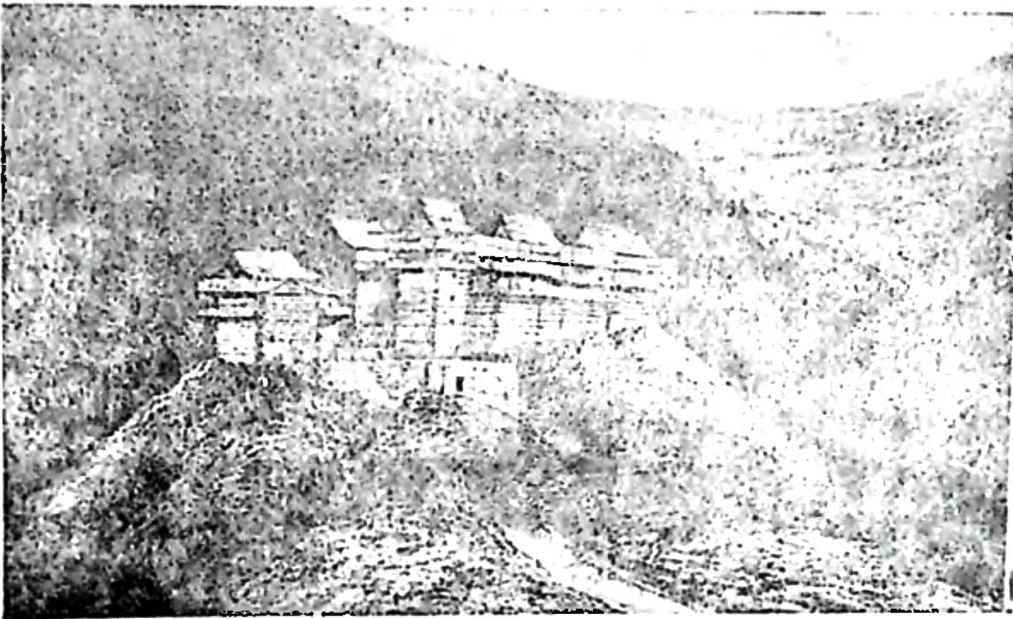
१८ वीं सदी में निर्मित राणा जुब्बल का महल

जैसी बड़ी ठकुराइयों को छोटे राज्यों में सम्मिलित किया गया है। सम्भवतः लेफ्टिनैण्ट रीस को जैसे किसी ने सूचना दी, उसने वैसे ही यह सूची बनाई हो। भौगोलिक दृष्टि से १८ छोटी ठकुराइयां निःसन्देह एक-दूसरे की पड़ौसी थीं और उसी प्रकार बड़ी ठकुराइयां भी इस दृष्टि से एक ही क्षेत्र में स्थित थीं, सिवाय कोटी, ठ्योग और मधाण के। फिर अंग्रेजों के आगमन के समय इनमें से कई ठकुराइयां समाप्त प्राय हो चुकी थीं। कुरांगुलू और कनैटू जो नारकण्डा के निकट छोटी ठकुराइयां थीं, कुमारसेन राज्य में मिल गई थीं। यह विलय बुशैहर के प्रभाव के कारण हुआ था। गोरखा युद्ध से पहले कुमारसेन राज्य का अधिपति बुशैहर था। इसी प्रकार सारी डोडराक्वार और नावर का भी

विलय बुशैहर राज्य में हो गया था। अंग्रेजों का राजनैतिक अधिकारी विलियम फ्रेजर जब सन् १८१५ के मई मास में रोहडू क्षेत्र में गया था तो सारी की विधवा रानी उसको रास्ते में मिली थी। चादरों से बने परदे के पीछे बैठकर उसने उस अधिकारी से अपने राज्य को पुनः प्राप्त करने की प्रार्थना की थी परन्तु इसका परिणाम कुछ नहीं निकला। इनमें बड़ी ठकुराइयां छोटी-छोटी ठकुराइयों का अधिपति होने का दावा करती थीं, जैसे जुब्बल रांवी और शिली(दरकोटी)पर अपना अधिकार मानता था। कई छोटी ठकुराइयों पर दो से अधिक बड़े राज्य अपने अधिकार का दावा करते थे। गढ़वाल, जुब्बल, डोडाराक्वार, उत्तरोच, रावी और सारी की ठकुराइयों का अधिपति बनने का प्रयास और दावा करता था। इसी प्रकार बुशैहर भी इनको अपने अधीनस्थ समझता था। ठ्योग, मधान, बलसन और रतेश का अधिपति बनने का दावा सिरमौर और क्योंथल और बुशैहर तीनों करते थे। इन छोटी ठकुराइयों पर अधिकार परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता था। क्योंथल, सिरमौर और बुशैहर में इन पर स्वामित्व प्राप्त करने के लिये संघर्ष होता रहता था। छोटी ठकुराइयों का अपना स्वतंत्र अस्तित्व कभी नहीं रहा, वे सदा ही अपने से बड़ी राज्य-सत्ता की छत्र-छाया में जीवित रह सकती थीं।

सिरमौर राज्य का विस्तार और प्रभुत्व—

अंग्रेजों के आगमन के समय बारह बड़ी ठकुराइयां सिरमौर के अधीन थीं। उससे पहले इन पर बिलासपुर का अधिकार था। इनमें से अधिकांश ठकुराइयां निचले क्षेत्र में थीं। ऊपर के क्षेत्र की छोटी ठकुराइयां इन्हीं में से बड़ी ठकुराइयों के अधीन थीं। बुशैहर, क्योंथल और जुब्बल बड़े राज्य थे, पर इन पर शक्तिशाली राज्य सिरमौर या बिलासपुर का अधिकार होता था। सिरमौर बहुत प्राचीन राज्य था। परम्परा के अनुसार एक नटी के अभिशाप के फलस्वरुप गिरीनदी के तट पर स्थित राजवन नाम की राजधानी प्रलय- तुल्य भू-कम्प से ध्वस्त हो गई। कहते हैं कि नटी एक सूत के धागे पर नाचती हुई गिरी नदी को पार कर गई थी। उसको यह वचन दिया गया था कि यदि वह धागे पर नृत्य करती हुई फिर गिरी नदी के पार आ जाय तो उसको सिरमौर का आधा राज्य दे दिया जावेगा। वापिस आते हुये किसी ने धागा काट दिया और नटी गिरी नदी में गिर कर मर गई परन्तु वह यह शाप दे गई कि सिरमौर राज-वंश इस विश्वासघात के कारण नष्ट हो जावेगा। ग्यारहवीं सदी के अन्तिम चरण में जैसलमेर का राजकुमार उग्रसेन राव तीर्थ-यात्रा पर हरिद्वार आया हुआ था। उस समय सिरमौर की राजगद्दी वहां के राज-वंश के नष्ट हो जाने से खाली पड़ी थी। इस राज्य के प्रतिष्ठित लोगों के आग्रह से उग्रसेन राव सिरमौर आया और लोगों ने उसको राजगद्दी पर बिठाया। अब उसकी राजधानी राजवन से हटकर यमुना पार कालसी में स्थापित की गई जहां कई पीढ़ियों तक इस वंश के राजाओं ने सिरमौर पर शासन किया। तेरहवीं सदी के आरम्भ में समरप्रकाश नाम के राजा ने उत्तर में रतेश क्षेत्र को जीता, यह इलाका गिरी नदी के तट पर था। उसके पुत्र सूर्य प्रकाश ने घूण्ड, ठ्योग, सारी, रावी,

वलसन और जुब्बल को जीता और वहां अपने वंशजों को नियुक्त किया। सम्भव है कि वलसन, जुब्बल और उत्तरोच (थरोच) की ठकुराइयों की स्थापना इसी समय हुई हों—इन राज्यों के शासक सिरमौर के वंशधर माने जाते थे। पन्द्रहवीं सदी के आरम्भ में राजा नक्तप्रकाश गद्दी पर बैठा। तब तक सिरमौर का राज्य-विस्तार गिरी-पार के क्षेत्र में काफी दूर उत्तर में हो गया था। अतः नक्तप्रकाश का अधिक समय उत्तरी क्षेत्र रतेश में ही व्यतीत हुआ। उसने नीरी नामक स्थान पर अपनी राजधानी बनाई; कोट, गरजड़ी और जोगरी के किलों का निर्माण किया। लगभग आधी शताब्दी तक सिरमौर राज्य का मुख्य केन्द्र रतेश क्षेत्र में रहा, परन्तु दक्षिणी क्षेत्र का केन्द्र कालसी ही रहा। सन् १६२१ में राजा कर्मप्रकाश ने राजधानी कालसी से बदल कर नाहन में स्थापित की। क्यारदादून, जौनसार-बावर और यमुनापार का दून क्षेत्र तब सिरमौर के अधीन थे। कालसी इस क्षेत्र के मध्य में स्थित था। परन्तु बाद में गिरी नदी की उपरि घाटी को जीतने के वाद रतेश कुछ काल के लिये सिरमौर राज्य का केन्द्र रहा। कालसी गर्म स्थान था और साथ ही नाना प्रकार की वीमारियों का केन्द्र भी। नाहन जलवायु की दृष्टि से अधिक आकर्षक था। सतरहवीं सदी के प्रथम चरण में नाहन सिरमौर की राजधानी बनी। परन्तु इसका प्रभाव-क्षेत्र उत्तरी पहाड़ी ठकुराइयों पर बहुत प्राचीनकाल से था। उत्तरी क्षेत्र में स्थित छोटी ठकुराइयां प्रायः सिरमौर के अधीन ही रही प्रतीत होती हैं। इसके साथ ही कुछ ठकुराइयों पर बुशैहर का अधिकार था। बुशैहर की सीमा के साथ लगने वाली ठकुराइयां जैसे कोटगढ़, खनेटी, मधाण, कोटी आदि अधिकांशतः बुशैहर के प्रभाव-क्षेत्र में ही रहीं।

बिलासपुर का प्रभाव-क्षेत्र—

गोरखा-आक्रमण से पहले १२ बड़ी ठकुराइयों पर बिलासपुर का अधिपत्य बताया जाता है। बिलासपुर के राजा देवीचन्द का शासन-काल अहमदशाह दुरानी के आक्रमणों का समय था। वह लूटमार का युग था। देवीचन्द ने कांगड़ा, गुलेर और जसवां क्षेत्र को लूटा जिसके फलस्वरूप दुरानी के फौजदार ने इसको पकड़ कर लाहौर में बन्दी बनाकर रखा। बाद में जम्मू के राजा ने एक लाख रुपये की फिरौती देकर इसको छुड़ाया। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके बाद राजा देवीचन्द ने सतलुज-पार की पहाड़ी ठकुराइयों को जीता। अठारहवीं सदी के अन्तिम चरण में इन बारह ठकुराइयों पर बिलासपुर का अधिकार था। बिलासपुर राज्य के वृत्तान्त के अनुसार १२ ठकुराइयां और उनसे प्राप्त होने वाला वार्षिक कर इस प्रकार से था :—

(१) बाघल १००० रु०, (२) बघाट १०० रु०, (३) क्योंथल ३००० रु०, (४) बेजा १०० रु०, (५) मांगल १०० रु, (६) भज्जी ७०० रु०, (७) महलोग ७००रु०, (८) धामी ३०० रु०, (९) कुठाड़ १०० रु०, (१०) कोटखाई ३०० रु०, (११) कुनिहार १०० रु०, और (१२) वलसन २०० रु०।

सन् १७९० के लगभग ये ठकुराइयां बिलासपुर के प्रभाव से मुक्त हो गईं;

तब राजा देवीचन्द का देहान्त हो चुका था और उसका उत्तराधिकारी महाचन्द अभी बालक ही था। राज्य का शासन वजीरों की सहायता से राजमाता नागरदेवी चला रही थी; परन्तु बिलासपुर और उसके अधीनस्थ ठकुराइयों को हड़प करने के लिए हण्डूर (नालागढ़) और कांगड़ा एक तरफ से और सिरमौर दूसरी ओर से संघर्ष-रत थे।

आरम्भिक गोरखा सैन्य अभियान—

सन् १७६१-६२ में यमुना और शारदा नदी के मध्य स्थित कुमांऊ और गढ़वाल राज्यों पर नैपाल की गोरखा-सत्ता ने आक्रमण किया और एक वर्ष के अन्दर दोनों राज्यों को अपने अधीन कर लिया। सन् १७४२ से पहले नैपाल में कई छोटे-छोटे राज्य थे। काठमाण्डू के आस-पास और उत्तरी भाग में २४ ठकुराइयां थीं और २२ ठकुराइयां पश्चिम में करनाली उपत्यका में थीं। इनको बाइसी और चौबसी राज कहते थे। ये प्रायः स्वतंत्र राज्य थे। नाममात्र के लिये वे मुग़ल-सत्ता के अधीन थे परन्तु मुगल-शासन इनके आन्तरिक मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता था। काठमाण्डू से उत्तर-पश्चिम में चौबीसी राज्यों में गोरखा राज्य था। इस राज-वंश में पृथ्वीनारायणशाह नाम का राजा सन् १७२२ में उत्पन्न हुआ और सन् १७४३ में उसका राज्यारोहण हुआ। तब से लेकर ३३ वर्ष तक वह इन ४६ राज्यों को जीतने में व्यस्त रहा। नैपाल उपत्यका से पश्चिम में शारदा (काली) नदी तक का क्षेत्र उसने इस अवधि में अपने अधीन कर लिया। सन् १७६८ में उसने काठमाण्डू राज्य पर अधिकार किया और अगले वर्ष पाटन और भटगांव राज्यों को भी अपने अधीन कर लिया। नैपाल उपत्यका में ये तीन प्राचीन राज्य थे। सन् १७७५ में पृथ्वीनारायणशाह की मृत्यु के समय तक नैपाल में सुदृढ़ गोरखा राज्य की स्थापना हो चुकी थी। गोरखा, गुंरग, मगयार और ठाकुर आदि खश्या जाति के ही वंशधर थे। अठारहवीं सदी में गोरखा वर्ग का विशेष अभ्युदय हुआ। इसी जाति को नैपाल से लेकर कांगड़ा तक के क्षेत्र को जीतने की धुन सवार हुई। पृथ्वीनारायणशाह के उतराधिकारियों ने सन् १७९० तक नैपाल के समस्त विजित क्षेत्र पर अपने पांव दृढ़ता के साथ जमा लिये और पूर्व की ओर सिक्किम की सीमा तक के क्षेत्र में गोरखाशक्ति का प्रसार हो गया। इस प्रकार आधुनिक नैपाल का जनक पृथ्वीनारायणशाह समझा जाता है। जब नैपाल में इस सत्ता का संगठन अच्छी प्रकार हो गया तो सन् १७९० में गोरखा सेना ने कालीनदी पारकर कुमाऊं में प्रवेश किया। नैपाल के ख्याति-प्राप्त इतिहासकार डी० आर० रेगमी के अनुसार नैपाली सेना की संख्या बीस हजार थी, जिनमें से बारह हजार सैनिकों के पास तत्कालीन बन्दूकें थीं। इस सेना का संचालन अनुभवी सेना नायक अमरसिंह थापा, जगजीत पाण्डेय, सूरवीर थापा और राजा वंश के बन्धु-त्रय, ब्रह्मशाह (बमशाह), हस्तीदलशाह और रुद्रवीरशाह थे। इस आक्रमण से चार वर्ष पहले कुमाऊं के राजा मोहनचन्द और गोरखा राज्य के मध्य एक मैत्री सन्धि हुई थी जिनमें दोनों पक्षों ने यह संकल्प व्यक्त किया था कि वे एक दूसरे पर आक्रमण नहीं करेंगे एवं नैपाल का शत्रु कुमाऊं का शत्रु होगा; नैपाल राज्य का मित्र

कुमाऊं का मित्र और ऐसे ही कुमाऊं का मित्र या शत्रु गोरखा राज्य का मित्र या शत्रु माना जावेगा। परन्तु तत्कालीन सिद्धान्तहीन राजनीति में इस प्रकार के संकल्पों का कोई महत्व नहीं था। गोरखा-शासक समस्त हिमालय क्षेत्र में नैपाली साम्राज्य स्थापित करना चाहते थे जिसकी पूर्वी सीमा सिक्किम या भूटान होती और पश्चिमी सीमा काश्मीर या हजारा क्षेत्र होता।

भागीरथी नदी तक गोरखा साम्राज्य का विस्तार—

नैपोली सेना ने शीघ्र ही समस्त कुमांऊ क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। उस समय कुमांऊ में दरवारियों के दो दल थे जिसके कारण राज्य की आन्तरिक स्थिति वहुत दुर्बल थी। इस फूट के कारण गोरखाओं को इस क्षेत्र पर नियन्त्रण करने में आसानी रही। अगले वर्ष सन् १७९१ में गोरखा सेना ने गढ़वाल में प्रवेश किया। गढ़वाल के तत्कालीन शासक प्रद्युम्न शाह एक दुर्बल राजा था। गोरखाओं ने उस पर एक सहायक सन्धि जैसी शान्ति-सन्धि के नाम से थोपी और नौ हजार रुपये वार्षिक नजराना निश्चित किया। ऐसा प्रतीत होता है कि गढ़वाल के राजा प्रद्युम्नशाह ने गोरखाओं का मुकाबला करने के लिये सिरमौर के राजा जगतप्रकाश से सहायता मांगी। सिरमौर की सेना गोरखाओं का सामना करने गई; परन्तु गढ़वाल के राजा प्रद्युम्नशाह ने नैपालियों के साथ शान्ति-सन्धि कर ली और उधर सिरमौर की सेना के लिये खाद्य-सामग्री की व्यवस्था नहीं हुई। फलत: जगतप्रकाश को भी गोरखा-सेना नायकों के साथ सन्धि करनी पड़ी जिसके अनुसार दून और भावर क्षेत्र में भागीरथी नदी को गोरखा राज्य और सिरमौर के बीच सीमा माना गया। कुछ इतिहासकारों ने अलकनन्दा को सीमा माना है; परन्तु यह क्षेत्र देवप्रयाग से दक्षिण का इलाका था। देवप्रयाग में अलकनन्दा भागीरथी में मिल जाती है और उससे आगे यह गंगा या भागीरथी कहलाती है। नैपाल सरकार के राजगुरु गजराज मिश्र के अनुसार उस सन्धि के अनुसार गोरखा-राज्य की सीमा हरिद्वार के निकट तक पहुंच गई थी। सिरमौर के राजा जगत प्रकाश के साथ हुई सन्धि भी शान्ति-सन्धि थी। यह सन्धि सन् १७९२ में हुई थी। वापिस लौटते हुये राजा जगतप्रकाश वीमार हो गया और भागीरथी के किनारे लकड़घाट नामक स्थान पर इसकी मृत्यु हो गई। लगभग दो वर्षों में नैपाली सेना ने कुमांऊ पर पूरी तरह अधिकार कर लिया एवं गढ़वाल शान्ति-सन्धि के अन्तर्गत गोरखा साम्राज्य का भाग बन गया। नैपाल सरकार ने श्रीनगर गढ़वाल में कालू खवास और वीर रौक्या को अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया। सन् १७९२ में नैपाल पर तिब्बत के मार्ग से चीन का आक्रमण हो गया और नैपाल का अपना अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया। इसका परिणाम यह हुआ कि पश्चिम की ओर गोरखा-सेना की गति रुक गई। नैपाली राजा ने गढ़वाल और कुमांऊ से सेनाओं को वापिस बुला लिया। अभी गोरखा-सेना पूर्वाभिमुख हुई ही थी कि उधर नैपाल सरकार और चीन के बीच सन्धि होकर शान्ति स्थापित हो गई। पर अगले दस वर्ष तक गोरखाओं द्वारा विजित कुमांऊं

और गढ़वाल की स्थिति वैसी ही बनी रही।* गोरखा शासकों ने इस अवधि में इन क्षेत्रों का अमानवीय ढंग से शोषण किया, यहां तक कि गांव निर्जन हो गये, खेत बंजर पड़ गये और चारों ओर भय व आतंक छाया रहा।

गढ़वाल पर पुनः गोरखा आक्रमण—

सन् १७९४ से १८०३ तक नैपाल दरबार की अपनी आन्तरिक स्थिति इतनी भयावह थी कि इसमें षड्यंत्र और रक्त-पात का कुचक्र चलता रहा। फलतः सन् १८०३ तक नैपाल साम्राज्य का विस्तार पश्चिम की ओर रुका रहा। परन्तु सन् १८०३ में पुनः एक विशाल नैपाली सेना ने कुमाऊं से चलकर उत्तर-पूर्वी मार्ग से गढ़वाल में प्रवेश किया। उसी वर्ष गढ़वाल में एक भयंकर भू-कम्प आया था जिससे श्रीनगर शहर राजमहलों समेत ध्वस्त हो गया था, खेत व गांव नष्ट हो गये, पानी के स्रोत सूख गये। गढ़वाल का राजा प्रद्युम्नशाह गोरखा-सेना का मुकाबला न कर सका। वह अपने परिवार और सैनिकों के साथ बाड़ाहाट (उत्तर काशी) के मार्ग से देहरादून पहुंच गया। मार्ग में एक-दो स्थानों पर गोरखा और गढ़वाली सेनाओं में मुठभेड़ हुई, परन्तु गढ़वाली सैनिक प्रशिक्षित गोरखा सैनिकों के सामने टिक न सके। गोरखा-सेना के साथ अमरसिंह थापा, बमशाह, रुद्रवीर शाह, भक्ति थापा, रणजौरसिंह थापा जैसे अनुभवी सेना नायक थे। नैपाली सेना ने प्रद्युम्नशाह का पीछा किया।

प्रद्युम्नशाह ने अपना सोने का सिंहासन और बद्रीनाथ मन्दिर के स्वर्ण पात्र और हीरे-मोती डेढ़ लाख रुपये पर बन्धक रखे और लण्ढौरा (सहारनपुर) के राजा रामदयालसिंह से बारह हजार सैनिक लेकर गोरखाओं का मुकाबला करने का साहस किया। देहरादून में यह युद्ध हुआ, परन्तु गढ़वाली सेना हार गई। राजा प्रद्युम्नशाह अपने तम्बू के सामने घोड़े पर सवार था। उस समय गोरखा-सेना की गोली से वह धराशायी हो गया और गढ़वाली सेना में भगदड़ पड़ गई। इस युद्ध में एक हजार गढ़वाली सैनिक मारे गये। राजा के मरने के समाचार से सारे दून और गढ़वाल क्षेत्र में आक्रोश और क्षोभ से सनसनी फैल गई। राज-परिवार राजा के पुत्र सुदर्शनशाह सहित ज्वालापुर चला गया जहां वह सन् १८१५ तक प्रवास और विपन्नता के दिन झेलता रहा। दून और गढ़वाल क्षेत्र पूरी तरह से गोरखा-सेना के अधिकार में आ गया।

राजाओं की आपसी फूट गोरखा प्रसार में सहायक—

उधर कांगड़ा, बिलासपुर, सिरमौर और हण्डूर (नालागढ़) में ऐसी महत्वपूर्ण घटनाएं इसी अवधि में हो रही थीं जिसके फलस्वरूप ये राज्य गोरखा-सैन्य शक्ति के प्रभाव या संघर्ष की लपेट में जल्दी आ गये और नैपाली देहरादून में आने के तीन वर्ष के अन्दर ही कांगड़ा क्षेत्र तक पहुंच गये। उस समय हण्डूर में रामसिंह नाम का एक अत्यन्त महत्वाकांक्षी राजा था, कांगड़ा में संसारचन्द अपने उत्कर्ष के चरम बिन्दु पर था। बिलासपुर का तत्कालीन राजा महाचन्द अभी नाबालिग था। शासन राजमाता और मंत्री चलाते थे। सिरमौर में कर्मप्रकाश नाम का राजा बहुत क्रूर और अत्याचारी

शासक था। बहुत से दरबारी और सिरमौर के गण्य-मान्य व्यक्ति इसके विरुद्ध थे। राज्य में लगभग विद्रोह की स्थिति थी। बारह बड़ी ठकुराइयां बिलासपुर के हाथ से निकल चुकी थीं और अब नाम मात्र के लिये ये सिरमौर के अधीन थीं। कांगड़ा समुदाय के राजा भी संसारचन्द के दमन, शोषण और स्वेच्छाचारी शासन से तंग थे और वे संसारचन्द से छुटकारा पाना चाहते थे; पर संगठित होकर मुकाबला करने का किसी में साहस नहीं था। चम्बा, मण्डी, कुल्लू सभी मन से संसारचन्द का पतन चाहते थे। दून में ठहरा गोरखा-स्कन्धावार (सैन्य-शिविर) संसारचन्द सहित सभी के पतन और विनाश का सूचक था। हण्डूर का राजा रामसिंह बिलासपुर की दुर्बल स्थिति से लाभ उठाना चाहता था। संसारचन्द ने सन् १७९६ में पहले ही कहलूर (बिलासपुर) राज्य का कुछ भाग हड़प लिया था। रामसिंह और संसारचन्द ने मिलकर अब बिलासपुर के विरुद्ध अभियान आरम्भ किया। इसमें मुख्य लाभ संसारचन्द को ही था; वह सतलुज पार के क्षेत्र पर पूरी तरह अधिकार करना चाहता था। हण्डूर के राजा रामसिंह को उसने १२ बड़ी ठकुराइयों के अधिकार का प्रलोभन देकर अपने साथ मिला लिया।

उस समय १२ बड़ी ठकुराइयां सिरमौर के अधिकार में थीं, पर सिरमौर की आन्तरिक अवस्था विद्रोह और अशान्ति से क्षुब्ध थी। राजवंश का कुंवर किशनसिंह विद्रोहियों का नेता था। वे कर्मप्रकाश का अन्त करना चाहते थे। राजा कर्मप्रकाश नाहन से भाग कर क्यारदा दून में एक ऊंची पहाड़ी पर स्थित कांगड़ा नाम के किले में छिप गया। सेना भी इसके विरुद्ध हो गई। सेना ने इस किले को घेर लिया और एक व्यक्ति जिसकी शक्ल राजा से मिलती थी, मारा गया। राजा कर्मप्रकाश भाग कर यमुना पार कालसी चला गया। उधर हंडूर और कांगड़ा की सेनाओं ने सिरमौर के उस क्षेत्र को लूटना आरम्भ कर लिया जो हंडूर राज्य की सीमा के साथ लगता था और नाहन के निकट तक पहुंच गई। राजा कर्मप्रकाश दून में अमरसिंह थापा के पास गया और उससे पुरानी मैत्री-सन्धि के आधार पर सहायता मांगी। गोरखा सरदार ने भक्ति थापा के नायकत्व में एक हजार सैनिक हंडूर और कांगड़ा की सेनाओं का मुकाबला करने के लिये भेजे, परन्तु गोरखे हंडूर और कांगड़ा की संयुक्त सैन्य शक्ति का मुकाबला न कर सके। यह युद्ध नाहन के सामने जमटा की धार में हुआ था। इस पराजय के बाद अमरसिंह थापा स्वयं गोरखा सेना को लेकर नाहन की ओर चला। उसने कांगड़ा और हंडूर की सेनाओं को खदेड़ दिया और साथ ही विद्रोहियों को भी दबाया। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय संसारचन्द और नैपालियों के मध्य कोई सन्धि हुई थी। इस सन्धि के अनुसार सतलुज को कांगड़ा की सीमा माना गया और गोरखा शक्ति ने कांगड़ा पर संसारचन्द के शासन को मान्यता प्रदान की। यह एक प्रकार से मैत्री-सन्धि थी, परन्तु कांगड़ा क्षेत्र पर गोरखाओं द्वारा आक्रमण के समय तक नैपाल सरकार ने इसकी पुष्टि नहीं की थी। अमरसिंह थापा ने सिरमौर पर अधिकार कर लिया और कर्मप्रकाश को सिरमौर राज्य पर नाम मात्र का अधिकार दे दिया। पर वास्तविक सत्ता अमरसिंह थापा के हाथ में थी। सन् १८०४में अमरसिंह थापा ने यमुना पार करके सिरमौर में प्रवेश किया

और मई १८०६ में उसने सतलुज को पार करके कांगड़ा की ओर प्रस्थान किया। लगभग दो वर्ष का समय उसने यमुना और सतलुज नदियों के बीच के क्षेत्र में लूट-पाट और दर्जनों छोटी-बड़ी ठकुराइयों को अपने अधीन करने में बिताए। नाहन में रहते हुये उसने इस क्षेत्र के छोटे-बड़े सभी ठाकुर और राणाओं को वहां बुलाया। कुछ ठकुराइयों पर अधिकार करने के लिये सम्भव है कि उसने कुछ सैनिकों को उत्तर दिशा की ओर भेजा हो। बघाट और जुणगा के राणाओं ने विशेष रूप से इस अभियान में गोरखाओं की सहायता की, ऐसा मेजर कनेडी के विवरण से प्रतीत होता है। इन ठाकुरों की कोई संगठित सेना नहीं होती थी। लड़ाई या लूट-पाट के समय ये ठाकुर शासक प्रजा को बुलाकर धनुष-बाण, तलवार, खड्ग और कभी-कभी बन्दूकें लेकर धावा बोलते थे अथवा संकट के समय अपने क्षेत्र की रक्षा करते थे। संकट समाप्त होने पर ये अपने-अपने घरों को लौट जाते थे। इस प्रकार के गैर-पेशावर जन-समूह का मुकाबला करना, प्रशिक्षित सैनिकों के लिये कोई कठिन काम नहीं होता था। नैपाली सैनिक प्रशिक्षित और अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित थे। नैपाली सेना का संगठन और प्रशिक्षण प्रायः ईस्ट-इण्डिया कम्पनी सरकार की सैनिक प्रणाली पर था। अतः ऐसी सैनिक टुकड़ियों को और ठकुराइयों को जीतना कोई कठिन काम नहीं था।

अमरसिंह थापा शिवालिक क्षेत्र में—

नाहन में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के बाद और इन छोटी-छोटी ठकुराइयों को डरा-धमका या लड़ाई के द्वारा अधीन करने के पश्चात् अभी गोरखा सेनापति अमरसिंह थापा को, विलासपुर और हंडूर (नालागढ़) के राजा रामसिंह को अपने अधीन करना था। हंडूरी राजा रामसिंह ने न केवल सिरमौर और उसके अधीनस्थ ठकुराइयों में हस्तक्षेप किया था, बल्कि विलासपुर का क्षेत्र भी इसके अतिक्रमण और लूट-पाट से बहुत क्षुब्ध था। अमरसिंह थापा सिरमौर के राजा कर्मप्रकाश और कई ठकुराइयों के शासकों के दल को लेकर हंडूर की ओर चल पड़ा। हंडूर राज्य दक्षिणी शिवालिक क्षेत्र में बाघल और सतलुज नदी के मध्यवर्ती इलाके में फैला था। यह सारा शिवालिक का आंचल क्षेत्र था। उत्तरी भाग में शिवालिक की शृंखलाओं की चोटियों पर कई किले थे, रामगढ़, तारागढ़, सूरजगढ़, नालागढ़, अजयगढ़ आदि। गोरखा सैनिकों ने आसानी से इन सभी किलों पर अधिकार कर लिया। इसी क्षेत्र के राज्य जैसे अरकी, बघाट, कुनिहार, बेजा, कुठाड़ आदि पहले ही गोरखा-आतंक और अधिकार की परिधि में आ चुके थे। जिन्होंने चुपचाप गोरखा अधिकार को स्वीकार कर लिया, वे तो अपने प्राणों को बचा सके, जिन्होंने थोड़ा भी विरोध किया वे गोरखाओं के कोप-भाजन हुये और उनको अपने प्राण बचाने के लिये अन्यत्र भागना पड़ा। कइयों को उन्होंने पदच्युत किया और कइयों का उन्होंने सर्वस्वछीन लिया। गोरखा बहुत क्रूर और कठोर फौजी शासक थे। उनकी स्मृति पहाड़ी क्षेत्र में लूट-पाट और कठोरता एवं आतंक से सम्बद्ध अधिक है और उदारता, दया, करुणा, क्षमा आदि मानवीय गुणों से बहुत कम है।

विलासपुर का राजा महाचन्द हंडूर और संसारचन्द के द्वारा हस्तगत किये इलाकों को पुनःप्राप्त करने के लिये आतुर था। यही नहीं वह संसारचन्द से बदला लेना चाहता था। उधर कांगड़ा समुदाय के राजा भी गुप्तरूप से संसारचन्द के विरुद्ध षड्यंत्र रच रहे थे। अमरसिंह थापा का शिवालिकक्षेत्र में आना, महाचन्द और अन्य राजाओं को संसारचन्द से बदला लेने का एक स्वर्णिम अवसर-जैसा लगा। महाचन्द ने सब से पहले गोरखा सरदार को कांगड़ा पर आक्रमण करने के लिये प्रेरित किया। महाचन्द गोरखा शक्ति के सम्मुख नतमस्तक हो गया। गोरखा सरदार का ज्योतिषी शिवदत्त महाचन्द का परामर्शदाता बनकर विलासपुर में सर्वेसर्वा था। महाचन्द तो नाम मात्र के लिये कहलूर का राजा था। इस अवधि में अमरसिंह थापा ने यमुना नदी और सतलुज नदियों के मध्य समस्त पहाड़ी क्षेत्र को अपने अधीन कर लिया था। कहलूर राज्य के दक्षिण-पूर्व में स्थित हंडूर के सभी महत्वपूर्ण किलों पर गोरखा सरदार का अधिकार था। उसने रामसिंह को नालागढ़ से खदेड़ दिया। उसने अपने राज्य में स्थित मैदानी क्षेत्र में पलासी के दुर्ग में शरण ली। अमरसिंह ने हंडूर के इस किले को हस्तगत नहीं किया था। इसका परिणाम कांगड़ा अभियान के समय उसके लिये सामरिक दृष्टि से घातक सिद्ध हुआ।

दो वर्षों की अल्प अवधि में समस्त यमुना-सतलुज क्षेत्र पर गोरखा-सैन्य शक्ति की दुन्दुभि बजने लगी; १२ बड़ी और १८ छोटी ठकुराईयां, सिरमौर, कहलूर और हंडूर राज्य देखते-देखते गोरखा-शक्ति के सम्मुख बिखर गये। अमरसिंह थापा को यह सब अप्रत्याशित सफलता प्रतीत हुई। तब तक अमरसिंह थापा को नैपाल सरकार की ओर से "काजी" की सब से ऊंची सैनिक उपाधि मिल चुकी थी। यह उपाधि आधुनिक युग की 'जनरल' की उपाधि के समक्ष प्रतीत होती है। यह स्मरण रहे, उस समय अमरसिंह थापा की आयु ७० वर्ष से अधिक थी। काजी का लक्ष्य तो काश्मीर-विजय था; वह हजारा और गिलगित तक के क्षेत्र को गोरखा साम्राज्य की सीमा के अन्तर्गत लाना चाहता था। उसके मार्ग में बाधा कोट-कांगड़ा था। सिरमौर में वह संसारचन्द की सैन्य-शक्ति को भी आजमा चुका था।

कोट कांगड़ा पर गोरखा आक्रमण—

अपनी आशातीत सफलता पर मुस्कराते हुए, थापा ने मई १८०६ में सतलुज नदी पार की और कहलूर क्षेत्र के उस भाग में प्रवेश किया जिसको संसारचन्द ने कहलूर से छीना था। मोहाल मोरी नामक स्थान पर थापा की पहली मुठभेड़ कांगड़ा की सेना से हुई और आसानी से गोरखाओं ने संसारचन्द की फौज को खदेड़ दिया। परन्तु उस समय गोरखा सरदार को पता लगा कि संसारचन्द का एक फौजी दस्ता दक्षिणी भाग में सतलुज को पार करके हंडूर राज्य में रामसिंह की सेना में जा मिला है। उस समय गोरखाओं का मुख्य केन्द्र अरकी था। अरकी का राजा भाग कर सुकेत में रह रहा था और अरकी के महलों में गोरखा सरदार रह रहे थे। अरकी, विलासपुर और नालागढ़ क्षेत्र से फौजी मार्ग गुजरता था और सेना के लिये रसद इसी मार्ग और

क्षेत्र से आती थी। हंडूर का राजा रामसिंह कांगड़ा की सहायता से इस क्षेत्र में लूट-मार और गोरखा सैन्य केन्द्रों पर आक्रमण कर रहा था। उसने अपने कुछ किले गोरखाओं से छीन लिये। उधर थापा अपनी मुख्य सेना को लेकर जुलाई तक कांगड़ा पहुंच गया और उसने किले का घेरा डाला। संसारचन्द सुजानपुर टीरा के किले में था जहां वह अरकी-नदौण सैन्य-मार्ग पर गोरखा सैनिकों पर घात लगाकर रसद व अन्य सामग्री को आने-जाने में बाधा पहुंचा रहा था। कोट कांगड़ा में संसारचन्द का लड़का अनिरुद्धसिंह और अन्य अधिकारी थे। एक अन्य गोरखा सरदार भक्ति थापा ने जो अमरसिंह की भान्ति ७० वर्ष से ऊपर एक अनुभवी सेना-नायक था, सुजानपुर टीरा के किले का घेरा डाला; परन्तु उसको यह घेरा उठाना पड़ा क्योंकि हंडूर का राजा रामसिंह गोरखा रण-क्षेत्र के पृष्ठ-भाग में उत्पात मचा रहा था। भक्ति थापा को उसका दमन करने के लिये वापिस कहलूर और हंडूर क्षेत्र में आना पड़ा; परन्तु रामसिंह ऐसे अवसर पर पलासी के किले में शरण ले लेता। सैनिकों की कमी के कारण रामसिंह को पूरी तरह पराजित करना सम्भव नहीं था। परन्तु उस समय काठमाण्डू से नयनसिंह नाम के गोरखा सरदार के साथ आई एक सैनिक टुकड़ी ने रामसिंह को नियंत्रण में रखा। इस अवधि में भक्ति थापा ने सुजानपुर टीरा का घेरा प्रबल किया। नैपाली इतिहासकार लुडविगस्टिलर के अनुसार भक्तिथापा सितम्बर १८०६ में टीरा पर अधिकार करने में सफल हुआ। परन्तु कांगड़ा का घेरा बिना किसी महत्वपूर्ण लड़ाई के चलता रहा।

किले के अन्दर पर्याप्त रसद और युद्ध सामग्री थी; यहां तक कि चार हजार सैनिकों के लिये किले के अन्दर ही अन्न पैदा हो सकता था। मुगल नवाब सैफअली खान सन् १७४४ से १७७४ तक तीस वर्ष इसी किले की उपज से अपने आप को बचा सका। पर नैपालियों को यह सान्त्वना थी कि किले में इतने अधिक लोग हैं कि रसद अधिक दिन तक नहीं चल सकेगी। और इसके भी कुछ ऐसे ही दुरुपयोग एवं घेरा लम्बा होने से रसद समाप्त होने लगी। उधर गोरखा भी लम्बे अवधि के घेरे से तंग आ रहे थे। रोग-बीमारी और गन्दगी से इनकी संख्या घट रही थी सेना अकर्मण्य-सी हो रही थी। गोरखा सरदारों ने आपस में परामर्श किया कि इस अकर्मण्य स्थिति से कैसे निपटा जाय। नयनसिंह नामक युवक ने किले के मुख्य द्वार से आक्रमण करने का प्रस्ताव किया; परन्तु अन्य सरदार इससे सहमत न थे। नयनसिंह नैपाल के तत्कालीन प्रधानमंत्री और वास्तविक शासक भीमसिंह थापा का छोटा भाई था। नयनसिंह ने अपना फौजी दस्ता लेकर किले के मुख्य द्वार से आक्रमण बोल दिया; परन्तु किले के अन्दर से गोली लगने से नयनसिंह की मृत्यु हो गई। नैपाली सेना का यह प्रयास भी विफल हुआ। यह घटना सन् १८०८ की थी।

कांगड़ा क्षेत्र में लूट-पाट—

अमरसिंह थापा के साथ पहाड़ी राजाओं और ठाकुरों का एक काफिला ही आया था। इसमें छोटी-बड़ी तीस ठकुराइयों के कई ठाकुरों के अतिरिक्त कांगड़ा

समुदाय के राजा भी थे; परन्तु ये उन्मुक्त होकर संसारचन्द के राज्य को लूट रहे थे। संसारचन्द के सैनिक और गोरखा घेरे में व्यस्त थे। संसारचन्द का क्षेत्र सर्वथा आरक्षित था। इसको गोरखा और अन्य ठाकुर व राजे लूट रहे थे। इसका परिणाम यह हुआ कि गांव निर्जन हो गये, खेत बंजर पड़ गये। नगरों और गांवों में भेड़िये, सियार और बाघ विचरण करने लगे। कांगड़ा का घेरा तीन वर्ष चला। इस अवधि में कांगड़ा-उपत्यका की भूमि उर्वरा अन्न के स्थान पर जंगली घास, भांग धतूरा आदि उगाने लगी। बिलासपुर और नालागढ़ क्षेत्र में भी गोरखाओं के सहायक ठाकुर और राणे लूट मार कर रहे थे। गोरखाओं को रसद देने में अड़चन पैदा कर रहे थे। एक प्रकार से इन ठाकुरों और राजओं ने नैपालियों का विरोध करना आरम्भ कर दिया था। उधर कांगड़ा में गोरखा सेना में हैजा की महामारी फैल गई। इनकी संख्या काफी घट गई। किले के अन्दर घिरे संसारचन्द के सैनिक भी तंग थे और बाहर घेरा डाले नैपाली रसद की कमी, दुःख, बीमारी, अनिश्चिता और अकर्मण्यता की स्थिति से क्षुब्ध थे।
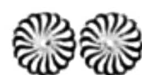
९. कोट कांगड़ा पर महाराजा रणजीतसिंह का अधिकार

सन्धि का प्रस्ताव

एक विवरण के अनुसार जब अमरसिंह थापा किले को आक्रमण के द्वारा न जीत सका और किले का घेरा लम्बी अवधि का होने लगा एवं थापा के साथ आये ठाकुर और राजा-राणे सहायता करने के बजाय उत्पात मचा रहे थे, उस समय थापा ने संसारचन्द से सन्धि का प्रस्ताव किया था, परन्तु संसारचन्द ने बड़े तिरस्कार के साथ इस प्रस्ताव को यह कहकर ठुकराया कि मैं अमरसिंह थापा जैसे खश्या के साथ सन्धि की वार्ता करने को तैयार नहीं हूँ। यदि सन्धि की बात करनी है तो राजवंश के रुद्रवीर शाह से मैं बात कर सकता हूँ, इससे कम दर्जे के व्यक्ति से मैं सन्धि की बात नहीं करूंगा। इस तिरस्कार से क्षुब्ध होकर थापा ने एक पत्र तत्काल नैपाल दरबार को भेजा कि रुद्रवीरशाह के साथ पहले की गई सन्धि का अनुमोदन न किया जावे जिसके अनुसार सतलुज कांगड़ा और गोरखा राज्य की सीमा मानी गई थी और नैपाल दरबार के द्वारा कांगड़ा पर संसारचन्द के राज्य को मान्यता दी गई थी। नैपाल राजवंश के बन्धुत्रय, ब्रह्मशाह, हस्तिदल शाह और रुद्रवीर शाह को अमरसिंह थापा अपना कट्टर शत्रु समझता था। उस समय उसका भतीजा भीमसिंह थापा नैपालदरबार में प्रधान मंत्री था। परिणामतः थापा सरदारों का दरबार में बोलबाला था। अमरसिंह थापा ने हस्तिदल शाह को तत्काल गढ़वाल के सूबा (राज्य-पाल) पद से हटवाया और रुद्रवीरशाह को सेना के नायकत्व से अलग करवा दिया। सम्भवतः सन्धि का यह प्रस्ताव घेरे के पहले या दूसरे वर्ष किया गया हो जब गोरखा सेना आक्रमण के द्वारा किले को न जीत सकी हो और विवश होकर उसको लम्बी अवधि का घेरा डालना पड़ा हो। उस समय की स्थिति का कुछ आभास थापा के एक पत्र से मिलता है जो उसने अंग्रेज अधिकारी अखंतलोनी को लिखा था। उस पत्र में अमरसिंह थापा ने यह शिकायत की थी :

''करोड़ों रुपयों का व्यय करके और कई सैनिकों के प्राणों को खोकर मैंने किले का घेरा डाला। संसारचन्द ने यह प्रार्थना की कि उसको किला छोड़ने का अवसर दिया जाय; परन्तु उसको भी अपने जीवन निर्वाह के लिए कुछ चाहिए। इस पर हम दोनों के मध्य एक समझौता हुआ और धर्म और ज्वालामुखी की शपथ खाकर यह समझौता पक्का किया गया। इसके अनुसार कोटकांगड़ा और तारागढ़ (नालागढ़ क्षेत्र

में स्थित) किले पर मेरा अधिकार होना था और संसारचन्द ने चार हजार रुपये वार्षिक कर के रूप में देना माना था। सुजानपुर टीरा के किले और सारे कांगड़ा क्षेत्र पर संसारचन्द का अधिकार होना था। दस दिन के पश्चात इस समझोते को कार्यान्वित किया जाना था। मैंने यह स्वीकार किया और किले के दक्षिण द्वार, गणेश घाट से अपनी सेना हटा ली। संसारचन्द इस दस दिन की अवधि में दिन के समय अपने परिवार और धन सम्पत्ति को किले से बाहर निकालता था और रात के समय किले में अनाज और अन्य रसद भरता था। दस दिन की समाप्ति पर जब उसको किला खाली करने को कहा तो उसने दो दिन की और मोहलत माँगी। यह भी दी गई।"

"इसके बाद संसारचन्द ने नौरङ्ग पटौल को किले का भार सम्भाला और स्वयं मुहम्मदखान रोहेला के साथ रात को भाग निकला। यदि मैं उसके द्वारा ली गई शपथ और दिये गये वचन पर विश्वास न करता तो, वह, उसकी सारी धन-दौलत· परिवार और किला मेरे हाथ आ जाता, पर उसका बाल भी बांका नहीं हुआ और वह किले से भाग निकला। तब संसारचन्द ने रणजीतसिंह को बुला लिया। रणजीतसिंह ने मुझे सूचित किया कि मैं ज्वालामुखी तीर्थ-यात्रा पर आ रहा हूँ। अतः स्वार्थी लोगों द्वारा फैलाई अफवाहों पर ध्यान न दिया जाय। परन्तु रणजीतसिंह संसारचन्द के साथ कांगड़ा की ओर बढ़ा। नैपाल सरकार और रणजीतसिंह के बीच दो सन्धियां हुई थीं जिनके अनुसार नैपाल सरकार के शत्रु व मित्र रणजीतसिंह के शत्रु व मित्र होंगे और इसी प्रकार सिख-दरबार के शत्रु व मित्र नैपाल-दरबार के शत्रु व मित्र होंगे। इनके होते हुए भी रणजीतसिंह हमारे विरुद्ध कांगड़ा में आया। दो लड़ाइयां हुईं: पहली नगर में और दूसरी गणेश घाट पर। इन लड़ाइयों में हमारा एक सरदार और ६० सैनिक मारे गये तथा १०० घायल हो गये। रणजीतसिंह के १००० आदमी मारे गये और ? २०० घायल हुये। उसने चारों ओर से मेरी घेरा बन्दी कर दी और मुझे रसद की कमी हो गई। उधर हंडूर के राजा रामसिंह ने उत्पात मचाया हुआ था। उसका दमन करने के लिए मैं कांगड़ा से चल पड़ा; परन्तु मेरे पहुंचने से पहले ही रामसिंह भाग गया। नाहन का राजा कर्मप्रकाश भी मेरे विरुद्ध हो गया था।"

"कर्मप्रकाश के सम्बन्ध में तथ्य यह है कि उसकी प्रजा ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। इस विद्रोह का नेता कुंवर किशनसिंह था। लोगों ने कर्मप्रकाश को अपने ही इलाके से निकाल भगाया था। मैंने उसका राज उसको दिलाया। यह लिखित रूप में तय हुआ था कि वह अपनी सेना को लेकर मेरे साथ काँगड़ा आवेगा; पर उसने ऐसा कुछ नहीं किया। इसके विपरीत वह विलासपुर में लूटमार करता रहा। उसने हंडूर में जिन किलों पर मेरा अधिकार था उनको छीन लिया। उसने मेरे वकील (राज-दूत) विष्णुदत्त उपाध्याय की हत्या करदी। वह ब्राह्मण था। उसने ब्रह्महत्या की। मैंने अपने लड़के रणजौर को उसको समझाने के लिये भेजा। परन्तु वह मेरे भय के मारे भाग गया। अब मेरे पुत्र ने नाहन के निकट सब किलों पर अधिकार कर लिया है।"

रणजीतसिंह से सहायता की माँग और सन्धि—

एक अन्य विवरण के अनुसार जब किले का घेरा काफी लम्बी अवधि का हो गया, किले में रसद की कमी अनुभव हो रही थी और कोई निर्णायक परिणाम नहीं दिखाई दे रहा था तो राजा संसारचन्द ने अपने छोटे भाई फतेहसिंह को सहायता मांगने के लिए रणजीतसिंह के पास लाहौर भेजा। १ जून १८०९ में रणजीत सिंह पठानकोट में पहुंचा। जब पहाड़ के राजाओं को रणजीत सिंह के आने का समाचार मिला तो जो नाम मात्र के लिये अमरसिंह थापा के साथ थे, वे सब भी रणजीतसिंह के साथ मिल गये और नैपालियों को उन्होंने रसद देना बन्द कर दिया। रणजीतसिंह भी यही चाहता था। जुलाई मास में रणजीतसिंह ज्वालामुखी में अपना सैनिक-शिविर डाले हुये था। यहां पर राजा संसारचन्द और रणजीतसिंह के मध्य एक सन्धि हुई। इस सन्धि के अनुसार कोट-काँगड़ा पर रणजीतसिंह का अधिकार हुआ और इसके साथ ही ६६ गाँवों की कारदारी जो अकबर के समय में किले की रक्षा और रख रखाव के लिये राजा टोडरमल ने स्थापित की थी, उस पर भी रणजीत सिंह का अधिकार माना गया। शेष कांगड़ा क्षेत्र संसारचन्द को दे दिया गया। कांगड़ा के कुछ गाँव जो सम्भवत: उस समय अन्य राज्यों के पास थे, रणजीतसिंह ने जीत कर संसारचन्द को वापिस देने का वचन दिया। रणजीत सिंह ने नैपालियों को सतलुज और यमुनापार भगाने की प्रतिज्ञा की। इस सन्धि की सत्यता को सिख गुरुओं और ज्वालामुखी की शपथ लेकर पुष्टि की गई। यह सन्धि पंजाबी भाषा में लिखी गई थी और रणजीतसिंह ने केसर में हाथ रंग कर, उस पर अपने हाथ की छाप लगाई थी। इस परिच्छेद के अन्त में इस सन्धि का हिन्दी रूपान्तर दिया गया है।

कांगड़ा से नैपालियों का निष्कासन —

कांगड़ा में पहुंच कर रणजीतसिंह ने गोरखाओं की नाकेबन्दी आरम्भ कर दी जिससे उनको रसद पहुंचना कठिन हो गया। दो लड़ाइयां जिनका उल्लेख अमरसिंह थापा ने अपने पत्र में किया, किले के बाहर हुईं। इन में दोनों पक्षों के सैनिक हताहत हुए। एक विवरण के अनुसार गोरखा सरदार महाराजा रणजीतसिंह को प्रचुर धन देकर उससे छुटकारा पाना चाहता था; परन्तु इसमें वह सफल न हो सका। फिर यह दाँव-पेच भी चला कि गोरखा सरदार और रणजीतसिंह दोनों मिलकर किले पर अधिकार कर लें। उधर संसारचन्द भी यह देख रहा था कि वह भी इस स्थिति से कुछ लाभ उठाये और किला उसके हाथ से न जाय; परन्तु जब रणजीतसिंह को इन दाव-पेचों का आभास हुआ तो उसने संसारचन्द के जेष्ठ पुत्र अनिरुद्धसिंह को बन्धक के रूप में लेकर किले में प्रवेश किया। किले पर अधिकार तब तक संसारचन्द के सैनिकों का था। तब रणजीतसिंह ने नैपाली सरदार अमरसिंह थापा को स्पष्ट शब्दों में किला छोड़ देने को कहा। थापा के पास कोई चारा न था। उसका तीन वर्ष का परिश्रम और प्रयास विफल हो गया। रोग बीमारी और युद्ध

में नष्ट हुई बची-खुची सेना लेकर थापा ने भारी मन से सतलुज को पार कर कहलूर (विलासपुर) में प्रवेश किया। काठमाण्डू से सन् १८०३ में चलकर थापा ने कभी पराजय का मुंह नहीं देखा था। गढ़वाल, दून क्षेत्र, सिरमौर, हंडूर, कहलूर और १२ बड़ी और १८ छोटी ठकुराइयों को रौंदता हुआ वह कांगड़ा के किले के बाहर वाण-गंगा के किनारे पर पहुंचा था जहां तीन वर्ष तक वह लड़ाई और महामारी से अपनी सेना का निःसहाय संहार देखता रहा। रणजीतसिंह ने कुछ ही दिनों में उसके कश्मीर-विजय के स्वप्न को भंग कर दिया। कुढ़ता हुआ वह वापिस आकर हंडूर, सिरमौर और छोटी-बड़ी ठकुराइयों पर टूट पड़ा। सिरमौर के राजा कर्मप्रकाश और सभी ठाकुरों ने थापा के साथ विश्वास-घात किया था। वे सभी उसके कोप-भाजन बने। गोरखाओं द्वारा सतलुज और यमुना के मध्यवर्ती पहाड़ी ठकुराइयों और शिवा-लिक क्षेत्र के बड़े राज्यों की विजय कांगड़े के घेरे के समय सर्वथा भ्रामक और क्षण-स्थायी सिद्ध हुई। नैपाली दमन और बर्बरता में सिद्धहस्थ थे ; परन्तु विजित क्षेत्रों में सुव्यवस्थित शासन-प्रबन्ध स्थापित करने में वे कुमाऊ, गढ़वाल एवं पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में सर्वथा विफल रहे।

गोरखा सैनिक शासन :—

नैपाली सेना के सरदारों को विजित क्षेत्रों में जागीर प्रदान की जाती थी। ये सरदार या सेना-नायक अपनी जागीर की आय से अपने अधीन सेना का भरण-पोषण करते थे ; उनका अपना वेतन और सैनिकों का वेतन इसी जागीर से प्राप्त होता था। इनकी उपाधि फौजदार थी। ये फौजदार अपनी जागीर के सैनिक और असैनिक प्रबन्ध चलाते थे। सैनिक और उनके नायक अपनी अपनी आवश्यकता के अनुसार प्रजा का शोषण करते थे। इनका व्यवहार सर्वथा स्वेच्छाचारी और बर्बतापूर्ण होता था। गढ़वाल में, विशेष रूप से, इन्होंने प्रजा पर बहुत अत्याचार किये। पुराने जमींदार और अन्य प्रतिष्ठित वर्ग की हत्या करके समूल नष्ट किया और अपनी ओर से नये वर्ग और अधिकारियों का सृजन करने का प्रयास किया। बहुत से जमींदार लगान के अपने पुराने रिकोर्ड को लेकर भाग गये। इसका परिणाम यह हुआ कि इन सैनिक शासकों के पास लगान नियत करने का कोई आधार, परम्परा या मापदण्ड न रहा ; मन चाहे ढंग से इन्होंने लोगों का शोषण किया। जो लगान या दण्ड का भुगतान न कर सके, वे या तो गुलाम बनाकर बेच दिये गये अथवा वे अपने घर और गांव को छोड़ कर अन्यत्र अपने प्राण बचाने को भाग गये। पश्चिमी हिमालय क्षेत्र की शासन व्यवस्था के सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती है। इस क्षेत्र में इनको अधिक समय तक रहने का अवसर भी नहीं मिला। पहाड़ों के ऊपर जहां-जहां किले थे, वहां गोरखाओं के सैनिक रहते थे। वे ही उस क्षेत्र के शासक थे और मनमाने ढंग से रसद और अन्य आवश्यकता की वस्तुएं ये लोगों से प्राप्त करते थे। पर गढ़वाल की भांति इस क्षेत्र में दमन-चक्र की गाथाएं कम हैं।

थापा ने हंडूर राज्य के सभी किलों पर पुनः अधिकार कर लिया था और उनमें गोरखा सैनिको को रखा। हंडूर का राजा शिवालिक के आंचल में पलासी के किले में जा छिपा। शिवालिक क्षेत्र के छोटे-छोटे राज्य जैसा कुठाड़ वेजा महलोग अपने कनिहार, अरकी, बघाट, कोंथल आदि अमरसिंह थापा की पकड़ में थे। नाहन की ओर थापा ने पुत्र काजी रणजोर को पहले ही भेज दिया था। उसने सिरमौर क्षेत्र के किलों पर अधिकार किया और स्वयं नाहर के किले में रहने लगा। राजा कर्मप्रकाश ने अपने जागीरदार खुशहालसिंह से स्पाटू में शरण मांगी; परन्तु उसके पुत्र नारायणसिंह ने उसको शरण देने से इन्कार कर दिया। आस-पास के राजाओं ने भी नैपालियों के भय से उसको शरण या सहायता नहीं दी। अन्ततः कर्मप्रकाश अम्बाला में वरिया नामक स्थान पर रहने लगा। सन् १८२६ में यहीं इसका प्राणान्त हुआ। इस क्षेत्र में वेजा का एक छोटा सा राज्य था। गोरखा आक्रमण के समय विशनचन्द नाम का ठाकुर इसका शासक था। वह आयुर्वेद का ज्ञाता था। वैद्य होने के नाते वह गोरखा अधिकारियों का विशेष कृपा-पात्र था। परन्तु सन् १८१४-१५ के गोरखा और अंग्रेजों के युद्ध में अन्य राजा-राणाओं की भान्ति वह भी अंग्रेजों का पक्षधर बन गया।

राजा संसारचन्द और महाराजा रणजीतसिंह के मध्य हुई सन्धि का हिन्दी रूपान्तर :—

महाराजा रणजीतसिंह और राजा संसारचन्द के मध्य श्रावण, सम्वत् १८६६ वि० (तदनुसार २० जुलाई सन् १८०९) को ज्वाला मुखी में हुई सन्धि का हिन्दी रूपान्तर

राजा संसारचन्द के साथ यह सन्धि का इकरारनामा किया जाता है जिसके द्वारा राजा संसारचन्द कोट-कांगड़ा एवं संधात क्षेत्र को लाहौर दरबार को अधोलिखित शर्तों पर, हस्तान्तरित करना स्वीकार करता है :—

(इन धाराओं की पुष्टि हेतु इकरारनामा पर हस्ताक्षर करके एवं मुहर लगाकर यह राजा को दे दिया गया है।)

धारा (I) गुरू अतल की कृपा से सब गोरखाओं को सतलुज और यमुना के पार भगा दिया जावेगा।

धारा (II) अपनी भरसक शक्ति के अनुसार नीचे लिखे क्षेत्र जो गोरखा-शक्ति के आगमन के पश्चात् राजा संसारचन्द से छीन लिये गये थे, उनको राजा को सौंप दिया जावेगा। वे क्षेत्र हैं, मरोट, नेहरा (खालसा जी उनको अपने अधिकार में नहीं रखेंगे), चौकी वलभ, सिव, चनौर, घोसन, चतगढ़, तलहट चडियार, चन्दो, बैरा आदि। ये मण्डी क्षेत्र में हैं।

धारा (III) उन सभी क्षेत्रों की आय जो गोरखा आगमन से पूर्व राजा संसार चन्द को प्राप्त होती थी, वह राजा जी के अपने उपयोग के लिये निर्बाध आगे भी इसी प्रकार मिलती रहेगी। और जब तक उपरोक्त व्यवस्था स्थापित नहीं हो जाती भाई फतेहसिंह कोट-कांगड़ा के अन्दर रहेगा। लेकिन यदि उपरोक्त क्षेत्रों में से एक या दो

क्षेत्रों का अधिकार राजा जी को न भी दिलाया जा सके तो तब भी खालसा की सेना को कांगड़े के किले में प्रविष्ट कर दिया जावेगा और जो स्थान रह गये हों उनको बाद में जीत लिया जावेगा।

धारा (IV) कांगड़े के किले और सन्धात क्षेत्र को छोड़कर लाहौर दरबार को राजा के जीवन, धन-सम्पत्ति, मान और सम्मान पर कोई अधिकार नहीं होगा और न ही उससे किसी प्रकार भी सेवा तलब की जावेगी। संधात क्षेत्र के बदले पहाड़ में अन्य स्थानों को जीत कर राजा संसार चन्द को दिया जावेगा।

धारा (V) इस इकरारनामा की उपरोक्त सभी धाराओं को पूरी तरह कार्यान्वित किया जावेगा और दोनों पक्षों के वंशधर इसमें किसी का प्रकार भी परिवर्तन नहीं करेंगे।

मैं, अकाल पुरख जी, श्री ज्वालामुखी जी, श्री बाबा नानक जी, श्री गुरू हर जी, श्री अमृतसर जी, श्री गुरू अर्जुन जी, श्री गुरूगोविन्द सिंह जी, श्री बाबा गुरुदिता जी और श्री आनन्दपुर जी की शपथ लेकर कहता हूं कि मैं निष्ठापूर्वक इस सन्धि का अपनी पूरी शक्ति से पालन करूंगा।

यह पक्की सन्धि लिखित रूप में की गई है ताकि यह निर्विवाद और सम्पूर्ण इकरारनामा बना रहे। यह इकरारनामा ५ श्रावण सम्वत् १८६६ तदनुसार २० जुलाई १८०९) को मंगलवार के दिन श्री ज्वालामुखी जी में लिखा गया।

सन्धि का स्पष्टीकरण —

इकरारनामा के आरम्भ में ही ऊपरी भाग में महाराजा रणजीतसिंह के गुरूमुखी में हस्ताक्षर और मुहर की छाप लगी थी। दूसरी धारा में जिन स्थानों का उल्लेख है, वे मण्डी ने गोरखा आक्रमण के समय जीत लिये थे। तब कांगड़ा क्षेत्र में अराजकता फैली थी। सन्धि की धारा तीन के अनुसार रणजीत सिंह को तत्काल किले पर अधिकार नहीं सौंप दिया गया था। इसमें यह अपेक्षा की गई थी कि पहले गोरखाओं को सतलुज पार भगाया जाय और संसारचन्द से छीने गये इलाकों को उसको वापिस दिलाया जाय तब रणजीतसिंह को किले का कब्जा सौंपना था। आरम्भ में संसारचन्द का छोटे भाई मियां फतेहसिंह ही किले का अधीक्षक था। इस सन्धि में यमुना नदी का उल्लेख अनावश्यक था क्योंकि उस वर्ष १२ अप्रैल १८०९ को रणजीतसिंह ने अमृतसर में अंग्रेजों के साथ सन्धि की थी जिसके अनुसार सतलुज नदी लाहौर दरबार और अंग्रेजों के राज्य की सीमा मानी गई थी। यमुना के पार गोरखाओं को भगाना रणजीतसिंह की शक्ति से बाहर था। कांगड़ा पहुंचने पर गोरखाओं और सिखों के मध्य दो लड़ाइयों का स्पष्ट उल्लेख है। पहले नगर में किले के सामने और बाणगंगा के तट पर गणेश घाट में। इसके बाद सिखों ने गोरखाओं के शिवर चारों ओर से घेर लिया और नाके बन्दी करके रसद के सब मार्ग बन्द कर दिये। यह स्थिति कुछ दिन तक रही। जब कोई निर्णायक परिवर्तन न हुआ तो अन्त में रणजीतसिंह संसारचन्द के

पुत्र आनिरुद्धसिंह को बन्धक के रूप में लेकर किले में प्रविष्ट हुआ। अविश्वास की भावना तत्कालीन राजनीति में बहुत अधिक थी। रणजीतसिंह को संसारचन्द पर पूरा विश्वास नहीं था। अत: उसको अनिरुद्धसिंह को बन्धक बनाने की जरूरत मालूम पड़ी। किले में प्रवेश करके रणजीतसिंह ने अमरसिंह थापा को घेरा उठाने को लिखा और आश्वासन दिया कि मैं अवसर पड़ने पर गोरखाओं की अंग्रेजों के विरुद्ध सहायता करूंगा। थापा को यह पता था कि तीन महीने पहले तो अंग्रेजों और रणजीत सिंह के मध्य शान्ति सन्धि हो चुकी है और ऐसा आश्वासन देकर वह थापा को बेवकूफ बना रहा है। क्रोध में थापा ने रणजीतसिंह के दूत को कैद कर लिया इसके प्रतिकार में सिखों ने एक बड़ा आक्रमण गोरखा-शिविर पर किया। अब अमरसिंह थापा को निराश होकर सतलुज नदी की ओर प्रयाण करना पड़ा। इस सन्धि में काँगड़ा समुदाय के ग्यारह राज्यों का जो पहले संसारचन्द के अधीन थे, कोई उल्लेख नहीं है। सम्भवत: यह इस लिये कि तब ये सभी राज्य स्वतंत्र हो चुके थे और गोरखाओं के साथ मिलकर संसारचन्द के विरुद्ध लड़ रहे थे या लड़ने का अभिनय कर रहे थे। ये राज्य रणजीतसिंह की विजय-लालसा के लिये छोड़ दिये गये हों। छोटे-छोटे राज्य तो अपने आप ही रणजीतसिंह के कृपा-पात्र बनने के लिये पहले ही उसकी छत्र-छाया में आ गये थे। अगले पाँच-छ: वर्षों में कुल्लू, मण्डी, सुकेत और चम्बा को छोड़ शेष राज्यों के शासकों को रणजीतसिंह ने पदच्युत कर जागीर प्रदान की और उनके राज्यों का अपने क्षेत्र में विलय कर दिया।

१०. अंग्रेजों और नैपाल के मध्य संघर्ष

उत्तरी राज्यों की विजय—

कांगड़ा से पराजित होकर अमरसिंह थापा ने यमुना और सतलुज नदियों के मध्यवर्ती राज्यों को पुनः हस्तगत करने का प्रयास किया। जिन्होंने उसको कांगड़ा के घेरे के समय धोखा दिया था, वे उसके कोप-भाजन बने। सिरमौर का राजा कर्मप्रकाश और नालागढ़ (हंडूर) का राजा रामसिंह उनमें प्रमुख थे। कर्मप्रकाश तो भाग कर अंग्रेजों के इलाके की ओर चला गया। रामसिंह ने पलासी के किले में शरण ली। विलासपुर का राजा महाचन्द थापा का सहायक अवाध रूप से रहा। थापा का प्रतिनिधि शिवदत्तराय विलासपुर में राजा महाचन्द का परामर्शदाता बना हुआ था। थापा ने सबसे प्रथम हंडूर राज्य के पलासी को छोड़ नालागढ़ से लेकर मलौण तक सभी किलों पर अधिकार कर लिया। अरकी और उसके आस-पास के छोटे-छोटे राज्य पहले ही गोरखाओं के अधिकार में थे। काजी अमरसिंह का लड़का रणजोरसिंह थापा पहले ही सिरमौर राज्य का स्वामी बन गया था। रणजोरसिंह ने नाहन के किले को अपना मुख्य केन्द्र बनाया और आस-पास की पहाड़ियों पर स्थित किलों में गोरखा सैनिकों को रखा। इनमें प्रमुख राजगढ़, मोरनी और जैथक के किले थे। जैथक का किला नाहन के सम्मुख उत्तर-पश्चिम दिशा में एक पहाड़ी पर स्थित था। पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में अंग्रेज और गोरखाओं के मध्य संघर्ष में जैथक का प्रमुख स्थान रहा है, उत्तरी पहाड़ी क्षेत्र में कई छोटे-छोटे राज्य थे जो नाम मात्र के लिए सन् १८०४ से ही गोरखा राज्य के अन्तर्गत समझे जाते थे, परन्तु गोरखाओं का प्रभुत्व अब सर्वथा क्षीण हो गया था। सन् १८११ के लगभग काजी अमरसिंह थापा ने इन छोटी-छोटी उत्तरी रियासतों की ओर ध्यान दिया। कहा जाता है कि एक छोटे से राज्य, बलसन ने तीन बार नगान नाम के किले पर गोरखाओं को हराया। इसी प्रकार पुन्नरियों ने भी मातिल नामक स्थान पर गोरखाओं को परास्त किया। बलसन के तत्कालीन राणा जोगराज सिंह ने पहाड़ी राजाओं को एकत्र किया और मिलकर इनका मुकाबला करने की योजना बनाई। उसने बुशैहर के राजा से भी सहायता माँगी। ऐसा प्रतीत होता है कि तब तक बुशैहर तक गोरखाओं की पहुंच नहीं हुई थी। काजी अमरसिंह थापा का अधिकाँश समय सिरमौर, नालागढ़, विलासपुर और कांगड़ा क्षेत्र में ही व्यतीत हुआ। सन् १८०३ से लेकर १८१० तक इधर की ही समस्याओं से वह निपट सका। सन् १८१० के उपरान्त वह उत्तरी क्षेत्र की ओर ध्यान दे सकता। राणा बलसन के हाथों 'नगान' में गोरखा पराजय से काजी अमरसिंह बहुत चिन्तित हुआ। फलतः सन् १८११ के ग्रीष्म काल में वह स्वयं एक

विशाल सेना लेकर स्पाटू से चला और नगान के स्थान पर उत्तरी राज्यों की संगठित सेना से उसका मुकाबला हुआ। गोरखा सेना प्रशिक्षित और तत्कालीन युद्ध-कला में निपुण थी। पहाड़ी राजाओं की सेना तो आधुनिक स्वयं-सेवक दल के समान होती थी। ये प्रजा के लोग ही होते थे और उन्हीं के अपने अस्त्र-शस्त्र होते थे। इनके हथियार मुख्यतः धनुष-बाण, तलवार, खड्ग, कुल्हाड़ी और कुछ-कुछ नालीदार बन्दूकें भी होती थीं, नगान के युद्ध में अमरसिंह थापा ने सभी पहाड़ी राजाओं को परास्त किया। इनमें प्रमुख जुब्बल, ठियोग, कोटखाई, खनेटी, बुशैहर आदि थे।

नैपालियों का बुशैहर में प्रवेश—

इन छोटे-छोटे राज्यों को परास्त करने के बाद अमरसिंह थापा ने सतलुज की उत्तरी घाटी में प्रवेश किया। इस घाटी में मुख्यतः बुशैहर राज्य था। उस समय बुशैहर की स्थिति अच्छी नहीं थी। उससे एक वर्ष पूर्व सन् १८१० में इस राज्य के राजा उग्रसिंह की मृत्यु हुई थी। उसका उत्तराधिकारी राजा महेन्द्रसिंह तब लगभग चार-पांच वर्ष का बालक था। राजमाता वजीरों की सहायता से राजकाज चला रही थी। गोरखा सेना के पहुंचने पर रामपुर में भगदड़ जैसी मच गई। गोरखा आक्रमणकारी क्रूर और निर्दय थे, लूटमार और रक्तपात इनके विजय अभियान के अभिन्न अंग थे। राजपरिवार भागकर कनौर में पुरानी राजधानी कामरू में चला गया। कहते हैं कि गोरखाओं ने रामपुर शहर को बुरी तरह से लूटा। राजमहल में सुरक्षित पुराने दस्तावेजों को इन्होंने जला दिया और शहर के कुछ भाग को भी जला दिया। आतंकित होकर बहुत से लोग अपने खेतों और घरों को छोडकर सतलुज पार कुल्लु क्षेत्र में चले गये। गोरखा आक्रमण के पहले प्रहार में ही सारा बुशैहर कांप गया।

बुशैहर और गोरखाओं के मध्य समझौता—

परन्तु दरबारियों ने बड़े धैर्य से गोरखाओं के साथ लम्बी बातचीत के उपरान्त एक समझौता किया। इसके अनुसार सतलुज पार का बुशैहर राज्य का भाग बुशैहर के राजा को दे दिया गया और सतलुज वार का क्षेत्र गोरखाओं ने अपने शासन में रखा। यह भी आश्वासन गोरखा सरकार से प्राप्त हुआ कि सतलुज पार के क्षेत्र पर राजा का स्वच्छन्द शासन होगा और इसके बदले में बुशैहर दरबार गोरखाओं को १२००० रुपये वार्षिक नजराना देगा। ऐसा प्रतीत होता है कि वांगतू से आगे कनौर का सारा क्षेत्र बुशैहर को दे दिया गया। इसमें सतलुज के आर-पार का सारा क्षेत्र सम्मिलित था वाँगतू का पुल सम्भवतः गोरखा शासित क्षेत्र और बुशैहर के अधीन कनौर के मध्य सीमा थी। उस समय बस्पा की घाटी में स्थित कामरू का किला राज-परिवार का निवास-स्थान रहा। यह सतलुज के पार के क्षेत्र में आता है, परन्तु इसकी भौगोलिक स्थिति ऐसी थी कि यह गोरखा क्षेत्र में सम्मिलित नहीं किया जा सकता था। शेष सारा बुशैहर जिसमें रामपुर क्षेत्र और रोहड़ की पबर उपत्यका सम्मिलित थी, गोरखाओं के शासन में था, जे० बी० फ्रेजर के अनुसार सारे बुशैहर राज्य से नैपाल

दरबार को ८०,००० रुपये की वार्षिक आय थी। सम्भवत: इसमें १२००० रुपये वार्षिक कर के भी सम्मिलित हों। स्थान-स्थान पर जो नैपाली सैनिक दस्ते और अधिकारी रहते थे, उनका वेतन भत्ता और अनुचित साधनों से प्राप्त आय इसके अतिरिक्त थी। नारकण्डा के निकट हाटू धार से लेकर रावीगढ़ तक की पर्वत श्रंखला पर कई किले थे, सम्भवत: ये ठाकुरों के पुराने किले थे, तत्कालीन रण-नीति के अनुरूप ऐसे किले पहाड़ों की चोटियों और धारों पर सर्वत्र थे; परन्तु गोरखाओं ने इन किलों को अधिक सुदृढ़ किया और उनमें पानी संग्रह करने की सुविधाओं को बढ़ाया। इन किलों में गोरखा सैनिक रहते थे और आस-पास के गाँवों से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। हाटू का किला इनका प्रमुख केन्द्र था। इस सारे क्षेत्र का प्रमुख सैनिक अधिकारी इसी किले में रहता था। इसका नाम कीर्ति राणा था। यह नैपाल राज्य के अन्तर्गत पल्पा के राजवंश का था। उसकी आयु ७० वर्ष से कम नहीं थी पर अमरसिंह थापा की भाँति यह क्रूर और निर्दय नहीं था। इस क्षेत्र में जब गोरखा सैनिक शासन पूरी तरह स्थापित हो गया, तो कीर्ति राणा ने लोगों के साथ न्याय और कोमलता का व्यवहार किया —ऐसी जनश्रुति प्रचलित है। छोटे-छोटे सैनिक अधिकारी और सिपाही प्राय: लोगों का शोषण करते थे। गोरखा आक्रमण के समय जो लोग अपने घरों और गांवों को छोड़कर कुल्लू या अन्यत्र चले गए थे, धीरे-धीरे वापिस आने लग पड़े। इस क्षेत्र में गोरखा सैनिक-शासन केवल चार वर्ष सन् १८११ से १८१५ तक रहा। नीचे के पर्वतीय भाग में जो मुख्यत: शिवालिक के उपगिरि क्षेत्र में आता है, गोरखा शासन कुछ अधिक समय तक रहा। उपरिपर्वतीय क्षेत्र में बुशैहर के अतिरिक्त, जुब्बल, कोटगढ़, खनेटी, ठियोग, बलसन आदि छोटे-छोटे राज्य आते हैं।

किंवदन्ति : बुशैहर में प्रचलित किंवदन्ति के अनुसार जब राज-परिवार कनौर में कमरू के किले में चला गया तो गोरखाओं ने कनौर पर हमला किया। वे कामरू के किले में स्थित बुशैहर के खजाने को लूटना चाहते थे। परन्तु वांगतू से कुछ आगे चौगाँव के निकट कनौरों ने उन पर आक्रमण किया और आगे बढ़ने से रोका। एक अन्य वृतान्त के अनुसार पवारी विष्ट वजीर टिकमदास ने लकड़ी के बड़े-बड़े सन्दूक जिन पर मजबूत ताले लगे हुए थे, यह कह कर कि इनमें बुशैहर का मूल्यवान खजाना भरा है, गोरखाओं को दिये। चाबियां पीछे भूल जाने का बहाना किया गया। कहा जाता है कि उन सन्दूकों में पत्थर भरे हुये थे। इस किंवदन्ति का उल्लेख शिमला क्षेत्र की रियासतों के गजेटियर में भी किया गया हैं। नैपाली ऐसे भोले-भाले मूर्ख नहीं थे। जब की यह घटना है तब नैपाली सिक्किम की सीमा से लेकर सतलुज नदी तक के पहाड़ी क्षेत्र पर अपना साम्राज्य स्थापित कर चुके थे। यदि वे बुशैहरियों के इस प्रकार के बहकावे में आ जाते तो इतने बड़े साम्राज्य को स्थापित करना उनकी बल-बुद्धि से परे होता। गोरखा राजनीतिक दांव-पेच में भी किसी से हार खाने वाले नहीं थे। अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी में गोरखा इन दांव-पेचों में अंग्रेजों को मात करते रहे। उनकी राजनैतिक सूझ-बूझ के कारण से ही नैपाल अपने आप को अंग्रेजों के चंगुल से

बचा सका। अतः पत्थर से भरे सन्दूक का वृतान्त ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वहीन है। यह एक भोली मानसिक कल्पना मात्र है। बुशैहर दरबार और नैपाली सेनाधिकारियों के मध्य उपरोक्त समझौता एक ऐतिहासिक तथ्य है। इस समझौते के बाद बुशैहर के वजीर टिकमदास और बदरीदास बुशैहरी सैनिकों के साथ काजी अमरसिंह थापा के प्रमुख सेनानी बन गये और थापा की सेना के साथ विजय अभियान में निरन्तर जाते रहे। यह स्थिति सन् १८११ से मार्च १८१५ तक रही। सन् १८१५ में गोरखा सेना कई स्थानों पर अंग्रेजों से हारती गई। पश्चिमी सीमा पर थापा, अंग्रेज कमान्डर अखतरलोनी से जब पराजित होने वाला था तब बुशैहर के वजीर टीकमदास ने थापा का साथ छोड़ दिया और धीरे-धीरे अंग्रेजों के पक्ष में चला गया।

अंग्रेज और गोरखा शक्तियों के मध्य विवाद और संघर्ष—

रणजीतसिंह के कारण कोट कांगड़ा में अमरसिंह थापा के काश्मीर-विजय के स्वप्न पर पानी फिर गया। सन् १८१० से सन् १८१४ तक की छोटी अवधि में गोरखा शक्ति और अंग्रेजों के मध्य सीमा सम्बन्धी विवाद उत्पन्न हो गया। गोण्डा और गोरखपुर के तराई क्षेत्र में अंग्रेजों और गोरखाओं की सीमा लगभग ११०० किलो मीटर तक मिलती थी। इस क्षेत्र में बटवाल और शिवराज की दो बड़ी जागीरदारियाँ थीं। ये क्षेत्र पहले अवध के नवाब-वजीर के राज्य के अन्तर्गत नैपाल के अधीनस्थ राजा पलपा की जागीर थी। परन्तु लार्ड वेलजली की सहायक सन्धि के अन्तर्गत नवाब वजीर को अंग्रेजों की सहायक सेना रखने के बदले या तो धन देना पड़ता था या अपने राज्य का कुछ भाग अंग्रेजों को हस्तानान्तरित करना पड़ता था। अवध के नवाब वजीर की आर्थिक स्थिति इतनी अच्छी नहीं थी। अतः उसनेअपने राज्य का तराई वाला भाग अंग्रेजों को सहायक सेना के व्यय के लिये दे दिया। इसमें उपरोक्त दो जागीरें भी थीं। ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार ने पलपा के राजा के साथ नया इकरारनामा किया जिसके अनुसार बटवाल की जागीर के लिये राजा ने ३२००० रुपये सालाना कम्पनी सरकार को देना शुरू किया। नैपाल सरकार को पलपा के राजा का यह कार्य अच्छा न लगा। नैपाल दरबार पहले से ही किसी अन्य कारण से पलपा के राजा से रुष्ट था। उसको काठमांडू बुलाया गया। कुछ दिन बन्दी रखने के बाद पलपा के राजा को मृत्यु-दण्ड दिया गया और बटवाल की जागीर नैपाल ने गुल्मी के राजा को दे दी। फलतः अंग्रेजों और नैपाल सरकार के मध्य एक विवाद उत्पन्न हो गया। नैपाल दरबार का कहना था कि पलपा का राजा नैपाल के अधीन है। अतः उस जागीर का स्वामित्व का निर्णय नैपाल दरबार स्वयं करेगा। नैपाल सरकार उस जागीर को उन्हीं शर्तों पर रखने को तैयार थी जिन पर नवाब वजीर से पलपा के राजा के पास थी। परन्तु कम्पनी सरकार यह मानने को तैयार नहीं थी। उसका कहना था कि एक प्रभु-सत्ता सम्पन्न सरकार दूसरी सरकार का मुजारा नहीं बन सकती। विवाद उत्पन्न होने पर उसको सुलझाने का क्या साधन होगा ? क्या युद्ध करना पड़ेगा ? उधर इसी क्षेत्र में सीमा सम्बन्धी विवाद भी था। जितने क्षेत्र को अंग्रेज अपनी जागीर के अन्तर्गत

इसने उग्र रूप धारण कर लिया। सबसे पहले अंग्रेजों ने नैपाल के साथ सारे व्यापारिक सम्बन्ध समाप्त कर दिये।

युद्ध प्रारम्भ—

उस समय लार्ड हेस्टिंटिंग, ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार का गवर्नरजनरल था। अंग्रेजों की धाक सारे हिन्दुस्तान में फैल चुकी थी। दिल्ली तक इनका प्रभुत्व हो चुका था। सन् १८०९ की अमृतसर-सन्धि के अनुसार रणजीतसिंह के साथ अंग्रेजों का प्रत्यक्ष रूप से मैत्री सम्बन्ध था। उत्तरी भारत में केवल गोरखाओं ने अंग्रेजों को चुनौती दी थी। यह अंग्रेज शक्ति की प्रतिष्ठा का प्रश्न था। अभी तक तो अंग्रेज किसी से नहीं दबे थे। गोरखा-शक्ति के सम्मुख झुकना अंग्रेजों को कहां सह्य था? अत: पूरे उत्साह के साथ सन् १८१४ की वर्षा ऋतु के पश्चात् युद्ध की तैयारी होने लगी। नैपाल की तराई से लेकर बिलासपुर में सतलुज नदी तक लम्बा सीमान्त था जहाँ गोरखा-साम्राज्य और अंग्रेजी-साम्राज्य की सीमा आमने-सामने थीं। युद्ध चार मोर्चों पर हुआ, चार स्थानों से अंग्रेजी-सेना ने गोरखा-क्षेत्र की ओर प्रयाण किया। दो मोर्चे पूर्वी क्षेत्र में थे। एक सैनिक दस्ता मुख्य नैपाल उपत्यका की ओर गोरखपुर से चला। इस दस्ते का लक्ष्य नैपाल की राजधानी काठमाण्डू की ओर जाना था। मार्ग के अज्ञान और विकटता के कारण इस दस्ते को कोई विशेष सफलता नहीं हुई। पूर्वी क्षेत्र में अंग्रेजी सेना का दूसरा लक्ष्य कुमाऊं था। इसमें अंग्रेजी सेना को आरम्भ में कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली, परन्तु चार महीने के कठोर अभियान के बाद अप्रैल १८१५ में अल्मोड़ा समेत समस्त कमाऊं पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया।

अंग्रेजों की रण-नीति—

पश्चिमी क्षेत्र में अंग्रेजी सेना ने दो स्थानों से पहाड़ी इलाके में प्रवेश किया। रोपड़ से नालागढ़ और विलासपुर की ओर, दूसरा सहारनपुर से देहरादून की ओर। गढ़वाल पर सन् १८०३ से पूरी तरह से गोरखाओं का अधिकार था; परन्तु गढ़वाल में प्रवेश करना अंग्रेजों ने सामरिक दृष्टि से सुरक्षित नहीं समझा। उनकी नीति दून क्षेत्र पर अधिकार करने के बाद गढ़वाल में गोरखाओं के विरुद्ध विद्रोह उत्पन्न करना था; परन्तु इसमें उनको सफलता नहीं मिली। पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में जिसमें सतलुज और यमुना के मध्य के राज्य थे, वहां गोरखाओं ने अधिकांश राजाओं राणाओं और ठाकुरों को पदच्युत किया हुआ था, लार्ड हेस्टिंग के विचार से गोरखाओं के प्रति असन्तोष के द्वारा वह अपना पक्ष सुदृढ़ करना चाहता था फिर इस क्षेत्र का मुख्य सेना-नायक काजी अमरसिंह थापा अरकी में बैठा सारे इलाके का नियन्त्रण कर रहा था। उस पर प्रहार करना आवश्यक था। दून क्षेत्र को हस्तगत करने के बाद दो दिशाओं से अंग्रेजों ने सतलुज और यमुना के मध्यवर्ती राज्यों पर आक्रमण करने की ठानी; परन्तु ये दोनों रण-क्षेत्र स्वतंत्र रूप से रण-नीति अपना रहे थे। एक ओर रोपड़ की ओर से मेजर-जनरल अखतरलोनी ने नालागढ़ राज्य में प्रवेश किया और

बड़ी विचार शील युद्ध-नीति को अपना कर धीरे-धीरे नालागढ़ से उत्तर-पश्चिम में स्थित आधे दर्जन के लगभग पर्वतारूढ़ नालागढ़ राज्य के किलों को जीतता हुआ बिलासपुर पहुंचा। इसमें उसको लगभग छः महीने का समय लग गया। देहरादून क्षेत्र की ओर से अंग्रेजी सेना ने नैपालियों को चकमा देने के लिये पाँटा के पास यमुना को पार नहीं किया गया, बलिक दक्षिण-पश्चिमी दिशा में सहारनपुर के निकट के स्थान पर जाकर किश्तियों के बेड़े से यमुना पार किया और काला अम्ब के मार्ग से नाहन नगर में प्रवेश किया। क्यारदादून के मार्ग से सिरमौर में प्रवेश करना लॉर्ड हेस्टिंग असुरक्षित समझता था। पश्चिमी क्षेत्र में लड़ाई मुख्यतः तीन मोर्चों पर हुई थी; देहरादून में नालापानी के स्थान पर, सिरमौर में नाहन के सामने उत्तर-पश्चिमी दिशा में स्थित जैथक के किले के पास और तीसरा हंडूर में बिलासपुर के पूर्व में स्थित शिवालिक की एक चार हजार फुट ऊंची पहाड़ी पर स्थित मलोण में।

नालापानी की लड़ाई—

अक्तूबर सन् १८१४ में अंग्रेजों ने नैपाल सरकार के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और तत्काल नैपाल उपत्यका और नैपाल द्वारा विजित पहाड़ी क्षेत्र की ओर अंग्रेजी सेना ने चार स्थानों से कूच किया। पश्चिमी क्षेत्र में अंग्रेजी सेना का जमाव सहारनपुर और रोपड़ में हुआ। सहारनपुर के पास एकत्र सेना ने दून-क्षेत्र की ओर प्रयाण करना था और रोपड़ वाली सेना ने हंडूर (नालागढ़) की ओर जाना था। दून क्षेत्र का सेना-पति मेजर जनरल गिलस्पी था और हंडूर क्षेत्र का सेना-नायक कर्नल अखतर लोनी था; पर दोनों के स्वभाव और सेना-संचालन की योग्यता में बड़ा अन्तर था; गिलस्पी उतावला और चंचल स्वभाव का था; परन्तु अख्तरलोनी सैन्य-पद में कनिष्ट होने पर भी बहुत चतुर और रण-संचालन में निपुण था। पश्चिमी क्षेत्र में सफल सैन्य संचालन का श्रेय मुख्यतः अखतरलोनी को है। सन् १८१४, १६ अक्तूबर को गिलस्पी की सेना ने सहारनपुर से दून क्षेत्र की ओर कूच किया। इस सेना में ४४०० लड़ाकू सैनिक थे जिनमें ६०० सैनिक योरुपियन थे। असैनिक कर्मचारियों और अधिकारियों के व्यक्तिगत सेवकों को मिला कर सारे दल-बल की संख्या पन्द्रह हजार से कम न थी। आधी रात के समय इस सेना ने दून क्षेत्र की ओर प्रयाण किया और दूसरे दिन रात के समय सेना का अग्रिम भाग दून की घाटी में पहुंचा। देहरादून से तीन मील पूर्व-उत्तर दिशा की ओर नालापानी में एक छोटे से किले में गोरखा सेना थी। इस सैनिक टुकड़ी का नायक अमरसिंह थापा का भतीजा बलभद्र थापा था। यह किला जंगल से घिरे एक छोटे पहाड़ी टीले पर था। रात के समय अंग्रेज अधिकारी ने एक पत्र बलभद्र थापा को इस आशय का भेजा कि वह किले को अंग्रेजो को समर्पित कर दे। कहते हैं कि थापा ने यह कह कर पत्र को लाने वाले के सामने ही फाड़ दिया कि मैं असमय पर न मैं पत्र लेता हूं और नाही उत्तर देता हूं। हाँ, साहब को कह देना कि मैं युद्ध भूमि में मिलूंगा। २४ अक्तूबर प्रातः काल के

समय अंग्रेजों ने चार ओर से आक्रमण करने की योजना बनाई। मेजर जनरल गिलस्पी की योजना के अनुसार एक साथ चारों ओर से अंग्रेजी सेना ने किले पर धावा बोलना था। अलग-अलग दस्ते निर्दिष्ट स्थानों को भेज दिये गये और उनको आदेश था कि तोप की विशेष ध्वनि-संकेत के मिलने पर सब दस्ते मिलकर किले पर आक्रमण करें ; परन्तु गिलस्पी के उतावलेपन के कारण प्रातः काल से ही तोपों की गड़गड़ाहट आरम्भ हो गई। फलतः धावा योजना के अनुसार न चल सका। किले में नैपाली सेना की संख्या चार-पाँच सौ से अधिक न थी। आक्रामक अंग्रेजी सेना की संख्या २३५४ थी। इसमें नौ सौ के लगभग सैनिक रिजर्व में थे। कर्नल कारपेंटर के दस्ते ने सब से पहले किले की दीवार पर गोलाबारी की और एक अंग्रेज अधिकारी ने दीवार को लाँघने या गोलाबारी करने के लिये दीवार पर सीढ़ी लगाई ; परन्तु किले के अन्दर से एक गोली लगने से ले० एलिस नाम का वह अंग्रेज अधिकारी धराशाही हो गया। उससे ३० गज की दूरी पर मेजर जनरल गिलस्पी एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में अपना टोप लेकर सिपाहियों को प्रोत्साहित कर रहा था। वह किले के मुख्य द्वार के निकट था। इतने में किले के अन्दर से एक गोली आई और जनरल का मृत शरीर भूमि पर छटपटाने लगा। किले के अन्दर से गोलियों, तीरों और पत्थरों की बौछारों से अंग्रेजी सेना के सिपाही बड़ी संख्या में हताहत और घायल हो रहे थे। किले के अन्दर से गोरखाओं की स्त्रियाँ घात लगाकर पत्थरों से प्रहार कर रही थीं जिसे कई सिपाही बुरी तरह से घायल हो गये। इस आक्रमण में अंग्रेजी सेना को भारी क्षति हुई ; सेना नायक गिलस्पी के अतिरिक्त, चार अन्य अधिकारी मारे गये, पन्द्रह घायल हुये, सताईस अन्य अधिकारी और सिपाही मारे गये। कुल २१३ सैनिक घायल हुये। अंग्रेजी सेना के मुकाबले में, मुट्ठीभर नैपालियों ने शत्रु को भारी क्षति पहुंचाई। अंग्रेजों को विश्वास था कि गढ़वाल के लोग नैपालियों के विरुद्ध मिलकर विद्रोह कर देंगें ; परन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ। वे सोत्सुक नाला पानी के युद्ध-परिणाम की प्रतीक्षा कर रहे थे। विलियम फ्रेजर नाम के राजनैतिक अधिकारी को यह काम सौंपा गया कि वह स्थानीय लोगों की सहायक सेना तैयार करे ; परन्तु एकाएक गोरखाओं का साथ छोड़ने के लिये लोग तैयार नहीं थे। इस अनिश्चित स्थिति से लोग इतने अधिक आतंकित थे कि दून-क्षेत्र लगभग निर्जन-जैसा लगता था। नालापानी के एक छोटे से युद्ध में अंग्रेजी सेना की जो क्षति हुई उससे अंग्रेजों की प्रतिष्ठा पर एक धब्बा लगा और लोगों का उनकी शक्ति पर विश्वास शिथिल पड़ने लगा। पहली पराजय के बाद अंग्रेजी सेना नालापानी से हटकर देहरादून की दिशा में आ गई और पूरे एक महीने तक युद्ध स्थगित रहा। आरम्भिक प्रयत्न से यह स्पष्ट हो गया कि बिना बड़ी तोपों के किले को जीतना सम्भव नहीं है। बड़ी तोपों से किले की दीवारों को उड़ाना किले को जीतने के लिए आवश्यक था।

अपार क्षति के बाद नालापानी का पतन --

२४ नवम्बर को २४ पौंड का गोला बरसाने वाली तोपें किले से कुछ दूरी पर

स्थापित की गई और किले की दीवारों को उड़ाने का प्रयत्न आरम्भ हुआ। निरन्तर गोलाबारी से किले की दीवारें धराशायी कर दी गई, लेकिन तब भी किले के अन्दर प्रवेश करने की किसी को हिम्मत नहीं हुई। सारे दिन और आधी रात तक दोनों ओर से गोलाबारी होती रही। अंग्रेजों की सेना को इस दिन के युद्ध में भी भारी क्षति उठानी पड़ी। ३६ हिन्दोस्तानी अफसर और ४३१ सिपाही घायल हुये। तीन अंग्रेज अफसर मारे गये। अगले दिन गणना करने से मालूम हुआ कि इस दिन की लड़ाई में ४७८ अफसर और सिपाही मारे गये और घायल हुए। नालापानी की दो लड़ाइयों में कुल हताहत और मृतकों की संख्या ७५० हो गई जबकि किले के अन्दर नैपालियों की संख्या चार-पाँच सौ से अधिक नहीं थी। इस क्षति से तत्कालीन गर्वनर जनरल लार्ड हेस्टिंग—और इंगलैंड की सरकार स्तब्ध रह गई। उसी दिन आधी रात के समय बचे हुये नैपाली जिनकी संख्या ७० से अधिक नहीं थी, बलभद्र थापा के साथ भाग निकले। लेकिन अंग्रेजों की हिम्मत नहीं हुई कि वे किले में प्रवेश करें। सुबह चार बजे के लग-भग ढोल बजाने वाले एक लड़के ने साहस करके किले में प्रवेश किया और उसने चिल्ला कर कहा—"खाली है, खाली है।" इसके बाद अधिकारियों ने किले में प्रवेश किया। अभी अंधेरा ही था। घायल और मरणासन्न नैपालियों का क्रन्दन उस अंधेरे में सुनाई दे रहा था। चारों ओर नैपालियों के मृत शरीर बिखरे हुए थे। कहीं-कहीं एक दूसरे के ऊपर पड़े थे। किले से भारी दुर्गन्ध आ रही थी। एक स्त्री जिसकी टांग कटी थी, 'पानी-पानी" कह रही थी। एक अन्य स्त्री जो स्वयं तो अनाहत थी, परन्तु उसका घायल बच्चा उसका स्तन-पान कर रहा था। दो छोटी छोटी बालिकाएं, एक चार वर्ष की और दूसरी एक वर्ष की पड़ी थी, उनके माता-पिता हताहत हो चुके थे। एक नव-युवक गोरखा जिसके सिर पर चोट लगी, विक्षिप्त अवस्था में पड़ा चेतना-शून्य होकर जमीन में अंगुली से रेखाएं खींच रहा था। जमीन में जहां तहां दो-दो फुट गहरी खन्दकें खुदी थीं। वस्तुतः गोरखाओं ने किले की जमीन को खोदकर गहरा कर दिया था। जिससे बाहर से आने वाली गोलियों का उन पर सीधा प्रहार नहीं होता था। कई शव किले के अन्दर ही इधर उधर अधूरी कब्रों में दबाये हुये थे। अंग्रेजी सेना ने ९७ शवों को जो इधर उधर पड़े थे एकत्र करके जलाया। यह वीभत्स और भयावह दृश्य देखकर अंग्रेज अधिकारी बलभद्र थापा और उसके बहादुर सिपाहियों की प्रशंसा किये बिना न रह सके। इस किले के एक-एक पत्थर को उखाड़ कर समतल कर दिया गया परन्तु अंग्रेजों ने बलभद्र थापा और उसके वीर सिपाहियों की स्मृति में वहाँ एक स्मारक स्थापित किया।

नालापानी का स्मारक—

This is inscribed as tribute of respect for our gallant adversary Balbhadar Commander of the fort and his brave Gorkhas who were afterwards in service of Ranjit singh shot dawn in their rank to to the last man by the Afghan artillery

स्मारक की दूसरी ओर यह अभिलेख है :—

On the highest point of the hill above this tomb stood the fort Kalanga (Nalapani). After Two assaults on 31st Oct and 27 th Nov. 1814 it was captured by the British Troops on 30th Nov. 1814 and completely raised to ground.

जे० बी० फ्रेजर ने जिसने स्वयं गोरखा युद्ध में अंग्रेजों के परामर्शदाता के रूप में काम किया था, नालापानी के युद्ध में नैपालियों के व्यवहार और नैतिक नियमों के पालन की भूरि-भूरि प्रशंसा की है, उसका कहना है, "अन्यत्र गोरखाओं का युद्ध में चाहे कैसा भी व्यवहार रहा हो, पर यहाँ नालापानी में न तो उन्होंने घायलों और कैदियों के प्रति क्रूरता प्रदर्शित की, न ही विषाक्त बाणों का प्रयोग किया और ना ही उनके व्यवहार में प्रतिहिंसा की भावना देखने में आई। उन्होंने युद्ध में न्याय-संगत व्यवहार किया और उदारता दिखाई। मृतकों के शरीर का उन्होंने कभी अपमान नहीं किया और जब तक हमने शवों को नहीं उठाया तब तक उन्होंने उनको छुआ तक नहीं। और ना ही उन्होंने हमारे मृतक सिपाहियों को वस्त्र और शस्त्रहीन करके लूटा जबकि युद्ध में प्रायः सर्वत्र ऐसा होता है। उन्होंने हम पर जो विश्वास व्यक्त किया उससे हम फूले नहीं समाये। जब कभी उन्होंने हमसे चिकित्सा संबंधी सहायता माँगी, वह हमने उनको दी। एक बार तो एक अनन्य घटना हुई ; जब जोरों से गोलाबारी हो रही थी, तो किले की टूटी दीवार से एक सिपाही हाथ हिलाता हुआ दिखाई दिया। तुरन्त गोलियाँ चलनी बन्द हो गईं। वह हमारी तोपों के पास आया। देखने से ज्ञात हुआ कि वह एक गोरखा सिपाही है जिसका निचला जबड़ा गोली के प्रहार से उखड़ गया था। ऐसी अवस्था में वह अपने शत्रु से सहायता प्राप्त करने आया था। यह सहायता उसको मिली और जब वह कुछ दिनों में ठीक हो गया तो उसने अपनी सेना में वापिस जाने की आज्ञा मांगी। इस प्रकार युद्ध-काल में उदारता और विनम्रता की भावना व्यक्त करता हुआ उसने व्यक्तिगत और राष्ट्रीय भावों को एक-दूसरे से भिन्न रखा एवं हमारी जाति के व्यक्तियों में विश्वास प्रकट किया ; परन्तु सामूहिक रूप से हमारे विरुद्ध लड़ने के लिये अपना कर्तव्य (धर्म) समझ कर वापिस चला गया।

गढ़वाल में गोरखा आतंक—

नालापानी का युद्ध नैपाल की दृष्टि से कोई महत्वपूर्ण युद्ध नहीं था, दून क्षेत्र का सामरिक महत्व केवल गंगा और यमुना नदियों पर बने यातायात के घाटों पर नियंत्रण में था। इन घाटों के मार्ग से रणजोरसिंह और अमरसिंह थापा का सम्पर्क गढ़वाल, कुमांऊ और नैपाल से था, इन घाटों पर नालापानी की लड़ाई के बाद अंग्रेजों का अधिकार होने पर भी गोरखाओं को यह सम्पर्क कायम रखने में कोई अधिक कठिनाई नहीं हुई क्योंकि वे इस क्षेत्र के भागों से अच्छी तरह परिचित थे, परन्तु अंग्रेजों को इसमें कठिनाई थी, उनको इस क्षेत्र से कोई विशेष परिचय नहीं था। अंग्रेजी सेना के राजनैतिक अधिकारी, विलियम फ्रेजर के पास तुलेराम नाम का गढ़वाली नौकर था।

उसके माध्यम से वि० फ्रेजर ने गढ़वाल के प्रतिष्ठित जमींदारों से सम्पर्क स्थापित करने का प्रयास किया, विशेष रूप से मसूरी के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र जौनपुर परगने के लोगों के साथ। पर उनके पत्रों से पता चलता है कि वे गोरखाओं से कितने आतंकित थे और उनके भय के कारण वे गुप्तरूप से भी अंग्रेजों के साथ सम्बन्ध रखने को तैयार नहीं थे, वे नैपालियों को ही अपना शासक मानते थे। यह नैपालियों के प्रति किसी राज-भक्ति या श्रद्धा से नहीं बल्कि उनकी बर्बरता और भय के कारण था। वे गोरखाओं के मन में अपने प्रति किसी प्रकार का सन्देह पैदा करना नहीं चाहते थे। पृथ्वीसिंह नाम के एक व्यक्ति के एक पत्र से जो उसने वि० फ्रेजर के सेवक तुलेराम को लिखा था पता लगता है कि लोगों का विश्वास अंग्रेजों की अजेयता पर से, नालापानी की प्रारम्भिक पराजय के कारण, उठ रहा था। उसने व्यंग्य के साथ लिखा कि अंग्रेज नालापानी में मुट्ठी भर नैपालियों को न जीत सके तो और क्या करेंगे? और यदि दून क्षेत्र तक ही आना उनका ध्येय था तो हम लोगों को क्यों खींच रहे हैं? यदि अंग्रेज दो या तीन सौ सिपाही हटूर या चमूर की ओर भेजते तो भागीरथी के दाहिने किनारे की ओर का गढ़वाल का तीसरा भाग अंग्रेजों के नियंत्रण में आ जाता। परन्तु लोगों के आग्रह पर भी अंग्रेजों ने गढ़वाल क्षेत्र में प्रवेश करना उचित नहीं समझा। फलतः गढ़वाल क्षेत्र में कहीं भी गोरखाओं और अंग्रेजों के मध्य मुठभेड़ नहीं हुई। देहरादून पर अंग्रेजों का अधिकार होने पर टौंस और भागीरथी के मध्यवर्ती क्षेत्र जिसमें जौनसार और गढ़वाल का सकल्याना क्षेत्र आते हैं वे भी अंग्रेजी सेना के नियंत्रण में आगये। इस क्षेत्र में कालसी, जौतगढ़, बिराट और चमूर के किले थे। इन पर भी अंग्रेजों का अधिकार हो गया। कैप्टन कारपेन्टर को इस इलाके का नियंत्रण सौंपा गया। भागीरथी, यमुना और टौंस नदियों के घाटों पर गोरखा सैनिकों को रोकना इसका काम था। भागीरथी के दाहिने किनारे पर स्थित चमूरगढ़ के किले का अधिकारी ले० मेंटीथ था। उसने यह शिकायत की कि भागीरथी के जल मार्ग के तीस मील लम्बे क्षेत्र में सभी घाटों पर नियंत्रण रखना उसके लिये कठिन है क्योंकि उसके पास केवल २५० अनियमित सैनिक ही थे।

दून से नाहन की ओर अंग्रेजी सेना का कूच—

उधर देहरादून में नालापानी के गढ़ को ध्वस्त करने के बाद मौबी नाम के अधिकारी के नेतृत्व में मुख्य सेना मैदानी मार्ग से नाहन की ओर चली। लॉर्ड हेस्टिंग के आदेशानुसार क्यारदादून जिसको आधुनिक समय में पौंटा की घाटी कहते हैं, के मार्ग से जाना विघ्न-बाधाओं से मुक्त नहीं था, वैसे देहरा क्षेत्र से सिरमौर राज्य में प्रवेश करने का मुख्य मार्ग यही था जैसा कि आज भी है, सेना का शिविर नाहन से लगभग पाँच मील पीछे मोघीनन्द नाम के गांव के पास स्थापित किया गया। यहां जमीन कुछ समतल थी और पानी की पर्याप्त सुविधा थी।

दिसम्बर १८१४ में गिलस्पी के स्थान पर नये मेजर जनरल मार्टिनडल की नियुक्ति हुई और नाहन में उसने सेना-कमाण्ड सम्भाली। मोघीनन्द के शिविर में

मार्टिनडल को यह सूचना मिली कि नैपालियों ने नाहन को छोड़ दिया है और वे नाहन के सामने जैथक नाम की चोटी पर स्थित किले में चले गये हैं । सिरमौर क्षेत्र में गोरखा सेना का कमाण्डर अमरसिंह थापा का पुत्र रणजीरसिंह थापा ने पहले से ही जैथक के किले को सुदृढ़ बना दिया था । लोक स्मृति बताती है कि उस समय नाहन के किले और अन्य मकानों को गिरा कर पत्थर जैथक की चोटी पर पहुंचाये गये और उस किले को सुदृढ़ किया गया । यह कार्य सावधानी के रूप में सम्भवत: तब सम्पन्न कर लिया गया था जब अंग्रेज देहरादून में नालापानी के युद्ध में व्यस्थ थे । मार्टिनडल ने इस शुभ सूचना की सत्यता की छान-बीन के लिये मेज़र लूडलो को एक फौजी टुकड़ी के साथ नाहन की ओर भेजा । उस जमाने में नाहन पहुँचने का मार्ग बहुत विकट था । मार्ग में कई ऊंट गिरकर पंगु हो गये । बड़ी कठिनाई से अन्य सैन्य सामान को नाहन पहुंचाया गया । पर मुख्य शिविर मोघीनन्द में ही रहा । जैथक का किला नाहन से उत्तर-पश्चिम दिशा में नाहन से लगभग ६०० फुट ऊंचा था और इसकी दूरी आकाश मार्ग से दो या तीन मील होगी, यह किला ३६ फुट लम्बा और २४ फुट चौड़ा था और नाहन से एक चिड़िया के घोंसले की तरह दिखाई देता था । लौर्ड हेस्टिंग ने इसका घेरा डालने की सलाह दी थी, परन्तु इस पर पहुंचने के कई मार्ग थे, सब की नाकेबन्दी करना सम्भव नहीं था । नाहन या अन्य मार्गों से तोपों को पहुंचाना भी कठिन था । अत: मेजर जनरल मार्टिन डल ने नाकाबन्दी की बजाय आक्रमण करना अधिक उपयुक्त समझा । जैथक के दाहिनी और बांई ओर दो ऊंचे टीले थे, उनमें से एक या दोनों पर से इस किले पर गोलाबारी की जा सकती थी । इन टीलों पर अधिकार करने की योजना बनाई गई । २६ दिसम्बर की रात को दो फौजी दस्ते, एक मेजर लुडलो की कमाण्ड में जिसमें ८०० सिपाही थे और दूसरा मेजर रिचर्ड की कमाण्ड में जिसमें ५०० लड़ाकू सैनिक थे, भेजे गये । लुडलो ने नाहन से चलकर बांई ओर के टीले को लेना था और रिचर्ड ने उत्तर पूर्वी दिशा वाले दाहिने ओर की चोटी पर अधिकार करना था । दोनों ने सुबह तक पहुंचकर एक साथ आक्रमण करना था, परन्तु रिचर्ड का मार्ग कुछ लम्बा था । अत: वह ग्यारह बजे रात को चल पड़ा जब कि लुडलो रात के एक बजे चला । उन दोनों दस्तों के पास ६ पौंड का गोला बरसाने वाली तोपें थीं जिनको हाथियों पर पहाड़ पर चढ़ाने का प्रयास किया गया । मेज़र लुडलो के दस्ते का अग्रिम भाग प्रात:काल ही जमटा नाम के गांव के पास की चोटी पर पहुँचा । उसको पथ-प्रदर्शकों ने बताया कि जैथक की ओर से नैपालियों की एक फौजी टुकड़ी उस ओर आ रही है । उसके आगे थोड़ी दूर पर एक गोरखा चौकी थी । लुडलो के पास केवल चार सौ सैनिक उस समय पहुँच चुके थे । उसने उचित यही समझा कि तत्काल निकट की चौकी पर आक्रमण किया जाय और कुमुक के पहुँचने से पहले उस चौकी पर अधिकार कर लिया जाय । उसने संगीनों से गोरखाओं पर आक्रमण करने का आदेश दिया और उन्होंने आगे जाकर भागते हुये नैपालियों का पीछा किया । अगली जमटा की चौकी थी । तब तक जैथक से आने वाली कुमुक भी पहुंच चुकी थी । नैपालियों ने खुँखरियों से अंग्रेजी सेना पर धावा बोला । चमकती खुँखरियों से अंग्रेजों की

सेना भयभीत हो गई और उसमें भगदड़ मच गई। तब तक अंग्रेजी सेना के अग्रिम दस्ते के पास जो कारतूस थे वे भी समाप्त हो चुके थे। फलतः लुडलो ने वापिस भागने का हुक्म दिया। ऐसी भगदड़ पड़ी कि अंग्रेजी सेना के सिपाही पहाड़ी ढलान में लुढ़कते, भागते, गिरते, अपनी टांग तुड़ाते, पेड़ों और झाड़ियों को पकड़ते हुए किसी प्रकार अपने प्राणों को बचाते हुए उस पत्थरी पहाड़ी ढलान पर लुढ़कते गये। फलतः १५१ घायल और हताहत हुए। मृतकों की संख्या एक दर्जन के लगभग थी जिनमें ले० माऊण्ट भी था। उधर रिचर्ड के अधीन सैनिक दस्ते को निर्दिष्ट स्थान पर पहुंचने के लिए १६ मील का मार्ग तय करना था। यह मार्ग भी विकट था। जब यह दस्ता नाहन से चला तो उस समय वहां पर्याप्त कारतूस नहीं थे। कारतूस मुख्य शिविर मोधीनन्द से लाने थे। सैनिक टुकड़ी चल पड़ी और अतिरिक्त कारतूस बाद में भेजने का निश्चय किया गया। आधी रात के समय जब कारतूस मोधीनन्द से पहुंचे तो एक सारजेण्ट की कमाण्ड में इनको भेज दिया गया; परन्तु गलती से उसके साथ पथ-प्रदर्शक नहीं भेजा। परिणाम यह हुआ कि रात के अंधेरे में वे रास्ते से भटक गए। एक गांव में इन कारतूसों को रख कर वह पुनः वापिस पथ-प्रदर्शक लाने के लिये गया। परन्तु जब वापिस उस गांव में पहुंचा तो तब तक गोरखा भेदिये उन कारतूसों को लेकर चम्पत हो चुके थे, अंग्रेजी सैनिक टुकड़ी को इस प्रकार साठ हजार कारतूसों से हाथ धोना पड़ा और अगले दिन की लड़ाई में कारतूसों की कमी अंग्रेजी सेना के विनाश का मुख्य कारण बनी। सुबह आठ बजे रिचर्ड की सेना का अग्रिम भाग जैथक से ढाई मील पूर्व की ओर पहाड़ की धार पर पहुंचा। कुछ समय विश्राम करने के बाद उसने जैथक से १००० गज की दूरी पर, जिस चोटी का अंग्रेज इतिहासकारों ने "ब्लैकहिल" नामकरण किया, अपनी चौकी स्थापित की। इस चोटी से जैथक में नैपालियों की गति-विधियां स्पष्ट नजर आ रहीं थीं। रिचर्ड ने पश्चिमी दिशा में लुडलो के लिये निर्दिष्ट की हुई पहाड़ी को सेना की गतिविधि से शून्य देखकर यह अनुमान लगाया कि अब उसको अकेले ही १५०० के लगभग नैपालियों का सामना करना पड़ेगा। एक बजे के लगभग जैथक के किले के बाहर ढोल-नगाड़े के युद्ध-नाद पर नैपाली सैनिक किले के बाहर अंग्रेजों का सामना करने के लिये चल पड़े। सायं चार बजे से सात बजे तक दोनों सेनाओं में गोला-बारी होती रही, नाहन से अंग्रेजी सेना की सहायता के लिये न तो अतिरिक्त कारतूस पहुंचे और ना ही कोई और कुमुक ही, बल्कि अंधेरा होने तक मार्टिनडल के दो आदेश इस आशय के मिले कि सेना वापिस आ जाय। रिचर्ड इन आदेशों को देख कर स्तब्ध रह गया। तब तक जो थोड़े कारतूस थे वे भी समाप्त हो चुके थे। अंग्रेजी सेना की ओर से जब गोलाबारी में शिथिलता आने लगी तो नैपाली आक्रमण अधिक उग्र और विध्वंसकारी होने लगा। जब शत्रु का सामना करने की शक्ति और सामग्री शिथिल होने लगी तो रिचर्ड ने पीछे हटने का आदेश दिया। फिर वैसी ही भगदड़ पड़ी जैसी लुडलो की फौजी टुकड़ी में पड़ी थी। कई सिपाही मारे गये और कई पकड़ लिये गये और

कई नीचे पथरीली ढलान में गिरते-पड़ते घायल हो गये। उन तीन-चार घण्टों की लड़ाई में अंग्रेजी सेना के आधे से अधिक सैनिक घायल या हताहत हुये। ३०६ घायल हुए और ८१ हताहत सैनिकों में तीन अधिकारी भी मारे गये। ये अधिकारी थे, थेकरे, स्टालकर्क और विल्सन। थेकरे बाद में ख्याति-प्राप्त उपन्यासकार विलियम एम० थेकरे का चाचा था। लुडलो की टुकड़ी में मृत ले० माउण्ट समेत इन चार अधिकारियों की समाधि नाहन में पक्के जोहड़ में अभी भी सड़क के किनारे सुरक्षित है। इस अनियन्त्रित भगदड़ में कुछ सिपाही भटकते हुये उत्तर दिशा में रेणुका की ओर चले गये। उधर ग्रामवासियों ने उनको खाना दिया और कई दिनों के बाद वे वापिस नाहन में अपने शिविर में पहुंचे। ले० टरनर बड़ी कठिनाई से नैपालियों के हाथ से बचा। एक ऊंचे स्थान से छलांग लगाकर उसने पीछा करते हुये गोरखाओं से अपने प्राण बचाये। वह रास्ता भूल कर दो दिन तक जंगल में इधर-उधर भटकता रहा। अन्त में एक ग्रामीण बुढ़िया ने उसकी सहायता की और अपने लड़के के साथ उसको नाहन के शिविर में पहुंचाया।

कठिन शीत की मार—

२७ दिसम्बर की इस पहली मुठभेड़ में जैथक के किले पर अधिकार करने के लिये, अंग्रेजों को अप्रत्याशित लज्जाजनक पराजय का मुंह देखना पड़ा। एक साधारण सी लड़ाई में इतने अधिकारियों और सैनिकों का मारा जाना एवं दोनों चोटियों के आक्रमणों में भगदड़ मच जाना रण-संचालन की दृष्टि से एक बड़ी असफलता थी। इससे यह स्पष्ट हो गया था कि पहाड़ी क्षेत्र के युद्ध में नैपाली सिद्धस्त हैं और उनको इसमें पराजित करना कोई आसान काम नहीं है। मेजर जनरल मार्टिनडल की असफल रण-नीति इस विनाश का कारण थी। वह नाहन में बैठा क्षोभ और क्रोध से हाथ मल रहा था। वह पहले भी एक असफल सेनानायक मान लिया गया था। अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने का उसको अवसर दिया गया था, परन्तु अब उसकी प्रतिष्ठा और भी मिट्टी में मिल गई थी। उधर जैथक में और नैपाली कुमुक पहुंचने वाली थी। बलभद्र थापा नालापानी से भाग कर गढ़वाल के सकल्याना क्षेत्र में लूट मार कर रहा था। श्रीनगर गढ़वाल से कुछ सिपाही और उसके साथ मिल गये थे। फलतः तीन-चार सौ सैनिक और जैथक में पहुंचने वाले थे। पहली पराजय के बाद हतोत्साह होकर मार्टिनडल नाहन में अपने आपको कोस रहा था। जैथक से उत्तर दिशा की ओर कुछ पहाड़ी चोटियां थीं। इनमें से एक को अंग्रेजों ने सुविधा के लिये ब्लैक हिल और पूर्व की चोटी का नाम पीकॉक हिल दिया है, शेष दो चोटियों का नाम जमटा और नौनी स्थानीय नाम थे। प्रथम पराजय के बाद जैथक से दूर उत्तर की ओर नौनी और ब्लैक हिल नाम की चोटियों पर अंग्रेजी सेना की टुकड़ी भेजी गई। फरवरी से वर्षा, तूफान और हिमपात से नौनी चोटी पर स्थित सैनिक टुकड़ी गर्म कपड़े और तम्बुओं के अभाव में ठण्ड से अति दुःखी थी—ठण्ड पड़ने के

तीसरे दिन २० सिपाही और १२ नौकर शीत-जन्य नमोनियां आदि से काल-कवलित हो गये। उधर नाहन में भी देशी सिपाही जिन्होंने कभी वर्फ नहीं देखी थी, ठण्ड से दुःखी थे। ८०० के लगभग भेड़-बकरियां ठण्ड को सहने में असमर्थ होने से मर गई। ये पशु अंग्रेजी सेना के डिपो के थे। जब आसमान कुछ साफ हुआ तो मेजर लुडलो एक सैनिक टुकड़ी को लेकर नौनी की ओर गया और वहां स्थित सैनिकों को वापिस नाहन में भेजा। पर उनमें से ३० के लगभग सिपाही स्ट्रेचर पर नाहन पहुंचे।

अनियमित सेना का संहार—

फरवरी के मध्य तक बलभद्रसिंह अपने सैनिकों के साथ जिनकी संख्या अब पांच-छः सौ से कम न थी, जैथक में पहुंच गया। नैपालियों ने पीकॉक हिल पर भी अपनी चौकी स्थापित कर ली। अंग्रेजों को यह भी सूचना मिली कि नालागढ़ से अमरसिंह थापा ने जैथक की सहायता के लिए एक छोटी कुमुक भेजी है। विलियम फ्रेजर की संगठित की हुई अनियमित सेना जिसकी संख्या दो हजार के लगभग थी, उस कुमुक को रोकने के लिये उत्तर की ओर सांई धार की ओर गई। इस सेना के साथ नाहन के विद्रोही कुंवर किशनसिंह भी था। जैथक से १५ मील उत्तर दिशा की ओर जलाल नदी के ऊपर चनालगढ़ नामक स्थान पर रात के समय नालागढ़ से आई नैपाली कुमुक से इन सैनिकों का मुकाबला हुआ। सूर्योदय होने पर नैपाली सैनिकों ने नंगी खुंखरियों से इन पर आक्रमण किया। अनियमित सैनिक खुंखरियों को देख कर बहुत भय-भीत हुये। परिणाम यह हुआ कि उनमें भगदड़ पड़ गई। १५०० के लगभग सैनिकों ने तो भाग कर अपने प्राण बचाये, कुछ नैपालियों की खुंखरियों शिकार हुये और कुछ पहाड़ी ढलानों पर भागते हुये लुढ़कते-गिरते अपने प्राणों से हाथ धो बैठे। अनियमित सेना का यह बड़े पैमाने पर संहार था। इस प्रकार की सेना पर, किसी भी महत्वपूर्ण अभियान के लिये विश्वास करना, विवेक-हीन प्रतीत होने लगा। इस सेना का सृष्टा विलियम फ्रेजर था। मार्टिनडल के साथ इसके सम्बन्ध पहले ही अमैत्रीपूर्ण थे। इस विनाश के बाद उनके बीच की दरार और बढ़ गई। विलियम फ्रेजर अपने अनियमित पांच-छः सौ सैनिकों को लेकर उत्तर दिशा की ओर चल पड़ा।

विलियम फ्रेजर का उत्तर की ओर अभियान—

इस अभियान का उद्देश्य उस क्षेत्र को जीतना इतना नहीं था जितना कि वहां के प्रतिष्ठित लोगों से सम्पर्क स्थापित करना था। विलियम फ्रेजर यह जानना चाहता था कि जुब्बल क्षेत्र के लोगों की भावनायें अंग्रेजों के प्रति कैसी हैं, वे अंग्रेजों का साथ देने को तैयार हैं या नहीं। ३ मार्च १८१५ को वह नाहन से चला। साँई धार और चूड़ चान्दनी पर्वत श्रृंखला को पार करता हुआ १२ मार्च को वह चौपाल क्षेत्र के सरैं गांव में पहुंचा। उस समय यह क्षेत्र व सारा मार्ग वर्फ से ढका था, परन्तु इस विकट यात्रा को उसने बड़े साहस के साथ पूरा किया। रात के समय

गुप्त रूप से जुब्बल के दोनों वजीर डांगे और प्रेमू उससे मिले। लोगों को नैपालियों से कोई आसक्ति नहीं थीं, परन्तु प्रकट रूप से वे अंग्रेजों का साथ देने को भी तैयार नहीं थे। डांगे वजीर ने कोई स्पष्ट आश्वासन फ्रेजर को नहीं दिया, परन्तु परिस्थिति वदलने पर अंग्रेजों की सहायता करने का भाव प्रकट किया। वह वास्तव में दुविधा

मेजर जनरल सर डेविड अखतरलोनी

में था। उधर चौपाल के किले में लगभग सौ नैपाली सैनिकों की टुकड़ी थी। फ्रेजर की सेना के आगमन की सूचना पाते ही, पुन्नर-निवासियों ने चौपाल के किले पर आक्रमण करने का दुःसाहस किया। परिणाम यह हुआ कि उनका एक आदमी किले के अन्दर से गोली लगने से मारा गया। पुन्नरी वहुत खुंखार लोग थे। इन्होंने पहले भी बड़ी वीरता से १८११ में गोरखाओं का मुकाबला किया था। जब गोरखा सेना

नाहन के युद्ध में विजयी हुई और उनका इस सारे क्षेत्र पर अधिकार हो गया तो उन्होंने पुन्नरियों से चुन-चुन कर बदला लिया। वे गोरखाओं के अत्याचार को नहीं भूले थे, उन्होंने पुन्नरियों के घर और गाँव जलाये थे और कइयों को मौत के घाट उतारा था। जब उनको अंग्रेजों की विजय के समाचार मिले तो कहते हैं कि पुन्नरियों ने वहां स्थित गोरखा सैनिकों और अधिकारियों को रात के समय भोजन और मदिरा पान के लिये सादर आमन्त्रित किया। जब गोरखे भोजनोपरान्त मदिरा-पान से बे-सुध हो गये तो पुन्नरियों ने उन पर आक्रमण किया और लगभग सबको ही मार डाला। इस जघन्य विश्वास-घात से पुन्नरियों ने अपने प्रतिशोध को शान्त किया, परन्तु नैपालियों के प्रति यह निर्मम विश्वास-घात असभ्य और अभद्र था। जब फ्रेजर अपने सैनिकों सहित चौपाल में पहुंचा तो उसने नैपाली किलेदार को आत्म-समर्पण के लिये कहा। जब नैपाली किलेदार ने आनाकानी की तो फ्रेजर ने उसको पुन्नरियों की याद दिलाई कि लोग उनके खून के प्यासे हैं, यदि वे चुपचाप आत्म समर्पण नहीं करेंगे तो लोग उनकी भी वही दुर्गति करेंगे जो पुन्नर निवासियों ने उनके साथियों की थी। परिणामतः इस नैपाली सैनिक टुकड़ी ने विलियम फ्रेजर के सम्मुख हथियार डाल दिये, उन सब को अंग्रेजों की सेना में ले लिया गया। चौपाल के किले में सौ अनियमित सैनिकों को रखकर फ्रेजर वापिस नाहन आ गया।

जुब्बल के डांगे वजीर का अंग्रेजों के साथ मिलना—

इस घटना के बाद डांगे वजीर जुब्बल राज्य की सेना समेत नैपालियों से अलग हो गया और वह अंग्रेजों का समर्थक बन गया। डांगे वजीर जुब्बल-क्षेत्र का एक प्रभावशाली व्यक्ति था। गोरखाओं ने जब जुब्बल के राणा को पदच्युत किया तो डांगे वजीर को उन्होंने अपने साथ रखा क्योंकि इस क्षेत्र को नियन्त्रण में रखने के लिये, डांगे का प्रभाव महत्वपूर्ण था। सन १८११ से मार्च १८१५ तक डांगे वजीर गोरखा कमाण्डर अमरसिंह थापा का साथी और सहयोगी रहा और अब उसका अंग्रेजों के पक्ष में चले जाना नैपालियों के लिये एक बड़ा आघात था। विलियम फ्रेजर की इस यात्रा की यह सबसे बड़ी उपलब्धि थी कि बिना एक बूंद खून बहाये उसने जुब्बल क्षेत्र को अपने पक्ष में कर लिया। उधर जैथक में किले की घेराबन्दी और बड़ी-बड़ी तोपों से गोलाबारी सर्दियों में निरन्तर चलती रही। जैथक के किले में अन्न के अभाव से भूखमरी आरम्भ हो गई। कई गोरखे सिपाही भाग कर अंग्रेजों के शिविर में आने लगे। ऐसे भगोड़े गोरखाओं की संख्या अंग्रेजी शिविर में बढ़ने लगी। परन्तु काजी रणजौर सिंह ने विपन्न और विकट स्थिति में होते हुये भी मई मास तक आत्म-समर्पण नहीं किया। १५ मई १८१५ को कमाण्डर अमरसिंह थापा ने मलौण के किले को अख्तरलोनी के हवाले करके आत्म-समर्पण की शर्तों पर हस्ताक्षर किये। रणजौर थापा ने उसके बाद २१ मई को जैथक के किले को अंग्रेजों को सौंपा। इस प्रकार जैथक की लड़ाई लगभग पांच महीने तक चली।

पहाड़ी राजा-राणाओं के प्रति अंग्रेजों की घोषणा—

सन् १८१४ में नैपाल और अंग्रेजों के मध्य संघर्ष आरम्भ होने पर तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्डहेस्टिंग ने पहाड़ी राज्यों के शासकों और लोगों के नाम एक घोषणा निकाली जिसमें ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार ने पहाड़ी जनता और शासकों से सहायता और सहयोग की याचना की और आश्वासन दिया कि कम्पनी सरकार पदच्युत राजाओं, राणाओं और ठाकुरों को उनके परम्परागत राज्यों को उनको सौंपेगी और उनसे किसी प्रकार के आर्थिक लाभ की अपेक्षा नहीं रखेगी। इस घोषणा-पत्र का हिन्दी रूपान्तर इस परिच्छेद के अन्त में दिया गया है। अंग्रेज सरकार ने अपने वचन का पालन नहीं किया। निःसन्देह पहाड़ी शासकों को उनके क्षेत्र वापिस दिये गये, परन्तु कम्पनी सरकार ने मनमाने ढंग से उसमें काट-छांट की। कइयों को उनके पूरे राज्य वापिस नहीं किये गये। उन सब राज्यों को अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी और नजराने के रूप में वार्षिक कर अपनी हैसियत के अनुसार देना पड़ा। कुछ महत्वपूर्ण सैनिक अधिकारी विशेषतः कर्नल अखतरलोनी का विचार था कि पहाड़ी क्षेत्रों को जीतकर अंग्रेजी राज्य में विलय कर दिया जाय क्योंकि ये शासक आपस में निरन्तर झगड़ों में उलझे रहते थे। अंग्रेज सरकार को उनके झगड़ों में मध्यस्तता करनी पड़ेगी जो अच्छे प्रशासन की दृष्टि से वांछनीय नहीं होगा, परन्तु लॉर्ड हेस्टिंग इससे सहमत नहीं था। उसका मत था कि अधीनस्थ शासकों की मध्यस्थता करना सर्वोपरि सत्ता का विशेष अधिकार होगा और वह स्वेच्छा से इसका प्रयोग करेगी। वास्तव में कम्पनी सरकार ने इस क्षेत्र के बटवारे का पहले ही निर्णय कर लिया था, कुमांऊं, आधा गढ़वाल और समस्त दून क्षेत्र को वे अपने राज्य में मिलाना चाहते थे। कुमांऊं और गढ़वाल क्षेत्र का तिब्वत के साथ व्यापार के लिये घनिष्ठ सम्बन्ध था। इन इलाकों से तिब्वत के लिये व्यापारिक मार्ग जाते थे। अंग्रेजों को रेशम और ऊन के व्यापार का प्रलोभन बहुत अधिक था। विजय के बाद अंग्रेजों ने समस्त कुमांऊं राज्य को अंग्रेजी इलाके में सम्मिलित कर लिया। गढ़वाल का विभाजन किया गया, अलकनन्दा नदी से पश्चिमवर्ती भाग तत्कालीन राजा सुदर्शन शाह को दे दिया गया और पूर्वी भाग कम्पनी सरकार के क्षेत्र में मिला लिया गया। तिब्वत जाने के लिए नीति और माणा के दर्रे इस क्षेत्र में पड़ते थे। उधर सिरमौर राज्य का समस्त क्षेत्र तत्कालीन राजा फतेहप्रकाश को नहीं दिया गया। अंग्रेजों ने सिरमौर राज्य के मोरनी किले और परगने को, अपने सहायक हित-चिन्तक एक मुसलमान सरदार को दे दिया। रतेश परगने में गिरी नदी के उत्तर का कुछ क्षेत्र क्योंथल को दे दिया। क्यारदादून जिसको आजकल पौंटा घाटी कहते हैं, अंग्रेजों ने अपने पास रखा। सन् १८३३ में राजा फतेहप्रकाश के पचास हजार रुपये नजराना देने पर क्यारदादून पुनः सिरमौर राज्य को वापिस मिला। कालसी क्षेत्र और जौनसार-बावर का परगना जो पहले सिरमौर राज्य का भाग था, अंग्रेजी राज्य में स्थायी रूप से मिला लिया गया। यह लड़ाई के खर्च के बदले में लिया

गया था। उसी प्रकार बघाट राज्य का तीन-चौथाई भाग ले लिया गया। क्योंथल राज्य का कुछ इलाका और बघाट का अधिग्रहीत भाग पटियाला को दो लाख अस्सी हजार रुपये के नजराने के बदले में दे दिया गया। क्योंथल ने लड़ाई का खर्च देने से इनकार कर दिया था। अतः उसके पर्याप्त क्षेत्र का अधिग्रहण किया गया। वार्षिक कर सभी राज्यों पर लगाया गया। संक्षेपतः अंग्रेजों ने अपने घोषणा में जो वचन दिये थे, उनका उल्लंघन किया।

परिशिष्ट

यमुना और सतलुज के मध्यवर्ती क्षेत्र के राजाओं और निवासियों के नाम अंग्रेजों की घोषणा—

यमुना और सतलुज नदियों के मध्यवर्ती पहाड़ी क्षेत्र के निवासियों को दमनकारी गोरखाओं के शासन से त्रस्त और दुःखी देखकर ब्रिटिश सरकार को बहुत दुःख और चिन्ता हुई, जब तक उस सत्ता के ब्रिटिश सरकार के साथ शान्ति और मैत्री के सम्बन्ध थे और ऐसा कोई कारण नहीं था जिससे उनकी नियत पर सन्देह किया जा सके तो ब्रिटिश सरकार को भी इसके अनुरूप ही आचरण करना अनिवार्य-जैसा था। फलतः ब्रिटिश सरकार मूक दृष्टा की तरह गोरखा शक्ति द्वारा इस क्षेत्र के विनाश को चुपचाप देखने को विवश थी।

परन्तु गोरखा शक्ति द्वारा कई अनुचित क्षेत्रीय अतिक्रमणों और हिंसा की घटनाओं से विवश होकर अपने अधिकार और आत्म-सम्मान की रक्षा के लिये ब्रिटिश सरकार को उस सत्ता के विरुद्ध युद्ध का सहारा लेना पड़ा। ब्रिटिश सरकार इस अवसर पर संकल्प करती है कि पहाड़ी क्षेत्र के निवासियों की इन आततायिओं के निष्कासन से उनकी स्वतन्त्रता की रक्षा करेगी और उनके पुरातन शासकों को पुनः सत्तारूढ़ करेगी। अतः पर्वतीय क्षेत्र निवासियों को आमंत्रित किया जाता है और उनसे सच्चे दिल से आग्रह किया जाता है कि वे अंग्रेजी सेना का साथ दें ताकि वे देश के हित के इस महान लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल हो सकें। अंग्रेजी सेना के कमाण्डर को यह अधिकार और आदेश सरकार की ओर से दिया गया है कि वह ब्रिटिश सरकार की ओर से यहां के राजाओं और निवासियों को यह आश्वासन दे कि ब्रिटिश सरकार सदा इनकी गोरखा—शक्ति के आतंक से रक्षा करेगी। राजाओं और लोगों को यह वचन भी दे कि सरकार उनके परम्परागत एवं पुरातन अधिकारों की सम्मानपूर्वक रक्षा करेगी। इस रक्षा और सहायता के बदले में ब्रिटिश सरकार किसी प्रकार के कर और आर्थिक हर्जाने की मांग नहीं करेगी। इसके बदले में सरकार, लोगों से युद्ध काल में केवल उत्साह पूर्वक और सहर्ष सहयोग की अपेक्षा करती है और इसके बाद भी यदि आवश्यकता पड़ी तो सरकार अंग्रेजी सेना की सांझे शत्रुओं के विरुद्ध अभियान में इसी प्रकार के सहयोग की अपेक्षा करेगी।

११. बिलासपुर क्षेत्र में संघर्ष

मलौण में गोरखा स्कन्धावार—

गोरखा युद्ध का पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में तीसरा केन्द्र हंडूर (नालागढ़) और बिलासपुर राज्यों में रहा। हंडूर का राजा रार्मासह नैपालियों का पुराना शत्रु था। कांगडा के घेरे के समय रार्मासह ने हंडूर में गोरखाओं को तंग किया था। अतः अब उसका अंग्रेजों का समर्थक होना स्वाभाविक था। हंडूर राज्य का केवल पलासी का किला रार्मासह के अधिकार में था। शेष सारे क्षेत्र और किलों पर गोरखाओं का अधिकार था। गोरखा कमाण्डर अमरसिंह थापा का मुख्य केन्द्र अरकी में था; परन्तु युद्ध आरम्भ होने पर थापा ने हंडूर राज्य में स्थित मलौण के किले में अपना मुख्य केन्द्र बनाया। अंग्रेजों ने इस क्षेत्र में युद्ध के संचालन का कार्य-भार मेजर जनरल डैविड अखतरलोनी को सौंपा था। अखतरलोनी को विश्वास था कि थापा पश्चिमी क्षेत्र के युद्ध में उलझने की अपेक्षा पूर्व में नैपाल की रक्षा के लिये कूच करेगा क्योंकि नैपाल क्षेत्र पर भी आक्रमण हो रहा था। अखतरलोनी का यह अनुमान सर्वथा निराधार निकला। थापा अंग्रेजी सेना का सामना करने के लिये पूरी तरह से तैयार था। उसने अरकी को छोड़ कर मलौण में अपना केन्द्र रखा। मलौण का किला बिलासपुर से दक्षिण-पूर्व दिशा में ४,५०० फुट ऊंची पहाड़ी पर स्थित था। यह पहाड़ी गम्भर और गमरोला नदियों के बीच में है। ये दोनों नदियां बिलासपुर से दक्षिण में सतलुज नदी में मिलती हैं। मलौण से दक्षिण-पश्चिम में शिवालिक की कई छोटी-छोटी पर्वत श्रृंखलाएं हैं। इन पहाड़ियों पर कई किले थे। प्रमुख किलों के नाम मांगू, तारागढ़, चम्बा, रामगढ़, आदि थे, ये सभी किले गोरखा कमाण्डर के अधीन थे। और उन सब में नैपाली सैनिक थे। उन किलों को जीतने के बाद ही अखतरलोनी थापा के मुख्य केन्द्र मलौण पर आघात कर सकता था

अंग्रेजी सेना का नालागढ़ की ओर अभियान—

अंग्रेजी सेना अक्तूबर के अन्तिम भाग में रोपड़ नगर से चली। इस सेना में पैदल और घुड़सवार सैनिकों और तोपचियों को मिलाकर कुलसंख्या छः हजार के लगभग थी। इसके अतिरिक्त हंडूर राज्य के सैनिक सहायक के रुप में थे। अंग्रेजों के द्वारा संरक्षित सिख राज्यों, विशेष कर पटियाला राज्य की सेना की टुकड़ियां भी इस सेना के साथ थीं। सेना शिविर के अन्य कर्मचारियों और अधिकारियों के सेवकों को मिलाकर यह एक विशाल-जन समूह था; लगभग १८०० सैनिक और असैनिक कर्मचारी और सेवक। अखतरलोनी ने रोपड़ में पांच हजार बैलों को सामान ढ़ोने के लिये एकत्र किया। कुली

और अन्य साधन इसके अतिरिक्त थे। नवम्बर के पहले सप्ताह में अख्तरलोनी की सेना नालागढ़ पहुंच गई। यहां पर उसकी पहली मुटभेड़ नैपाली सैनिकों से हुई; परन्तु दो दिन के अन्दर ही नालागढ़ का किला अंग्रेजों के अधिकार में आ गया। इस लड़ाई में एक सारजेण्ट मारा गया और आधे दर्जन के लगभग सिपाही घायल हुये। अंग्रेजों की सेना शिविर गम्भर की घाटी में नोरी नामक स्थान पर स्थापित किया गया। दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में अंग्रेजी सेना ने मांगू के किले पर अधिकार कर लिया। मांगू के स्थान पर गोरखाओं और अंग्रेजों के मध्य पहला भीषण संघर्ष हुआ। तीन घण्टे के युद्ध में नेपालियों के १५० सैनिक इस युद्धमें मारे गये और २५० के लगभग घायल हुये। अंग्रेजी सेना के नौ सैनिक हताहत हुये और चवालीस सैनिक घायल हुये। अंग्रेजों की शक्ति उनके तोपखाने में थी, उन्होंने छः पौण्ड का गोला बरसाने वाली तोपों से नैपालियों पर मार की। परन्तु थापा के लगभग २५०० सैनिकों ने नंगी खुंखरियों से अंग्रेजी सेना पर आक्रमण किया। नैपाली अदम्य उत्साह और निर्भयता के प्रतीक मालूम होते थे। ये अपने प्राणों को हथेली पर रख कर इस प्रकार की आमने-सामने की लड़ाई में कूद पड़ते थे, इनकी नंगी खुंखरियों को देख कर अंग्रेजी फौज के सैनिक भय से आतंकित हो जाते थे और उनमें भगदड़ पड़ जाती थी। सायं काल होने पर नैपाली मांगू के किले में लौट गये। इस युद्ध के बाद अखतरलोनी ने मलौण के किले की नाकेबन्दी करने की योजना बनाई। उसने फौजी टुकड़ियां गमरोला नदी के मार्ग से मलौण की दिशा में भेजी।

बिलासपुर नगर पर अधिकार—

एक टुकड़ी लै० रौस के अधीन जिसमें मुख्यतः हंडूरी सैनिक थे, बिलासपुर के उत्तर में पिछले मार्ग से बन्दला की पहाड़ी पर भेजे। इस पहाड़ी से लगभग एक हजार फुट नीचे सतलुज के किनारे बिलासपुर नगर था। इस ऊंचे स्थान से बिलासपुर पर धावा बोलना आसान था। बिलासपुर नगर की रक्षा की कोई विशेष व्यवस्था नहीं थी। रौस के हण्डूरी सैनिकों ने बिना किसी कठिनाई के नगर पर अधिकार कर लिया। बिलासपुर का राजा महाचन्द और गोरखा शिवदत्त राय जो परमर्शदाता और थापा का प्रतिनिधि था सतलुज नदी के पार के क्षेत्र में चले गये। वहां बिलासपुर राज्य का वह भाग था जहां रणजीत सिंह का प्रमुत्त्व था और अमृतसर की सन्धि के अनुसार इस क्षेत्र में अंग्रेज किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे। अखतरलोनी ने रौस को यह आदेश दिया हुआ था कि हंडूरी सिपाही बिलासपुर निवासियों पर किसी प्रकार का अत्याचार न करें। हंडूर और कहलूर राज्यों की पुरानी शत्रुता थी और अवसर मिलने पर हंडूर के सिपाही प्रतिशोधात्मक हिंसा पर उतर सकते थे। अखतरलोनी के आदेश के अनुसार अंग्रेजी सेना उद्धारक के रुप में विजित क्षेत्र में जाय, ना कि आततांई के रूप में। बिलासपुर नगर पर अधिकार होने से अंग्रेजी सेना के लिये रसद का अभाव कम हो गया और थापा के लिये रसद का यह रास्ता बन्द हो गया। उधर अमरसिंह थापा मांगू और इसके निकट की अन्य चौकियों को छोड़ कर मलौण के किले की ओर गया।

इस किले में थापा की अतुल धन-राशि और उसका परिवार था। मलौण की धार पर कई मीलों तक गोरखा छावनी थी। यहीं से वह अंग्रेजों का मुकावला करना चाहता था। अखतरलोनी का ध्येय थापा की इसी धार पर नाके वन्दी करना था। शीतकाल का समय अंग्रेजों की सेना का शिवालिक की निचली घाटियों में बीता जो मलौण की धार से दक्षिण दिशा में थीं। परन्तु गन्दगी और ठण्ड से कई सिपाही बीमार पड़ गये। धीरे-धीरे सेना का अग्रिम भाग गमरोला नदी की घाटी में उत्तर की ओर बढ़ता गया। मांगू के निकट रामगढ़ नाम के किले में अभी भी नैपाली सैनिक विद्यमान थे। कूपर नाम के अंग्रेज अधिकारी की कराण्ड में तैनात एक सैनिक टुकड़ी ने बड़ी तोपों के साथ रामगढ़ पर आक्रमण किया और कुछ दिन की भारी गोला वारी ने इस किले को ध्वस्त किया। परिणामतः गोरखा सैनिकों ने आत्मसमपर्ण किया। यह आत्म-समपर्ण उदार शर्तों पर स्वीकार किया गया। नैपालियों को अपने-अपने शस्त्र और व्यक्तिगत सम्पत्ति को ले जाने की आज्ञा मिली और उन्हें मलौण के किले की ओर सुरक्षित जाने की अनुमति भी मिली। परन्तु थापा ने इस आत्म-समपर्ण के लिये रामगढ़ से आये सैनिकों के साथ निर्दयता का व्यवहार किया। उनके नाक-कान काट दिये गये और किलेदार नायक को लोहे की बेड़ियों में जकड़ा गया। यदि भक्ति थापा हस्तक्षेप न करता तो अमरसिंह थापा उसका सिर अलग करवा देता। थापा को यह विश्वास नहीं था कि गोरखा अंग्रेजों से परास्त हो जाएँगे।

सन्धि का प्रस्ताव और अमरसिंह थापा द्वारा विरोध—

अमर सिंह थापा नैपाल से २००० सैनिकों की कुमकु का प्रतीक्षा कर रहा था। उसका विश्वास था कि इस कुमुक के आने पर वह सफलता के साथ अंग्रेजों का मुकावला कर सकेगा। उधर नालापानी की लड़ाई के वाद नैपाल दरवार से रणजौर थापा के पास एक पत्र आया जिसमें उसको यह सलाह दी गई थी कि वह अंग्रेजों के साथ सन्धि की बात-चीत आरम्भ करे। इस पत्र में तराई क्षेत्र, में देहरादून और सतलुज के मध्य का भाग छोड़ने का सुझाव दिया गया था। रणजौर सिंह ने उस पत्र की प्रतिलिपि अपने पिता अमरसिंह थापा को भेजी। थापा ने इसके उत्तर में नैपाल दरवार को लिखा कि अपमान-जनक आत्म-समर्पण से तो अन्तिम क्षण तक लड़ना श्रेयस्कर है। हमारे इन इलाकों को छोड़ने पर अंग्रेज गढ़वाल और कुमाऊं क्षेत्रों को भी मांगेंगे। अंग्रेजों का विश्वास करने का वही अन्त होगा जो टीपू सुलतान का हुआ। थापा ने एक पत्र का प्रारूप अपने पत्र के साथ भेजा। यह प्रारूप चीन के सम्राट के नाम पत्र का था जिसमें नैपाल दरवार ने अपने आप को चीन सम्राट के संरक्षण में होना स्वीकार किया और अपनी रक्षा के लिये चीन से सैन्य सहायता की प्रार्थना की। थापा ने नैपाल दरवार पर धर्म के प्रति पराङ्मुख होने का आरोप लगाया। वृद्धावस्था में भी अमरसिंह थापा निर्दय और क्रूरस्वभाव का था; परन्तु परम्परागत धार्मिक आस्था उसमें गहरी थी। युद्धकाल में कदाचित् नैपाल दरवार ने ब्राह्मणों की जागीरें भी

वापिस ले ली थीं। यह आर्थिक संकट का युग था। थापा को गो-ब्राह्मण की सेवा में गहरी आस्था थी। अतः उसने नैपाल दरबार को सलाह दी कि ब्राह्मणों की दान-दक्षिणा से सेवा की जावे और उनके द्वारा देवार्चन किया जावे। उनके आशीर्वाद से नैपाल की युद्ध में विजय होगी। इसके साथ ही उसने अंग्रेजों के साथ किसी प्रकार की सुलह की बात का घोर विरोध किया। यह पत्र नैपाल न पंहुच सका। पत्र-वाहक को मार्ग में पकड़ लिया जाता था और उससे इस प्रकार के पत्र छीन लिये जाते थे। अमरसिंह थापा के पत्र की भी यही गति हुई।

बिलासपुर, जुब्बल और बुशैहर अंग्रेजों के पक्ष में—

बिलासपुर नगर पर अंग्रेजों का अधिकार होने पर राजा महाचन्द नगर छोड़ कर सतलुज पार चला गया था। अंग्रेजी सेना द्वारा मलौण के किले का घेरा प्रगति पर था और धीरे-धीरे अमरसिंह थापा की नाकेबन्दी नैपालियों को चारों ओर जकड़ रही थी। अखतरलोनी ने महाचन्द को अपने पक्ष में करने का प्रलोभन दिया। राजा महाचन्द स्वयं तो समझदार नहीं था; पर उसके परामर्शदाता बारह बड़ी ठकुराइयों के स्वामित्व को प्राप्त करने की चाल-बाजी कर रहे थे। कुछ वर्ष पूर्व बिलासपुर इन बारह ठकुराइयों का अधिपति था। गोरखा शासन-काल में गोरखा सैनिक अधिकारी इनके स्वामी रहे और इन पर बिलासपुर या सिरमौर का अधिनायकत्व समाप्त-सा हो गया था। अखतरलोनी ने सतलुज वार के क्षेत्र पर बिलासपुर के शासन को मान्यता देना तो स्वीकार किया; परन्तु बारह ठकुराइयों के स्वामित्व की बात ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार की घोषित नीति से मेल नहीं खाती थी। राजा महाचन्द इतनी मान्यता प्राप्त करने से संतुष्ट था। अतः थोड़े दिनों के पश्चात् वह बिलासपुर नगर में वापिस आ गया और उसने अंग्रेजों के संरक्षण को स्वीकार किया। तत्पश्चात् राजा बिलासपुर अंग्रेजों का समर्थक और सहायक बन गया। अप्रैल के आरम्भ में जुब्बल का डाँगे वजीर अंग्रेजों के पक्ष में आ गया था। अभी मलौण का घेरा पड़ा हुआ था और अमरसिंह थापा व अखतरलोनी के मध्य अन्तिम संघर्ष होना शेष था। उधर पहले ही बुशैहर का वज़ीर अखतरलोनी के शिविर में पंहुच गया और उसने अपनी सहायता और समर्थन का आश्वासन अंग्रेज कमाण्डर को दिया। अप्रैल के मध्य में वजीर बदरीदास बुशैहर क्षेत्र में प्रजा को नैपालियों के विरुद्ध भड़काने और उनको इस क्षेत्र से निकालने के लिये चला गया। इसके बाद ही बुशैहर और कुल्लू की सेनाओं ने मिल कर गोरखाओं को बुशैहर और कोटगढ़ क्षेत्र से निष्कासित करने का अभियान चलाया। तब सारे क्षेत्र का सेना अधिकारी कीर्ति राणा था। कीर्ति राणा नैपाल के अधीनस्थ राज्य पालपा के राजवंश से था। उस समय उसकी आयु ७० वर्ष से कम न होगी; परन्तु उसमें नौजवानों जैसी स्फूर्ति और तेज था। साथ ही वह सफल प्रशासक और न्याय-प्रिय अधिकारी था। रामपुर बुशैहर से आने के बाद उसने नारकण्डा के निकट हाटू टिब्बा पर कुल्लू और बुशैहर की सेनाओं का मुकाबला किया।

नारकण्डा से रावीगढ़ तक पहाड़ी शृंखला पर नावरगढ़, वाधी, हाटू, चम्बीधार आदि कई स्थानों पर नैपाली फौजी चौकियाँ थीं। मार्च में चौपाल के किले के नैपालियों ने विलियम फ्रेजर के सम्मुख आत्म-समर्पण कर दिया था। उसके बाद जुब्बल राज्य में गोरखाओं का प्रभाव कम हो गया, नाहन और मलौण में आत्म-समर्पण के बाद गोरखे सारे क्षेत्र में अपने-अपने किलों में रहे। ऐसा प्रतीत होता है कि लोगों ने नैपालियों के विरूद्ध प्रतिशोध की भावना से इनके साथ क्रूर व्यवहार नहीं किया जैसा कि गढ़वाल में इनके साथ हुआ। वहाँ तो ये भाग कर जंगलों में चलेगये जहां भूख-प्यास से कई अपने प्राणों को खो बैठे। गढ़वाल में गोरखाओं ने अत्याचार भी इस क्षेत्र की अपेक्षा अधिक किये थे। अतः वहां इन को आम जनता का कोप-भाजन बनना पड़ा।

प्रथम गोरखा सैनिक टुकड़ी—

अखतरलोनी शीघ्रातिशीघ्र मलौण से गोरखाओं का निष्कासन करना चाहता था। शीतकाल की कठिनाइयों के कारण मलौण की नाकाबन्दी बहुत मंथर गति से चल रही थी; परन्तु अप्रैल तक इस नाकाबन्दी का प्रभाव स्पष्ट सामने आ रहा था। सतलुज वार बिलासपुर राज्य पर अंग्रेजी प्रभुत्व स्थापित हो चुका था; राजा महाचन्द अब अंग्रेजों का सहायक और समर्थक बन चुका था। उत्तरी क्षेत्र में जुब्बल से बुशैहर तक गोरखाओं के पैर उखड़ चुके थे। कुल्लू और बुशैहर की सम्मिलित सेनाएं कीर्ति राणा को हाटू और अन्य चौकियों से निकाल कर उत्तरी क्षेत्र को गोरखाओं से मुक्त कर रहीं थीं, जुब्बल और बुशैहर की सेनाएं जुब्बल के निकट रावीगढ़ का घेरा डाले हुई थीं। उस समय अखतरलोनी के शिविर में चार सौ से अधिक पराजित और भगोड़े नैपाली सैनिक थे। उनकी इमानदारी और निष्ठा व परिश्रम से प्रभावित होकर डेविड अखतरलोनी ने उनको एक अलग सैनिक टुकड़ी में संगठित किया और उसका नाम "नसीरी पल्टन" रखा। नसीरी फौज का अर्थ होता है—मित्र सेना। अखतरलोनी स्वयं इस फौजी टुकड़ी का कमाण्डर और संरक्षक बना। इस प्रकार सन् १८१५ के अप्रैल मास में प्रथम गोरखा सेना का जन्म हुआ जिसका कालान्तर में कई भागों में विकास हुआ और भारतीय सेना का एक महत्वपूर्ण अंग बनी।

मलौण में स्थित गोरखा शिवर पर प्रहार—

अखतरलोनी को अभी मलौण की धार पर स्थित अमरसिंह थापा के शिवर पर अन्तिम प्रहार करना शेष था। वह उसके लिये बहुत उतावला भी था क्योंकि गर्मियां आने वाली थीं और उसके बाद वर्षा ऋतु में युद्ध जारी रखना कठिन था। वर्षा काल से पूर्व ही अमरसिंह थापा का मलौण से उच्छेद करना आवश्यक था। अप्रैल के चौथे सप्ताह में कुमांऊ क्षेत्र गोरखाओं के हाथ से निकल गया। कुमांऊ के कमाण्डर हस्तिदलशाह के मारे जाने पर अल्मोड़ा सहित सारे कुमांऊ क्षेत्र पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। नैपाल से जो दो हजार के लगभग कुमुक बिलासपुर में अमरसिंह थापा की सहायता के लिये आ रही थी, कुमांऊ के फौजदार ब्रह्मशाह ने उसको वहीं रोक लिया।

थापा आत्मसमर्पण के अन्तिम क्षण तक इस कुमुक की प्रतीक्षा करता रहा और उसके न पहुंचने पर उसको गहरा आघात पहुंचा। ब्रह्मशाह की इस गलती के लिये थापा ने उसको अपना शत्रु समझा। अल्मोड़ा के पतन के बाद नैपालियों की स्थिति पश्चिमी क्षेत्र में भी डगमगा गई थी। अप्रैल के महीने में अमरसिंह थापा ने राजगढ़ (सिरमौर) से जो पत्र नैपाल दरबार को लिखा था उसका एक अंश इस प्रकार से था "× × × सभी राजे, राणे और ठाकुर शत्रु से जा मिले हैं और मैं शत्रुओं से घिरा हूँ। परन्तु तब भी हम लड़ेंगे और अन्तिम विजय हमारी ही होगी। मेरे अधिकारियों (भरदारों) का भी यही संकल्प है। पण्डितों ने वैशाख का महीना गोरखाओं के लिये शुभ बताया है। किसी अच्छे मुहूर्त को चुन कर हम आक्रमण करेंगे और अवश्य हमारी विजय होगी × × ×" एक सफल सेना-नायक के आत्म-विश्वास के द्योतक उपरोक्त भाव जहां अमरसिंह थापा के अजेय आत्म-विश्वास को व्यक्त करते हैं, वहां उसके अन्ध विश्वास की प्रतीति भी उनसे होती है, यह पत्र कदाचित् थापा ने उस समय लिखा होगा जब बुशैहर एवं जुब्बल के वजीर नैपालियों का पक्ष छोड़ कर अंग्रेजों के साथ हो गये थे। उन्हीं की भांति अन्य राणाओं और ठाकुरों ने भी गोरखाओं का साथ छोड़ दिया हो, उधर मलौण में अखतरलोनी ने मलौण की धार पर गोरखाओं के विस्तृत शिवर पर अन्तिम प्रहार की योजना बनाई। मलौण के किले से चार मील दक्षिण की ओर इसी पहाड़ी पर सूरजगढ़ का किला था। इसमें भक्ति थापा के नेतृत्व में नैपालियों की सबसे शक्तिशाली फौजी टुकड़ी थी। अखतरलोनी की योजना के अनुसार मलौण की धार पर एक साथ कई फौजी टुकड़ियों को विभिन्न दिशाओं से चढ़ना था, यह जमाव विशेषत: मलौण और सूरजगढ़ के मध्यवर्ती चोटी पर होना था जिससे अमरसिंह थापा और भक्ति थापा के मध्य सम्पर्क कट जाय। १५ अप्रैल को गमरोला की घाटी से तीन फौजी टुकड़ियां मलौण की धार पर रैला नामक चोटी पर चढ़ीं और उसी प्रकार दो टुकड़ियां ब्योंथल की चोटी की ओर चढ़ीं। ये दोनों स्थान भक्ति थापा और अमरसिंह थापा के शिविरों के मध्य थे। अमरसिंह थापा को चकमा देने के लिये एक फौजी टुकड़ी अरनोल्ड की कमाण्ड में उत्तर दिशा में रतनगढ़ से चली। इसी प्रकार कई स्थलों से एक ही दिन में कई फौजी टुकड़ियां मलौण और सूरजगढ़ के मध्य एकत्रित हो गई। मलौण की धार पर पहुंचना और वहां अपनी स्थिति सुदृढ़ करना अखतरलोनी की रण-योजना का महत्वपूर्ण भाग था और इसमें उसको सफलता मिली। अगले दिन १६ अप्रैल को भक्ति थापा प्रातः काल ही अपने दो हजार चुने हुए सैनिकों को लेकर अंग्रेजों के शिविर की ओर युद्ध गर्जना और वाद्य-वृन्दों के साथ चल पड़ा। भक्ति थापा के प्रति गोरखा सैनिकों को बड़ी श्रद्धा और सम्मान था। अमरसिंह थापा की भान्ति वह भी ७० वर्ष का वयोवृद्ध सैनिक था, परन्तु उससे अधिक सफल सेना-नायक और न्यायप्रिय था। नैपालियों का युद्ध-घोष "गोरखाली आयो" शत्रु-पक्ष को आतंकित करने के लिये बड़ा प्रभावशाली माना जाता था। नंगी खुखरियों से नैपाली जब इस युद्ध-घोष से शत्रु पर टूट पड़ते थे, तब शत्रु के सैनिकों को भागने के सिवाय अन्य कोई चारा ही नहीं रहता

था। आमने-सामने की लड़ाई में इन निर्भीक और साहसी नेपाली सिपाहियों का मुकाबला करना प्रायः कठिन होता था। अंग्रेजी सेना का नायक सैमसन था। ब्योंथल की चोटी पर वह दो छः पौंड का गोला बरसाने वाली तोपों को ले जाने में सफल हो गया था। ये तोपें अंग्रेजी सेना की विशिष्ट शक्ति थीं। नैपालियों का मुख्य लक्ष्य आरम्भ से ही इन तोपों का मुंह बन्द करना था, पर वे इसमें सफल नहीं हुये। सारे दिन बड़ी वीरता से भक्ति थापा के सैनिक बहुत निकट से अंग्रेजों की सेना पर गोलियों की बौछार करते रहे। दोनों पक्षों में भारी युद्ध हुआ, परन्तु कोई निर्णायक परिणाम सामने नहीं आ रहा था। सायंकाल नैपालियों ने एकाएक गोलाबारी बन्द की और अपने शिविर की ओर वापिस जाने लगे। अंग्रेजों ने युद्ध-भूमि में एक गोरखा अधिकारी का शव पड़ा देखा। शनाखत करने पर अंग्रेज़ी शिविर के नैपालियों ने बड़े दुःख के साथ बताया कि यह भक्ति थापा का शव है। अखतरलोनी ने मूल्यवान पशम की चादरों से शव को लपेट कर सम्मान के साथ अमरसिंह थापा के शिविर की ओर भेजा। नैपालियों ने भक्ति थापा के शव को देखकर कहा था 'हमारी तलवार की धार टूट गई है।' वास्तव में अमरसिंह थापा कभी भी अपनी सेना के स्नेह और श्रद्धा का पात्र नहीं हुआ। भक्ति थापा इस स्नेह का स्रोत था। गोरखा सेना इस घटना के बाद शक्ति-हीन हो गई। धीरे-धीरे सैनिक थापा को छोड़कर अंग्रेज शिविर में सम्मिलित हो रहे थे। अमरसिंह थापा के पास केवल मलौण का किला रह गया था। १६ अप्रैल के युद्ध में अंग्रेजी सेना के ३३ सैनिकों की मृत्यु हुई और २२० सैनिक घायल हुये जबकि गोरखा मृतकों और घायलों की संख्या ५०० के लगभग थी।

गोरखा शिविर में निराशा—

अब मलौण में अमरसिंह थापा की स्थिति निराशापूर्ण थी। उसकी सेना लगभग आधी रह गई थी। उसके भयावह आदेश के बावजूद कि भगोड़े सिपाही को गोली से उड़ा दिया जाय, नित्य कुछ न कुछ नैपाली सिपाही भाग कर अंग्रेजी शिविर में शरण ले रहे थे। नाके बन्दी के कारण खाद्य सामग्री का अभाव बढ़ रहा था। गोरखा अधिकारी और सिपाही इस निराशाजनक और अकर्मण्य स्थिति से खिन्न थे। वे कोई निर्णायक पग उठाना चाहते थे, परन्तु थापा अनिश्चय की स्थिति में था। वह कुछ दिन और प्रतीक्षा करने का परामर्श दे रहा था; उसको कदाचित् नैपाल से कुमुक के पहुंचने की आशा थी; परन्तु अल्मोड़ा के पतन के बाद कुमुक के आने की सम्भावना तो समाप्त हो गई थी। अखतरलोनी ने बारह पौण्ड का गोला बरसाने वाली तोपों का मुंह मलौण के किले की ओर कर लिया था; परन्तु यह कदम नैपालियों को आतंकित करने के लिये उठाया था। अन्त में थापा के अधिकारी (भरदार) एकत्र होकर उसके पास गये और उन्होंने कोई निर्णायक कदम उठाने के लिये उस पर जोर दिया। कोई निश्चित उत्तर न मिलने पर २६०० गोरखा भरदार (अधिकारी) और सैनिक मलौण को छोड़ कर अखतरलोनी की शरण में चले गये। थापा के पास केवल २५० सैनिक शेष रहे। अन्त

में उसने अपने पुत्र रामदास को आत्म-सम्पर्ण का प्रस्ताव लेकर अखतरलोनी के पास भेजा। अंग्रेज कमाण्डर ने इन मुख्य शर्तों पर थापा का आत्म-सम्पर्ण स्वीकार किया— (१) मलौण सहित यमुना और सतलुज के मध्य गोरखा सभी किलों और क्षेत्रों को खाली करें। (२) अपने व्यक्तिगत सम्पति व स्त्री-बच्चों को लेकर जो नैपाल जाना चाहें वे काली नदी के पार नैपाल को चले जाएँ। (३) जो गोरखे अंग्रेजों की सेना में भर्ती होना चाहें उनको कम्पनी सरकार अपनी सेवा में ले लेगी। (४) अमरसिंह थापा भी अपनी स्त्रियों और बच्चों व व्यक्तिगत सम्पत्ति को लेकर ससम्मान अपने देश को जिस मार्ग से जाना चाहे जा सकता है।

१५ मई १८८५ को अमरसिंह थापा ने आत्म-सम्पर्ण किया और उक्त इकरारनामे पर हस्ताक्षर किये। इकरारनामे को परिशिष्ट के रूप में इस परिच्छेद के अन्त में उद्धृत किया गया है। अमरसिंह थापा ने अपने जीवन के लगभग २५ वर्ष गोरखा साम्राज्य के विस्तार में व्यतीत किये। कालीनदी से लेकर सतलुज के तट तक के क्षेत्र तक गोरखा साम्राज्य की विजय-पताका फहराने का गौरव इसी वीर गोरखा को था। कांगड़ा में अवश्य उसको पराजय का मुख देखना पड़ा था; अन्यथा थापा की यह महत्वाकांक्षा थी कि सिक्किम से लेकर काश्मीर तक गोरखा साम्राज्य की पताका फहराये। परन्तु महाराजा रणजीतसिंह ने नगर कोट के किले में थापा के स्वप्न को भंग कर दिया और अन्त में अंग्रेज सेना-नायक सर डविड अखतरलोनी ने मलौण में थापा की आकांक्षाओं पर ऐसा प्रहार किया कि जिस साम्राज्य को स्थापित करने में उसने अपने जीवन को लगाया वह उसकी आंखों के सामने ही रेत की दीवार की तरह धराशायी हो गया जिसके निर्माण के लिये उसने निष्ठापूर्वक अपने जीवन का बलिदान किया, क्षणभर में उस साम्राज्य का विघटन हो गया और सब से बड़ी विधि विड़म्बना यह थी कि इस विघटन पर मुहर स्वयं अमरसिंह थापा को लगानी पड़ी। निःसन्देह सजल नेत्रों से उस वयोवृद्ध निष्ठावान सेनानी ने उस दस्तावेज पर हस्ताक्षर किये होंगे जो गोरखा साम्राज्य के अन्तेष्ठि के समय का पिण्डदान जैसा था। अमरसिंह थापा को अंग्रेजों की ओर से भी प्रलोभन दिया गया बताया जाता है। उसी प्रकार अलमोड़ा में ब्रह्मशाह को भी अंग्रेजों ने प्रलोभन देने का प्रयत्न किया था परन्तु इन निष्टावान गोरखा सेनानायकों ने तिरस्कार के साथ इन प्रलोभनों को ठुकराया था और अपने देश, राज्य और कर्त्तव्य के प्रति असाधारण निष्ठा और भक्ति का परिचय दिया था। जिस सेना पर अमरसिंह थापा को गर्व था और जिसको संगठित और प्रशिक्षित करने में उसने पूरा प्रयास किया था, उसको विघटित होते हुये भी उसे देखा, उसी सेना ने थापा का परित्याग करके उसके शत्रुओं से शरण प्राप्त की। यह दृश्य भी उसने अपनी आँखों से देखा। अपने साम्राज्य और गौरवमयी सेना का पतन देख कर उस निष्ठावान सेना-नायक को जो सन्ताप हुआ होगा, उसका अनुमान लगाना कठिन

है। अखतरलोनी ने सन्धि-पत्र में अमरसिंह थापा की कर्तव्य-निष्ठा के लिए जो प्रशंसा की है, वह अमरसिंह थापा के आंसू पोंछने के समान था। इकरारनामा में थापा ने इस बात का उल्लेख करने पर जोर दिया था कि मलौण में उसने जो आत्म-समर्पण किया था वह कुमाऊं के गवर्नर ब्रह्मशाह के आदेशानुसार किया था। साधारणत: अखतरलोनी इस उल्लेख के पक्ष में नहीं था परन्तु अप्रैल में कुमाऊं के पतन के बाद ब्रह्मशाह ने अमरसिंह थापा को हथियार डालने को लिखा था। अत: इस आत्म-समर्पण की जिम्मेदारी को वह ब्रह्मशाह के माथे मढ़ना चाहता था। इसलिए यह उल्लेख कि यह आत्म-समर्पण ब्रह्मशाह के आदेशानुसार हुआ, अमरसिंह थापा की मिथ्या-प्रतिष्ठा को बचाने के लिये किया था; परन्तु मलौण में थापा की जो विकट सैन्य स्थिति हो गई थी, उसको देखते हुये, आत्म-समर्पण की अनिवार्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता था। थापा का प्रयास कि पराजय और आत्म-समर्पण का अपयश ब्रह्मशाह के सिर मढ़ा जाय, आत्म-प्रवंचना के बराबर था।

अन्तिम सन्धि—

अल्मोड़ा के पतन के बाद नैपाल की पराजय सुनिश्चित हो चुकी थी और सन्धि की शर्तों की रूपरेखा भी बन चुकी थी। युद्ध के आरम्भ में ही लॉर्ड हेस्टिंग्ज समस्त कुमाऊं और गढ़वाल के कुछ भाग को अंग्रेजी राज्य में मिलाने का निर्णय कर चुका था। मलौण का आत्म-समर्पण तो गोरखा पराजय की अन्तेष्ठि, अन्तिम पिण्ड-दान के समान था। अन्तिम सन्धि जो नैपाल ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार के मध्य हुई और जो सगौली की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है, के अनुसार दोनों राज्यों के मध्य पूर्ववत् शान्ति और मित्रता स्थापित की गई। काली नदी के पश्चिम में स्थित सभी क्षेत्र नैपाल को छोड़ने पड़े। इसमें सतलुज और यमुना नदियों के मध्यवर्ती प्रदेशों के अतिरिक्त गढ़वाल और कुमाऊं के प्रदेश भी सम्मिलित थे। काली नदी से तिश्ता तक के सभी तराई के इलाकों पर से नैपाल सरकार का अधिकार समाप्त कर दिया गया। नैपाल ने सिक्किम के जो क्षेत्र अपने अधिकार में लिये थे, वे सभी छोड़ने पड़े और फिर कभी उस राज्य के इलाके पर अतिक्रमण न करने का वचन दिया। दोनों राज्यों के राजदूत अपने यहां रखना स्वीकार किया। इस सन्धि की शर्तों का निर्धारण सगौली के स्थान पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से ले० कर्न ब्रैडशा और नैपाल के तत्कालीन महाराजा विक्रम शाह की ओर से राज गुरु गजराज मिश्र और चन्द्रशेखर उपाध्याय के मध्य हुआ और बाद में दोनों सरकारों ने इसकी पुष्टि की।

परिशिष्ट

काजी अमरसिंह थापा और डेविड अख्तरलोनी के मध्य १५ मई १८१५ को मलौण में हुये अनुबन्ध का हिन्दी रूपान्तर।

काजी अमरसिंह थापा के उच्च पद और उच्च चरित्र एवं जिस वीरता और निपुणता व निष्ठा के साथ उसने अपने क्षेत्र की रक्षा की है, इन सब तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए, दोनों पक्षों ने यह स्वीकार किया कि—

(१) काजी अमरसिंह थापा मलौण और राजगढ़ में रह रहे सैनिकों सहित यहां से प्रस्थान करेगा। सैनिक अपने शस्त्र, वर्दी और ध्वज-पताका के साथ जायेंगे। उनको दो बन्दूकें और अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति को ले जाने की स्वतंत्रता होगी। काजी अमरसिंह थापा और उसके अन्य लोगों की स्त्रियों के प्रति सम्मान और संरक्षण पूरी तरह प्रदर्शित किया जावेगा।

(२) काजी रणजोरसिंह थापा के वीरतापूर्ण आचरण को ध्यान में रखते हुए यह भी स्वीकार किया गया कि वह भी जैथक के किले से दो सौ सैनिकों के साथ प्रयाण करेगा। ये सैनिक अपने शस्त्र, वर्दी, पताका और एक बन्दूक अपने साथ रख सकेंगे। इनके साथ सभी सैनिक अधिकारी (भरदार) अपने तीन सौ निःशस्त्र सैनिकों व सेवकों एवं स्त्रियों और व्यक्तिगत सम्पत्ति सहित जायेंगे। उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति और स्त्रियों के सम्मान की पूरी रक्षा की जावेगी।

(३) काजी अमरसिंह थापा और काजी रणजोरसिंह अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति और सैनिकों के साथ थानेसर, हरिद्वार और नजीबाबाद के मार्ग से काली नदी (सरजू नदी) के पार अपने देश को जा सकते हैं अथवा किसी अन्य मार्ग से भी उनको अपने देश को जाने की स्वतन्त्रता होगी। उनके सामान को नैपाल की सीमा तक ले जाने की व्यवस्था की जावेगी।

(४) काजी अमरसिंह और रणजोरसिंह मार्ग में जिससे चाहें मिल सकते हैं।

(५) काजी अमरसिंह थापा और काजी रणजोर थापा के सेवार्थ सैनिकों को छोड़कर, शेष नेपाली सैनिकों को यह स्वतन्त्रता होगी कि यदि वे चाहें तो ब्रिटिश सेना में भर्ती हो सकेंगे। ऐसे जिन सैनिकों को तत्काल नौकरी में नहीं रखा जाएगा, उनको उस समय तक निश्चित भत्ता मिलेगा जब तक दोनों राज्यों में शान्ति और मित्रता स्थापित नहीं हो जाती है।

(६) काजी अमरसिंह थापा ने बेगारियों का प्रबन्ध होने पर मलौण से अपने साज-सामान के साथ जाना स्वीकार कर लिया है।

(७) इसी प्रकार काजी ने अन्य किलों को खाली करने एवं अधिकृत अधिकारियों को सौंपने के आदेश को भी मान लिया है। ये किले हैं बहाली, हाटू मोरी, जैथक, जगतगढ़, रावी एवं यमुना और सतलुज के मध्य अन्य सभी गढ़ जिन पर

नैपालियों का अधिकार है। इन गढ़ों और क़िलों के सैनिक निर्विघ्न अपनी-अपनी सम्पत्ति को ले जा सकेंगे। इन किलों में जो युद्ध का सामान है वह वहीं छोड़ दिया जाएगा। इसका अन्तिम निर्णय मान्यवर गवर्नर जनरल यथा समय करेंगे। केवल अमरसिंह थापा के सम्बन्धी जिनकी संख्या ७३ है, अपने हथियार और वर्दी समेत जाएंगे।

(८) काजी अमरसिंह थापा ने यह भी मान लिया है कि वह गढ़वाल के अधिकारी काजी बखतावरसिंह को गढ़वाल के सभी गढ़ों और किलों को खाली करने और उनको ब्रिटिश सरकार के अधिकारियों को सौंपने का आदेश देगा और वहां के नैपाली सैनिक कुमाऊं के मार्ग से सब सार्वजनिक सम्पत्ति और युद्ध सामग्री को लेकर नैपाल को चले जाएं।

(९) काजी अमरसिंह थापा यह स्पष्ट करना चाहता है कि वह इस आशा से दूरस्थ गढ़ों और किलों के समर्पण के लिए तत्काल आदेश देगा ताकि दोनों राज्यों के मध्य साठ वर्ष पुरानी मैत्री पुनः स्थापित हो सके। ऐसा आदेश ब्रह्मशाह और कुमाऊं के अन्य भरदारों के परामर्श से दिया है।

—०—

१२. संघर्ष विदेशी पर्यटकों की दृष्टि में तत्कालीन जीवन की झलक

विलियम मूरक्रॉफ्ट

सन् १८१५ में गोरखा युद्ध के बाद कुमाऊं से लेकर सतलुज नदी के पूर्वी तट तक समस्त पहाड़ी क्षेत्र पर अंग्रेजों की प्रभुसत्ता स्थापित हो गई। सारा कुमाऊं और गढ़वाल में अलकनन्दा से पूर्वी क्षेत्र एवं दून क्षेत्र को छोड़ कर, शेष पर्वतीय भाग पर किसी न किसी पहाड़ी राजा, राणा या ठाकुर का शासन था जिसको अंग्रेजों ने स्वीकार किया और प्रत्येक राजा के साथ अलग-अलग अनुबन्ध किए। पहाड़ी राजाओं के साथ जो अनुबन्ध अंग्रेजी सरकार ने किए उनमें मुख्य बातें ये थीं; प्रत्येक राजा या राणा को अंग्रेज सरकार की प्रभुसत्ता स्वीकार करनी होगी। राज्य के साधन और आय के अनुसार उसके शासक को ब्रिटिश सरकार को कर देना पड़ेगा। अंग्रेजों के व्यापारिक माल को कर-मुक्त उस राज्य में बिकने की छूट थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार मुख्यत: एक व्यापारिक कम्पनी की सरकार थी। अत: अनुबन्ध या सनद में इस सुविधाओं का प्रावधान स्वभाविक था। युद्ध-काल में अंग्रेजी सरकार की धन-जन से सहायता करना भी इस अनुबन्ध की एक धारा थी। अंग्रेजी अधिकारियों के रियासत में यात्रा करते हुए उनको बेठू-बेगारी देना भी उस राज्य का दायित्व था। मण्डी जैसे बड़े राज्यों के अनुबन्ध में दास-प्रथा, सती-प्रथा और बाल-कन्या-बध आदि अमानवीय प्रथाओं के निषेध का उल्लेख भी किया गया था।

सन् १८१५ से १८५० तक इन राज्यों की शासन-व्यवस्था पुरानी ठकुराई परम्परा पर चलती रही। राज्य का कर खेती की उपज, घी, तेल, ऊन आदि के रूप में दिया जाता था। न्याय प्रणाली भी बहुत प्राचीन काल से प्रचलित प्रधानतः दैवीय न्याय पर आधारित थी। सन् १८५४ में बुशैहर राज्य में जमीन की पैमायश की गई और आधुनिक ढंग से नकद लगान लगाया गया; परन्तु यह नयी प्रणाली इतनी अलोकप्रिय रही कि राज्य में विद्रोह जैसी स्थिति हो गयी। सन् १८५८-५९ में पुनः पुराने ढंग से उपज के रूप में कर देने की प्रथा लागू की गई। टीका रघुनाथसिंह के शासन-काल में सन् १८९२-९३ में बुशैहर में पैमायश हुई और नकद कर लेने की व्यवस्था लागू की गई। इन सभी छोटे-बड़े राज्यों का आधुनिकिरण १८५० के उपरान्त आरम्भ हुआ और बीसवीं सदी के प्रथम चरण तक चलता रहा। इस प्रक्रिया में लगान के अतिरिक्त, न्याय व्यवस्था, तहसीलों के रूप में क्षेत्रीय प्रबन्ध में सुधार, बेठू-बेगार प्रथा की कठोरता में कमी, आधुनिक शिक्षा का प्रसार, नई स्वास्थ्य सुविधाएं आदि का समावेश निहित है।

उन्नीसवीं सदी से पहले का क्रम-बद्ध ऐतिहासिक वृतान्त पहाड़ी क्षेत्र का सर्वथा दुर्लभ-जैसा है। मुगल-काल के इतिहासकारों ने भी प्रसंगवश पहाड़ी राज्यों का उल्लेख किया है। विधिवत् वृतान्त उस काल का भी नहीं मिलता है। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में कुछ विदेशी पर्यटक पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में आए। उन्होंने अपने यात्रा-विवरण में तत्कालीन जीवन का प्रसंगवश उल्लेख किया है जिससे उस समय के राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की झलक आम मिलती है। ये पर्यटक जिस राज्य या क्षेत्र में गए, वहां के लोगों, स्थानों और प्रभावशाली घटनाओं की उन्होंने संक्षिप्त चर्चा की है। जेम्ज वेली फ्रेजर, विलियम मूरक्रॉफ्ट और वैरन चार्ल्स ह्यूगल के यात्रा—विवरण उस दृष्टि से रोचक और महत्वपूर्ण हैं। फ्रेजर गोरखा युद्ध के समय दून और सिरमौर क्षेत्र के लिये राजनैयिक परामर्शदाता था और उसका भाई विलियम फ्रेजर लोक सम्पर्क राजनैतिक अधिकारी (पोलिटिकल एजेण्ट) था। उस युद्ध के समय ये दोनों भाई नाहन से चलकर सैंधार, राजगढ़, सरैं, चौपाल, हाटू, वाधी, नारकण्डा, रामपुर, सरहान आदि कई स्थानों पर गये। फ्रेजर का मुख्य विषय गोरखा युद्ध का वर्णन था, पर अपने यात्रा विवरण में उसने कई अन्य तथ्यों का उल्लेख किया है। विलियम मूरक्राफ्ट ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार के अश्व विभाग का अधीक्षक था। उसका गन्तव्य स्थान लद्दाख के मार्ग से बुखारा था, जो अच्छे घोड़ों के लिये उस समय संसार में प्रसिद्ध था और उसका वहां जाने का उद्देश्य कम्पनी सरकार के लिये अच्छे घोड़ों का क्रय करना था। उस युग में सैनिक और असैनिक कार्यों के लिये घोड़ों की वही उपयोगिता थी जो आज रेल, मोटर, हवाई जहाज आदि यान्त्रिक वाहनों की है। वैरन चार्लस ह्यूगल जर्मन पर्यटक था। उसका यात्रा-क्षेत्र मुख्यतः पंजाब और काश्मीर था; परन्तु वह विलासपुर हरिपुर गुलेर नूरपुर आदि स्थानों से होता हुआ जम्मू गया था। उपरोक्त स्थानों के सम्बन्ध में उसकी प्रासंगिक संक्षिप्त चर्चा तत्कालीन सामाजिक अवस्था को इंगित करती है।

विलियम मूरक्राफ्ट सन १८१९ में गढ़वाल में नीती के दर्रे को पार कर तिब्बत के मार्ग से बुखारा जाना चाहता था। वह तिब्बत के साथ ऊन और रेशम के व्यापार की सम्भावना का भी अध्ययन करना चाहता था। तव गढ़वाल का यह क्षेत्र अंग्रेजों के अधीन आ चुका था, परन्तु मूरक्राफ्ट नवम्बर के अन्तिम दिनों में गढ़वाल में पहुंचा और हिमपात से नीती का दर्रा तव वन्द हो चुका था। अतः श्रीनगर से पश्चिम दिशा की ओर उसको मार्ग वदलना पड़ा। अब सबसे पहले उसका गन्तव्य स्थान कुल्लू रोहतांग व वारालाचा के मार्ग से लद्दाख था। श्रीनगर में उसने अलकनन्दा नदी को पार किया। मार्ग में उसने टेहरी के निकट एक गांव में 'बेड्वार्त' (भुण्डा) की तैयारी होते देखा। पुराने समय में गढ़वाल में भी भुण्डा की प्रथा प्रचलित थी। जिस प्रकार शिमला क्षेत्र में निर्मण्ड, दत्तनगर और बुशैहर के कई अन्य गांवों में भुण्डा

की प्रथा थी; गढ़वाल में इस धार्मिक कृत्य को 'बेड्वार्त' कहते थे। विधान में कोई अन्तर नहीं था। 'बेडा' (नर्तक) शब्द से बेड्वार्त की उत्पत्ति हुई प्रतीत होती है। लोगों ने मूरक्रॉफ्ट को बताया कि उस नर मेध का बेड़ा टेहरी में रहता है। टेहरी पहुंचने पर साठ वर्षीय बांचू नाम का बेडा (नर्तक) अपने दो लड़कों के साथ, एक रस्सी का टुकड़ा, लकड़ी का घोड़ा जो रस्से के ऊपर रखकर नर्तक की सवारी का काम देता था तथा जो लकड़ी के घोड़े के दोनों ओर बांधे जाते थे, को लेकर मूरक्राफ्ट के पास आया था। बांचू ने बताया कि रस्सा वह स्वयं बनाता है। उस रस्से का एक छोड़ पहाड़ की ढलान पर किसी खम्बे, पेड़ या चट्टान पर बांधा जाता है और दूसरा किनारा नीचे समतल स्थान पर खम्बे पर बांधा जाता है। रस्से की लम्बाई स्थान के अनुसार अलग-अलग होती है। पिछली बार बांचू जिस रस्से पर फिसला था उसकी लम्बाई १२०० हाथ थी और रस्से की मोटाई ३" व्यास की थी। लकड़ी के घोड़े को अन्दर से सवा तीन इंच की चौड़ाई तक कोरा जाता है ताकि रसा उसमें ठीक समा सके। बेड़ा को लकड़ी के घोड़े पर बिठाया जाता है और उसका सन्तुलन ठीक रखने के लिये दोनों ओर रेत के थैले या पत्थर बांधे जाते हैं। जब बेड़ा को घोड़े पर बिठा कर ऊपर से रस्से पर छोड़ा जाता है तो लकड़ी के घर्षण से रस्से में धुआं-सा निकलता है। नीचे कुछ लोग आर-पार रस्सों को पकड़ कर प्रबल वेग से आने वाले बेड़ा को रोकने का प्रयत्न करते हैं। जब कभी रस्सा टूट जाता है तो बेड़ा की मृत्यु अवश्यम्भावी है। पुराने समय में लोग इस प्रकार गिरने वाले बेड़ा का तलवार से सिर धड़ से अलग कर देते थे; परन्तु सन् १८१५ के बाद ऐसा करना कानून का उल्लंघन हो गया था। मूरक्रॉफ्ट के अनुसार बाँचू अपने जीवन में सोलह बार रस्से पर फिसला था और अपने कृत्य में सकुशल सफल रहा। बेड़ा जब नीचे पहुंचता है तो वह प्रायः चेतना-शून्य होता है। उसके बालों को प्रसाद रूप में ग्रहण करते हैं। लोग विपुल धन राशि उसको चढ़ाते हैं। उसकी स्त्री और परिवार के लोग बाल खोल कर विलाप की अवस्था में नीचे उसके परिणाम की प्रतीक्षा करते हैं। ऐटकिन्सम के अनुसार चढ़ावा के अतिरिक्त एक रुपया प्रति सौ हाथ के हिसाब से रस्से की लम्बाई पर बेड़ा को श्रामिक दिया जाता है। उन्नीसवीं सदी के अन्तिमचरण में जब ऐटकिन्सन ने गजेटियर लिखा उस समय गढ़वाल में लगभग पचास गावों में बेड्वार्त का रिवाज था। कुल्लू के गांव निर्मण्ड में प्रायः बारह वर्ष के बाद भुण्डा होता था। भुण्डा या बेड्वार्त मानव-बलि का परिष्कृत रूप प्रतीत होता है। महामारी और ऐसी ही अन्य प्राकृतिक आपदाओं को टालने के लिये इस प्रकार के अनुष्ठानों का आयोजन किया जाता था। प्राकृतिक विपत्तियां दैविक प्रकोप का परिणाम मानी जाती थीं। मूरक्रॉफ्ट का कथन है कि उस समय कुमांऊ में हैजा की महामारी फैली; परन्तु लोक विश्वास के अनुसार बेड्वार्त के कारण यह क्षेत्र उस महामारी से मुक्त था। निर्मण्ड में स्थानीय देवता परशुराम की पूजा भुण्डा यज्ञ से की जाती है। इस अनुष्ठान के अन्त में बेड़ा रस्से पर पड़ता

व्यापार प्राय: समाप्त हो चुका था। गोरखा-शासन काल में नदौण का व्यापार और पुरातन वैभव सर्वथा नष्ट हुआ। लोग और व्यापारी नगर को छोड़कर भाग गये। भांग और धतूरा गलियों और मार्गों पर उग गया था। यहां रात के समय गीदड़ और सियार बोलते थे। वैभव-काल में यहां नर्तकियां होती थीं; वाद्य और नृत्य के आकर्षण से कहावत थी कि "जो गया नदौण आवेगा कौण?" पर मूरक्रॉफ्ट की यात्रा के समय "जो बाजार पहले भीड़भाड़ से भरा रहता था अब बिल्कुल उजड़ा नजर आता है। कुछ फकीर और साधु व यात्री इधर-उधर जाते दिखाई देते हैं। दुकानदारों में से एक तिहाई दिन को भी सोते थे और एक तिहाई चौपड़ खेल रहे थे। शेष अनमने भाव से अपने काम में अर्ध-व्यस्त नजर आते थे।"

होशियारपुर—

होशियारपुर के सम्बन्ध में मूरक्रॉफ्ट ने लिखा है कि यहां की आबादी मुख्यत: जुलाहों, तरखानों, रंगसाजों, अनाज के व्यापारियों और हलवाइयों की है। जुलाहे अधिकतर मुसलमान हैं। ये सूती कपड़ा और बारीक मलमल का कपड़ा बुनते हैं। यहां का पानी सूती कपड़े में चमक लाने के लिए उपयुक्त है। यहां से सफेद कपड़ा दिल्ली जाता है, लाल कपड़ा जयपुर और बीकानेर, मोटा सूती कपड़ा पंजाब और काबुल को जाता है। बारीक मलमल और दूसरा सूती कपड़ा हरात, बलख, बुखारा, यारकन्द आदि मध्य एशिया के नगरों को जाता है। यहां के नाई शल्य-चिकित्सक भी हैं। ये आंखों के मोतिया बिन्द का ऑप्रेशन भी करते हैं।

सुजानपुर और वैद्यनाथपुर—

लाहौर से वापिस आने पर सन १८२० के वर्षा ऋतु का समय मूरक्रॉफ्ट ने कांगड़ा के राजा संसारचन्द के यहां सुजानपुर टीरा में बिताया। इसका वर्णन कुछ विस्तार से पिछले एक परिच्छेद में किया गया हैं। टीरा के प्रवास की सबसे मार्मिक घटना राजा के भाई फतेहसिंह की बीमारी, मूरक्रापट द्वारा उसका उपचार और स्वस्थ होने पर मूरक्रॉफ्ट और फतेहसिंह का हिन्दु विधि द्वारा "धर्म भाई" बनना है। धर्म भाई व बहिन बनाना आज भी समस्त पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में प्रचलित है। मूरक्रॉफ्ट के समय संसार चन्द का आर्थिक और राजनैतिक पराभव हो चुका था; परन्तु संसार चन्द तब भी उद्धार और प्रजा में लोकप्रिय था। फतेहसिंह जब बीमार था तो उसकी रानियां और रखेलियां चिता में प्रवेश करने की तैयारी कर रही थीं; परन्तु मूरक्रॉफ्ट के उपचार से कुछ समय के लिये उनकी जीवन-अवधि भी बढ़ गई। टीरा से प्रस्थान करने पर वह वैद्यनाथ के मार्ग से कुल्लू को गया। उस समय भी वैजनाथ का नाम वैद्यनाथपुर था। यह प्राचीन नाम था। नवीं सदी के आरम्भ में जब यहां शिव मन्दिर की स्थापना हुई थी, उस समय इस स्थान का नाम कृग्राम था। मन्दिर में उत्कीर्ण प्रशस्ति से पता चलता है कि उस समय इस गांव के सामन्त का नाम लक्ष्मण

था और वैद्यनाथ का मन्दिर स्थापित होने पर इसका नाम वैद्यनाथपुर हुआ और यह नाम मूरक्राॅफ्ट के समय (सन १८२०) तक प्रचलित था। वैद्यनाथपुर से यह अब वैजनाथ बन गया है। इसी प्रकार इसके पास बहने वाली नदी का प्राचीन नाम विन्दुका था, पर अब वह नाम अपभ्रंश होकर विनवा रह गया है। मूरक्राॅफ्ट का कथन है कि वैद्यनाथपुर से लाहौर तक, १२० कोस के फासले का भाड़ा दो रुपये आठ आना प्रति पक्का मन था। एक मजदूर का वेतन २ रुपये प्रति मास था। मण्डी की गुम्मा की नमक की खान में काम करने वाले मजदूर का वेतन २ रुपये मासिक था जिसमें से एक रुपया नकद मिलता था और एक रुपये के बदले नमक लेना पड़ता था। कुल्लू में उसने ऊन की एक फुट चौड़ी और १५ हाथ लम्बी पट्टी जिसका वजन ५ पौण्ड था, तीन रुपये में बिकती देखी। उस युग में सिक्कों के रूप में धन के अभाव में चीजें बहुत सस्ती थीं।

नमक की खान—

मण्डी राज्य में स्थित गुम्मा की नमक की खान का मूरक्राॅफ्ट ने विस्तार से वर्णन किया है—कैसे उनमें खुदाई होती थी, कैसे पानी बाहर निकाला जाता था और कैसे खान की छत को गिरने से रोका जाता है। खान से निकाला गया नमक राज्य की सम्पत्ति थी। दूर-दूर से व्यापारी इसको खरीदने यहां आते थे। मौसम के अनुसार खानों का उत्पादन घटता-बढ़ता रहता था। गर्मियों में तीसरे दिन दो सौ मन नमक निकलता था। और शीतकाल में इसी अवधि में पांच सौ मन नमक निकलता था। यह नमक एक रुपये का दो मन खान के पास बिकता था। इससे राज्य को सोलह हजार रुपये वार्षिक आय थी। जमींदार खान में काम करके, कुछ नमक राज्य के लिये छोड़ देते थे और कुछ अपने लिये ले जाते थे। जब सफेद नमक निकलता था, तो वह राजा के उपयोग के लिये छोड़ दिया जाता था। नमक का रंग प्रायः लाली पर होता था। दरंग की नमक की खान से मण्डी राज्य को आठ हजार रुपये वार्षिक आय थी।

राजा ईश्वरीसेन—

मूरक्राॅफ्ट मण्डी के तत्कालीन राज ईश्वरीसेन को भी मिला। राजा के बारे में उसका कहना है कि वह ३५ वर्ष की आयु का युवक है; पर बहुत समझदार प्रतीत नहीं होता है। वह बहुत डरपोक है। उसके पिता सूरमासेन ने यह घोषणा की हुई थी कि उसके राज्य में कोई बन्दूक न चलाये। परन्तु उसके डरपोक होने का प्रमुख कारण यह था कि बाल्यकाल में वह संसार चन्द का बन्दी था। अपने जीवन के आरम्भिक बारह वर्ष उसने सुजानपुर टीरा में पराधीनता में बिताये थे। उसने मण्डी के सती-स्तम्भों का भी उल्लेख किया है।

रानी की चिता पर दासियों का 'सती' होना—

मण्डी की सीमा के पास बजौरा में उसको कुछ दिन इसलिये रुकना पड़ा कि उन दिनों कुल्लू के राजा विक्रमसिंह की विधवा का निधन हुआ था। इस राजकीय

शोक के कारण उसके लिये कुलियों का प्रबंध न हो सका। उसने वजीरा में कुल्लू की रानी के अन्तिम संस्कार का उल्लेख करते हुये लिखा है कि उसकी चिता में उसकी ग्यारह परिचारिकाए 'सती' हुई थीं। रानी के साथ परिचारिकाओं का सती होना एक असाधारण सी वात थी। इसका विवेचन अन्यत्र किया गया है, कुल्लू के राजा विक्रमसिंह की मृत्यु मन १८१६ में हुई थी और उसका उत्तराधिकारी अजीतसिंह अभी दस वर्ष का था। अतः वजीर शोभाराम राज्य का संचालन कर रहा था। शोभाराम ने रणजीत सिंह द्वारा दमन और शोषण के प्रति आक्रोश प्रकट किया। उसने मूरक्राफ्ट को वताया है कि कुछ वर्ष पहले काबुल का शासक शाहशूजा जो मुलतान से रणजीत सिंह के चुंगल से भाग कर कुछ समय जास्कर क्षेत्र में छिपा रहा कुल्लू होता हुआ अंग्रेजी इलाके में चला गया। रणजीतसिंह ने शाहशूजा की सहायता करने के लिये कुल्लू के राजा पर अस्सी हजार रुपये जुर्माना किया था। गोरखा युद्ध में कुल्लू ने अंग्रेजों की कुछ सहायता की थी जिसके लिये अंग्रेजों ने कुल्लू के राजा को पांच हजार रुपये का उपहार दिया था; परन्तु रणजीतसिंह ने कुल्लू राज्य को गोरखा युद्ध में हस्ताक्षेप करने के लिये पचास हजार रुपये का जुर्माना किया था। जन साधारण के जीवन के सम्वन्ध में उसने लिखा है कि इस क्षेत्र में कफ का रोग लोगों में अधिक है। और इसी प्रकार कुष्ट रोग भी लोगों में पाया जाता है। लोगों का भोजन बहुत साधारण है। इनका मुख्य खाद्य गेहूं और जौ है। यात्रा के समय लोग सत्तू खाकर निर्वाह करते हैं। लाहौल स्पिति के निवासियों के बारे में उसने लिखा है कि ये लोग चम्बा, कुल्लू और लद्दाख के मध्य व्यापारिक माल को लाने ले जाने का काम करते हैं। ये लोग स्वयं अपनी पीठ पर या घोड़े और भेड़ वकरी की पीठ पर समान को ले जाते हैं। इसके घोड़े पहाड़ी रास्तों पर चलने में निपुण होते हैं। ये कुल्लू से गेहूं और दूसरे अनाज रोहतांग और वारालाचा के मार्ग से लद्दाख ले जाते हैं और वहां से ऊन पशम और मध्य एशिया की मूल्यवान उपज कुल्लू और रामपुर वुशैहर पहुचाते हैं। एक घोड़ा दो मन समान उठाता है। लाहौल में टण्डी से लेह तक का भाड़ा बारह रुपये मन था—इस विकट यात्रा में सोलह दिन से अधिक समय लगता था। लाहौल के अन्तिम गांव दारचा से लद्दाख तक के मार्ग में कई दिनों के पड़ाव सर्वथा निर्जन पर्वतीय क्षेत्र में पड़ते थे। टण्डी में मूरक्रॉफ्ट ने सभी भार वाहकों को आग्रिम मजदूरी दी क्योंकि उनको राजा विक्रमसिंह के चतुर्वार्षिक श्राद्ध के लिये फांट (कर) देनी थी। प्रथा के अनुसार राजा के अन्तिम संस्कार और प्रेत-पूजा के लिए प्रजा को विशेष कर देना पड़ता था। 'चौबरखा, नाम के श्राद्ध के लिये सन १८२० में कल्लू राज्य में विशेष कर लगा था। इसका उल्लेख मूरक्रॉफ्ट ने किया है।

मौन चाय—

मूरक्रॉफ्ट ने अपने यात्रा विवरण में वुशैहर में पैदा होने वाली दो प्रकार की चाय का उल्लेख किया। वह मुख्यतः एक व्यापारिक देश का प्रतिनिधि था।

वह दो वर्ष तक लद्दाख में रहा। इस अवधि में लेह में आने-जाने वाली प्रत्येक व्यापारिक वस्तु का उसने बारीकी से अध्ययन किया। तब लेह मध्य एशिया, तिब्बत चीन और भारत के मध्य व्यापार का मिलन-बिन्दु था। बुशैहर में व्यापारियों से बात चीत करते हुये, उन्होंने मूरक्रॉफ्ट को बताया कि बुशैहर में रामपुर के निकट झाखड़ी में एक पौधा होता है। इसके पत्तों और छोटी-छोटी टहनियों को किसान काटकर बारीक करते हैं, और इसको व्यापारियों को एक रुपया मन के भाव से बेच देते हैं। व्यापारी इस सम्मिश्रण को पानी में उबालते है। इससे लाल पानी निकलता है। पानी को फेंक दिया जाता है और उबली हुई पत्तियों और टहनियों को हाथ से निचोड़ कर धूप में सुखाया जाता है। ये पत्तियां लद्दाख में चाय के रूप में एक रुपये की एक सेर बिकती हैं। कई बार इसको घटिया किसम की चीनी चाय में भी मिलाकर बेचा जाता है। इसको हरी घास कहते थे। यह झाड़ी सतलज के किनारे कुल्लू और बुशैहर दोनों क्षेत्रों में पाई जाती है, यह झाड़ी सदा हरी-भरी रहने वाली वनस्पति है। जुलाई से नवम्बर तक इस झाड़ी की पत्तियों और टहनियों को एकत्र किया जाता था। इसी प्रकार कनौर में असरंग गांव (१०,०००') के आस-पास भी पतझड़ वाली एक झाड़ी पाई जाती है। इसके पत्ते जुलाई और अगस्त में तोड़ लिये जाते थे और उसी प्रक्रिया से पत्तों को दबाकर बण्डल बनाया जाता था। इसको 'काली' चाय कहते थे और लेह में यह पन्द्रह रुपये मन के भाव से बिकती थी। मूरक्रॉफ्ट के विवरण के अनुसार एक सौ मन इस प्रकार की मौन चाय प्रतिवर्ष बुशैहर से लद्दाख में आयात की जाती थी। उसने लेह के चाय के थोक व्यापारी की सम्मति व्यक्त की है। इसके अनुसार चीन की घटिया चाय और बुशैहर की चाय में इतना अन्तर था कि चीनी चाय को पैक करने की प्रक्रिया दक्षतापूर्ण थी और बुशैहर की 'चाय' में इस दक्षता का अभाव था। ऐसा प्रतीत होता है कि मौन चाय को वास्तव में लेह के व्यापारी चीन से आने वाली चाय के साथ मिलावट करने के लिये प्रयुक्त करते थे। तब चाय की पहचान आम लोग नहीं कर सकते होंगे। लद्दाख के भोले भाले लोग चाय के स्थान पर इन जंगली पत्तियों को उबालते होंगे। अभी कुछ वर्ष पहले तक अमृतसर की मण्डी से लकड़ चाय वाली पत्तियां उत्तरी भारत में सभी जगह मिलती थीं। इस लकड़ चाय को काश्मीरी कुली नमकीन चाय बना कर पीते थे। आज से लगभग १६० वर्ष पहले काश्मीर और लद्दाख में भी चीनी की चाय का प्रयोग सामन्त और अमीर व्यापारी वर्ग तक ही सीमित था। सम्भवत: जनसाधारण को व्यापारी मिलावटी अथवा मौन चाय जैसी बनावटी चाय की पत्तियाँ बेचते होंगे। इसीलिये यह तथा-कथित मौन चाय बुशैहर से लद्दाख जाती थी। आज के प्रबुद्ध युग में भी हर प्रकार की मिलावट व्यापारिक क्षेत्रों में होती है। तब ऐसा करना काफी आसान था

कांगड़ा में चाय की काश्त—

मूरक्रॉफ्ट ने सुजानपुर टीरा में चाय के पौदों को वन्य अवस्था में पैदा होने का उल्लेख किया है। स्थानीय किसी मुसलमान ने मूरक्रॉफ्ट को उस पौदे की पत्तियाँ लाकर दिखाईं जिसको गोरखे 'चाय' का नाम देते थे। नेपालियों ने इस पौदे की पहचान सन १७६२ के चीन नेपाल युद्ध के समय चीनियों से सीखी थी। सन १८२१ तक असम में वन्य अवस्था में चाय के पौधों की विद्यमानता का पता तत्कालीन बंगाल सरकार को लग गया था। उसके बाद हीं असम, देहरादून और अल्मोड़ा में चाय की खेती आरम्भ हुई। कांगड़ा में चाय की खेती १८४६ में आरम्भ हुई। वैसे यह क्षेत्र १८४६ में अंग्रेजों के अधिकार में आ चुका था। १८४६ में पंजाब में सिख राज्य पूर्णतः समाप्त हुआ और पंजाब अंग्रेजी राज्य का एक सूबा बन गया। इस नये सूबे के वनस्पति-विज्ञान का अध्यक्ष डॉ० जेमसन उसी वर्ष कांगड़ा में यह जानने के लिये आया कि यहां की जलवायु और भूमि चाय की खेती के उपयुक्त है या नहीं। उसकी राय के अनुसार आरम्भ में कांगड़ा में २५०० पौधे, नगरोटा और भवारना में ३२०० पौधे देहरादून और अल्मोड़ा से चाय के पौधे मंगाकर नर्सरियां बनाई गईं। कांगड़ा की नर्सरी अधिक गर्मी के कारण असफल रही; परन्तु अन्य दो स्थानों पर सफल रहीं। फिर धीरे-धीरे कुछ वर्षों में चाय की खेती कांगड़ा में एक लाभप्रद व्यवसाय बना। सन १८६२ तक कांगड़ा जिले में ६५८७ एकड़ भूमि पर चाय की खेती हो रही थी। जिसमें लगभग चार हजार एकड़ चाय के बगीचों के स्वामी अंग्रेज थे और शेष बगीचे स्थानीय लोगों के थे। मूरक्राफ्ट ने जिस मौन 'चाय' का उल्लेख किया वह चाय न होकर चीन की अच्छी चाय में मिलावट करने के लिये एक साधारण वनस्पति थी जो बुशैहर (मौने) से लद्दाख को आयात की जाती थी।*

---

* तिब्बतियों द्वारा बुशैहर को दिया गया नाम सम्भवतः तिब्बतियों ने 'भवाना' शासकों के कारण इस क्षेत्र को मौन कहा हो। बुशैहर राज्य की मूल राजधानी बस्पा उपत्यका में मौने गांव में मानी जाती है। यहां बुशैहर के पुराने राजाओं का एक किला (गोरंग या गढ़) भी है। कनौरों से इतर लोग इस गांव को आजकल कामरू कहते हैं।

१३. संघर्ष विदेशी पर्यटकों की दृष्टि में तत्कालीन जीवन की झलक

(ii) जे० बी० फ्रेजर

सीमा क्षेत्र

जे० बी० फ्रेजर और विलियम फ्रेजर बन्धु नेपाल-अंग्रेजों के युद्ध के समय पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में अंग्रेज-सेना के साथ थे। विलियम फ्रेजर राजनैतिक सम्पर्क अधिकारी था। वह भारतीय संस्कृति और हिन्दुस्तानी भाषा से भली भांति परिचित

विलियम फ्रेजर

था। वैसे उस जमाने में भारतीय भाषाओं और फारसी का ज्ञान होना इन सभी अधिकारियों के लिये आवश्यक था। इन भाषाओं के व्यावहारिक ज्ञान के बाद ही ये लोग भारत में आते थे। विलियम फ्रेजर दिल्ली रेजीडेंसी में अधिकारी था। यह तत्कालीन भारतीय वेष-भूषा में रहता था– अचकन, कमर वन्द, चूड़ीदार पाजामा, लम्बी मूछें और कलमें रखता था। भारतीय संस्कृति के प्रति वह विशेष रूप से आकृष्ट था। इसीलिये गोरखा युद्ध के समय इसको पश्चिमी क्षेत्र का राजनैतिक सम्पर्क अधिकारी नियुक्त किया गया। पूर्वी क्षेत्र, अल्मोड़ा में इस प्रकार के काम को ऐडवर्ड गार्डनर करता था। वह भी भारतीय भाषा और संस्कृति का जानकार था। बड़ा भाई जे० बी० फ्रेजर राजनैतिक परामर्शदाता था परन्तु उसकी ख्याति अंग्रेज और नैपाल युद्ध का इतिहास और पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में यात्रा विवरण लिखने के कारण हुई। यह यात्रा विवरण सन १८४० में इंगलैण्ड में प्रकाशित हुआ। ख्याति-प्राप्त लेखक और उपन्यासकार सर वाल्टर स्कॉट ने इस पुस्तक की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी, फ्रेजर का मुख्य विषय गोरखा युद्ध था; परन्तु दोनों भाई विलियम फ्रेजर और जे० बी० फ्रेजर साथ-साथ उस काल में जन सम्पर्क के लिये पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के कई स्थानों को देखने गये। विलियम फ्रेजर का काम मुख्यत: छोटे-छोटे राजा-राणा और ठाकुरों से सम्पर्क करना, अंग्रेजों की युद्ध नीति को समझाना, उनको अपने पक्ष में करना और अनियमित सेना का संगठन करना था। ये दोनों बन्धु नाहन से चलकर सैंधा, राजगढ़, हावण, शाई, पत्थरनाला होते हुये चौपाल गये। वहां से हाटू कुमारसैन, रामपुर, बहाली सराहन आदि स्थानों को भी गये और अन्त में नहौल, धुतु के मार्ग से बाड़ाहाट (आधुनिक उत्तरकाशी) होते हुये देहरादून पहुंचे। इस लम्बी यात्रा में उन्होंने जिन स्थानों को देखा, जिन लोगों को मिले और जिन महत्वपूर्ण घटनाओं का उन्होंने वर्णन किया वे अत्यन्त रोचक हैं औद तत्कालीन जीवन की झांकी प्रस्तुत करती हैं।

बुशैहर से गोरखाओं का निष्कासन

छः मई १८१५ को फ्रेजर बन्धुओं की यात्रा नाहन से उत्तर दिशा की ओर आरम्भ हुई। अभी नाहन में जैथक का घेरा चला हुआ था; परन्तु काजी रणजौरसिंह थापा की शक्ति शिथिल पड़ चुकी थी। मलौण में काजी अमरसिंह थापा और अखतरलोनी के मध्य लड़ाई के स्थान पर नैपालियों के द्वारा आत्म-समर्पण की बात-चीत चल रही थी। संक्षेपतः युद्ध समाप्त प्रायः हो चुका था। १५ मई को मलौण में अमरसिंह थापा ने पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण किया और उसके बाद २१ मई को रणजौर सिंह ने भी जैथक में हथियार डाल दिये। फ्रेजर बन्धुओं के साथ कुछ अनियमित सैनिक थे, मेवाती, गूजर, सिख, राजपूत पठान और लगभग इतने ही गोरखाओं की मिलीजुली सैनिक टुकड़ी थी। इनका काम मार्ग में आत्म-रक्षा

करना था। उत्तरी क्षेत्र का मुख्य केन्द्र नारकण्डा के निकट हाटू का किला था और कीर्तिराणा इस क्षेत्र का सूबेदार था। १३ अप्रैल १८१५ को जुब्बल का वजीर डांगे नैपालियों का साथ छोड़ कर अंग्रेजों के पक्ष में आ चुका था। तत्पश्चात् जुब्बल, कुल्लू और बुशैहर की सम्मिलित सेना ने गोरखाओं को हाटू, नावर गढ़, टिक्कर आदि किलों से भगाया। हाटू से निकलकर कीर्ति राणा ने नावरगढ़ में शरण ली। यह किला टिक्कर गाँव से ऊपर पहाड़ पर था। स्थानीय लोगों का विश्वास था कि इस किले में देवता का वास है, अत: यह स्थान युद्ध एवं रक्त-पात के लिये वर्जित था। इसमें पानी की कमी थी और इसी प्रकार राशन की भी कमी थी। कीर्ति राणा अधिक समय तक किले की सुरक्षा में न रह सका। कहा जाता है कि उसके साथ गढवाल और सिरमौर के सैनिक थे। उन्होंने भी उसको गलत मार्ग पर डाला। किले से बाहर आने पर नावर-वासियों ने उनको घेर लिया और कई नैपालियों को मौत के घाट पहुंचाया। उनकी धन-सम्पत्ति भी छीन ली। कुछ नैपाली भागकर रांवीगढ़ किसी तरह पहुंच गये। शेष को जिनमें कीर्ति राणा भी सम्मिलित था बुशैहर के सैनिकों ने पकड़ लिया। कीर्ति राणा की प्रार्थना पर उनको अखतरलोनी के शिविर में भेजा गया।

बच्चों को जल-स्त्रोत् के पास सुलाना—

फ्रेजर बन्धु अपने सैनिकों के साथ जब पच्छाद क्षेत्र से गुजर रहे थे तो बाहुन नाम के गांव में उन्होंने पहाड़ में गर्मियों में बच्चों के सिर पर पानी की बारीक धार डालने का दृश्य देखा। गर्म क्षेत्रों में (४०००′ से नीचे) अभी भी यह रिवाज है कि छोटे-छोटे, २ से ४ वर्ष की आयु के बच्चों को गांव के निकट जहां पानी हो, छप्पर बनाकर सुला दिया जाता है और उनके सिर पर पानी की बारीक धार छोड़ दी जाती है। यह पानी नाली से बच्चे के शरीर को स्पर्श किये बिना बह जाता है। उसके केवल सिर पर पानी की धारा पड़ती है। इस शीतलता से बालक घण्टों तक मधुर निंद्रा में सो जाता है। गांव के कई बच्चे ऐसे एक स्थान पर दिन के समय सुलाये जाते हैं और प्रत्येक बच्चे की मूर्धा पर पानी की धारा पड़ती है। ग्रीष्मऋतु में जल का यह उपचार गर्मी और उससे उत्पन्न रोगों से बचने के लिये किया जाता हो। इस दृश्य को देख कर वे कुछ चकित-से हुवे। परन्तु जलाशय के निकट इस ढंग से बच्चों को सुलाने का रिवाज सिरमौर और शिमला क्षेत्र के गर्म स्थानों में अभी भी है।

घने बनों की व्यर्थता—

पुलवाल से पूर्व दिशा में दो नाले चूड़धार से आते हैं। चोपाल जाते हुये उन नालों के संगम पर उनका पड़ाव पड़ा। वहां से आगे इस नदी को विशारी

नाला कहते हैं। फ्रेजर के अनुसार वहां से दस मील के अन्तर पर यह नाला भोगोट नाम के गांव के पास गिरी नदी में गिरता है। पर अब इस नाम का कोई गांव वहां नहीं है। यह सर्वथा निर्जन स्थान है। ऊपर पहाड़ पर चढ़ते हुये वे देवदार के घने जंगल से गुजरे। वहां विशालकाय वृक्ष थे और कुछ गिरकर कई वर्षों से वहीं गल रहे थे। इन विशाल वृक्षों को देख कर फ्रेजर उनके अनुपयोग पर आंसू बहाते हुए क्षोभ प्रकट करता है और लिखता है कि इन देवदार के वृक्षों के स्लीपर यदि किसी तरह कलकत्ता पहुंचाये जा सकते हैं तो जहाजों के बनाने में इनका उपयोग होता, अन्यथा ये भद्र वृक्ष यहीं गिर कर मिट्टी हो जाएँगे – इनका जीवन निःसार और निरर्थक होगा। फ्रेजर भविष्य-द्रष्टा नहीं था। वह कैसे यह भविष्यवाणी करता कि बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भ्रष्टाचारी ठेकेदार वन-अधिकारी आदि की मिली-भगत से इन भद्र वृक्षों की निर्मम हत्या होगी और वे अतुल धनोपार्जन करेंगे। युग परिवर्तन से आज समस्या इन वनों और वृक्षों को बचाने की है।

आरे का अभाव –

पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में फ्रेजर को कहीं भी लकड़ी चीरने के आरे या आरी के दर्शन नहीं हुये। उसका कहना है कि इस क्षेत्र के लोग इस प्रकार के औजार से सर्वथा अपरिचित हैं। यहां लकड़ी को चीरने का एक मात्र साधन कुल्हाड़ा और आड़ू है। इन से लकड़ी का बहुत-सा भाग व्यर्थ जाता है और तख्ते व कड़ियां बनाने में अधिक समय और श्रम लगता है। आज भी शिमला क्षेत्र के मन्दिरों और मकानों के फर्श कुल्हाड़े से काटे हुये मोटे-मोटे तख्तों के बने पाये जाते हैं। सम्भवतः उनीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जब अंग्रेजों ने जंगलों की पैमायश करके इन का प्रबन्ध अपने हाथ में लिया तब आरे का प्रवेश इन जंगलों में हुआ हो। यह तथ्य ठीक प्रतीत होता है कि इस क्षेत्र में पुराने समय से आरे का प्रचलन नहीं था। वैसे आरी शब्द बहुत प्राचीन है और इसका प्रयोग व्यापक था। पांचवीं सदी के शूद्रक कृत मृच्छकटिक नाटक में आरी यंत्र का उल्लेख स्पष्ट है। वसन्त सेना के घर पर चोर जब सेंध लगाते हैं तो वे आरी से लकड़ी काटने की बात करते हैं। सम्भवतः बड़े आरे का प्रचलन न हो। इसलिये फ्रेजर को यह भ्रान्ति हुई हो।

फ्रेजर जुब्बल क्षेत्र में—

चौपाल क्षेत्र पर मार्च में अंग्रेजों का अधिकार उस समय हो चुका था जब विलियम फ्रेजर थोड़े सैनिकों के साथ यहां आया था। चौपाल का किला उस स्थान पर था या उसके निकट ही था जहां अब वन विभाग का विश्राम-गृह है। चौपाल से अधिकांश सैनिकों को वापिस नाहन भेज कर फ्रेजर बन्धु रांवीं गढ़ की ओर गये। उनके साथ लगभग सौ अनियमित सैनिक थे। जुब्बल घाटी में स्थित धार गांव में

जुब्बल का राणा पूर्णचन्द फ्रेजर बन्धुओं को मिलने आया। उसने फ्रेजर को दो मुश्कनाफे और एक बकरा भेंट में दिया और फ्रेजर ने दो पशम के पट्टू देकर राणा को सम्मानित किया। राणा पूर्णचन्द एक साधारण नौजवान था। गोरखाओं ने उसे पद-च्युत किया हुआ था। सम्भवतः सन् १८११ से १८१५ तक का समय विपन्न अवस्था में उसने हाटकोटी के निकट साधारण से घर में बिताया और उसकी प्रजा ने उसका भरण-पोषण किया। उसके विपरीत वजीर डांगे बहुत चतुर और प्रभाव-शाली व्यक्ति था। वह जब फ्रेजर बन्धुओं को मिला तो उसके साथ सशस्त्र सैनिक थे और वह हिन्दोस्तानी वेश-भूषा में था। गोरखा राज्य-काल में डांगे अपने पद पर बना रहा क्योंकि समस्त जुब्बल क्षेत्र उसके प्रभाव में था। फ्रेजर के अनुसार डांगे वजीर चालाक और अवसरवादी था। युग धर्म के अनुरूप डांगे को ऐसा बनना पड़ा। धार गांव से विलियम फ्रेजर ने रांवींगढ़ के गोरखा किलेदार रणशूर थापा को पत्र भेजा कि वह आत्म-समर्पण करदे। फ्रेजर ने रणशूर को जैथक, मलौण और अन्य स्थानों में गोरखाओं की रण-स्थिति से परिचिय कराया और उसको प्रलोभन भी दिया कि यदि वह चाहे तो अंग्रेज सरकार उसको और उसके सैनिकों को जिनकी संख्या १६० थी, नौकरी में ले लेगी। रणशूर थापा ने अपने उत्तर में लिखा कि युद्ध की वर्तमान स्थिति जैसा आपने बताया मैं उस पर विश्वास करता हूं और निकट भविष्य में मुझे भी आत्म-समर्पण करना पड़ेगा। परन्तु अभी मेरे पास दो मास की खाद्य सामग्री है। तत्काल हथियार डालने का कोई औचित्य मुझे नजर नहीं आ रहा है। यदि मैं ऐसा करूं तो गोरखा राज्य के नमक के प्रति मेरा धोखा होगा। और यदि वर्तमान स्वामी को मैं धोखा दूं तो इस बात की क्या गारण्टी है कि आपकी नौकरी स्वीकार कर आपको धोखा न दूं। यह उत्तर गोरखा-सैनिक के सच्चे और निष्ठावान् चरित्र का ज्वलन्त उदाहरण है, जहां भी ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई वहां गोरखा सैनिकों ने गोरखा नमक और क्षत्राणी के दूध की लाज रखने की बात की है।

पत्थर दूर फेंकने वाली मशीन—

हाटकोटी के निकट रांवींगढ़ को घेरने के लिये जुब्बल बुशैहर और कुल्लू की सेनाएं एकत्रित थीं। बुशैहर के वजीर टिकमदास और बदरीदास भी वहां थे। लड़ाई में किसी प्रकार की तेजी नहीं थी। दोनों पक्ष बचाव के साथ लड़ रहे थे। टिकमदास ने फ्रेजर को बताया कि वे रामपुर से एक ऐसे व्यक्ति की प्रतीक्षा में हैं जो ऐसी मशीन बनाना जानता है जिसके द्वारा बड़े-बड़े पत्थर किले की दीवार को तोड़ने के लिये दूर से फेंके जा सकते हैं। यह मशीन बड़ी-बड़ी कड़ियों को मोटे रस्सों से बांध-कर बनाई जाती है। उनमें से एक पेड़ जैसी कड़ी को सौ-दो सौ आदमी पीछे खींच कर उसकी शक्ति से दो सौ मन तक के भारी पत्थर को लक्ष्य तक फेंक सकते हैं।

हुये नौजवान भी थक जाता था। उन्होंने सतलुज के किनारे कुछ लोगों को रेत धोकर सोना निकालते हुये देखा। परन्तु इससे उनकी दैनिक आय चार-पाँच आने से अधिक नहीं थी। नारकण्डा से आगे ठियोग की ओर गोरखाओं ने ६ से ८ फुट चौड़ी सड़क बनाई हुई थी। परन्तु यह सड़क आधुनिक हिन्दोस्तान-तिब्बत राजमार्ग से बहुत नीचे थी। नारकण्डा से यह सड़क नीचे उतरती थी और मंजी गांव होती हुई ठियोग में बिशनोग गाँव में निकलती थी। फ्रेजर के अनुसार यह सड़क हाटू के किले को राजगढ़ और नाहन से मिलाती थी। यह नैपालियों ने सेना के उपयोग के लिये बनाई थी। वे २४ व २५ मई १८१५ को ठियोग के विशनोग गांव में ठहरे। वहां उनकी टियोग के राणा से मुलाकात हुई। नैपाल सरकार को ठियोग-राज्य से ३४०० रुपये वार्षिक आय थी। राणा ने फ्रेजर को अपने पुत्र के विरुद्ध अभियोग लगाया कि वह मुझे मार कर राज्य पर अधिकार करना चाहता है। फ्रेजर उसकी दयनीय स्थिति पर सहानुभूति ही प्रकट कर सकता था। ठियोग से आगे फागू की पृष्ठभूमि में ऊंचा पहाड़ है। इसको आज भी 'देशों की धार' कहते हैं। यहां कदाचित् एक किला था और यहीं से रास्ता पूर्वोत्तर दिशा को उतरता था। रतेश परगाने के घर्लें गांव में उन्होंने एक सुन्दर नवनिर्मित देवी का मंदिर देखा। इस मंदिर का जीर्णोद्धार १६५ वर्ष बाद १९८० में हुआ। इसके निकट ही गरजड़ी नाम का किला था जिसका अब कोई पत्थर भी शेष नहीं रहा। यहां से पांच हजार फुट नीचे उतर कर गिरी नदी के किनारे रतेश की रानी अपने दो बच्चों को लेकर फ्रेजर को मिली और उसने शिकायत की कि उसकी प्रजा ने ही उसके पति की हत्या करदी है। उसने अपने बच्चों के रक्षार्थ प्रार्थना की। पर फ्रेजर क्या कर सकता था* ?

उत्तरी पथ की ओर—

दूसरी बार फ्रेजर बन्धु इस क्षेत्र से गुजरे; परन्तु अबकी बार उनका रास्ता भिन्न था। वे बुगेलु नाला से बलसन राज्य के साई गांव में निकले। दूसरे दिन २ जून को बलसन का ठाकुर उनको मिलने आया। वह पहाड़ी लिवास में था, पर उसका पाजामा धारीदार सूती कपड़े का था। सिर पर मुनाल की कलगी और

* कोट-रतेश एक छोटी-सी ठकुराई थी। पुराने जमाने में यह ठकुराई सिरमौर राज्य का उत्तरी भाग का केन्द्र था। १२५० ई० में राजा समर प्रकाश ने रतेश को जीता और उसको अपनी राजधानी बनाया। उसके उत्तराधिकारियों ने नीरी और गरजरी के किलों का निर्माण किया। राजा कर्मप्रकाश ने (१६१६-३०) रतेश-क्षेत्र को अपने छोटे भाई रायसिंह को दिया। रायसिंह के वंशधर रतेश के ठाकुर हुये। नैपाल-युद्ध के समय रतेश के ठाकुर जीतसिंह ने टियाली के देवी-मदिर में नौहल गांव के एक नवयुवक की एक साधारण सी धृष्टता के लिये हत्या करदी। उसके ग्राम-वासियों ने राणा जीतसिंह को कत्ल कर दिया। गोरखा युद्ध के बाद रतेश की कोई पैरवी अख्तरलोनी के पास नहीं हुई। परिणाम यह हुआ कि इसका इलाका बलसन और क्योंथल ने हड़प कर लिया। १८२९ ई० में बालिग होने पर रतेश के ठाकुर किशनसिंह ने क्योंथल से केवल चार गांव प्राप्त किये।

सोने का सुन्दर मुकुट था एवं हाथों में चान्दी के कड़े थे और कानों में सोने के कुण्डल थे। कड़े और कुण्डल धारण करने का तत्र अप्रथम रिवाज था। राणा के साथ उसके अंग-रक्षक धनुष-बाण और तलवार आदि से सुसज्जित थे। अगले दिन वे चुड़ैल टिबा (महासू की धार) होते हुये कोटखाई पहुंचे। कोटखाई का ठाकुर डण्डी में बैठ कर उनको मिलने आया। उसके साथ पचास अंग रक्षक भी थे।* उसने शिकायत की कि पुन्नरनिवासी प्राय: उसके इलाके को लूटते हैं, पर वास्तविकता यह थी कि अवसर पड़ने पर कोटखाई के लोग भी उनको लूटते थे। उस युग में प्राय: ऐसा होता था। कोई भी क्षेत्र अपने आपको निर्दोष नहीं कह सकता था। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय कोटखाई से खड़ापत्थर जाने का मार्ग उस क्षेत्र से जाता था जहां अब मोटर की सड़क बनी है, तब दरकोटी का प्रचलित नाम शिली था; कदाचिद् इसलिये कि यहां धूप कम आती थी। यह सारा पर्वत-पार्श्व उत्तराभिमुख है। दरकोटी ठाकुर का वर्तमान निवास-स्थान तब तक नहीं बना था। फ्रेजर का कथन है कि ठाकुर का महल नीचे नाले में था।

ऊपर धार पर खड़ा पत्थर नाम से ऊंची पत्थर की शिला तब विद्यमान थी। फ्रेजर के अनुसार यह शिला ९ से १० फुट ऊंची और २ फुट चौड़ी होगी और चार से पांच इंच मोटी। इस पर लोग कुल्हाड़ी आदि औजार तेज करते थे और तब भी इस शिला पर तेज औजार से कटने के निशान थे। स्थानीय लोगों का विश्वास है कि नेपालियों ने अपनी विजय के उपलक्ष्य में इस शिला को स्थापित किया हो। परन्तु यह सत्य नहीं है। तब लोगों ने फ्रेजर को बताया कि सिखों ने इस शिला को स्थापित किया था। परन्तु इस क्षेत्र में सिख विजेता कभी नहीं आये। इस स्थान का लोक-प्रचलित नाम 'ओडी' है। ओडी या ओडा पहाड़ी भाषा में खेतों के मध्य दो हकदारों के बीच की सीमा-रेखा होती है। खेत के बीच सीमान्त-रेखा को व्यक्त करने वाला पत्थर या अन्य चिन्ह 'ओडा' कहलाता है, यह पत्थर की शिला शिलो (दरकोटी) और जुब्बल राज्य की सीमा पर गाड़ा गया है। अत: उक्त दो राज्यों का 'ओडा' प्रतीत होता है। ओडी नाम से यही ध्वनि निकली है।

---

* कोटखाई ठकुराई में कोटगढ़ क्षेत्र भी सम्मिलित था। पर कोटखाई से दूर होने से ठाकुर उस क्षेत्र का ठीक प्रबन्ध नहीं कर पा रहा था। अत: सन १७६० के लगभग कोटखाई के ठाकुर ने कोटगढ़ क्षेत्र को कुल्लू को इस शर्त पर दे दिया था कि वह ठाकुर की ओर से उस इलाके का प्रबन्ध चलाये। परन्तु कुल्लू ने कुछ वर्षों में उस क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लिया। सन् १७७१ के आस-पास बुशैहर और कुमार सेन ने मिलकर कोटगढ़ क्षेत्र पर आक्रमण किया और लड़ाई में कुल्लू का राजा मारा गया। बुशैहरियों को इस शर्त पर राजा के शव को अन्तिम संस्कार के लिये देना स्वीकार किया कि कोटगढ़ का इलाका बुशैहर को दे दिया जाय। कुल्लू को यह शर्त माननी पड़ी। तब से सन् १८११ तक यह क्षेत्र बुशैहर के पास रहा। सन् १८१५ में अंग्रेजों ने कोटगढ़ में छावनी कायम की और इलाका अपने अधीन रखा। कोटखाई की शेष ठकुराई १८२८ ई० में अंग्रेजों के शासन में आई क्योंकि तत्कालीन ठाकुर भवानीसिंह झगड़ालू और निर्दयी स्वभाव का था। उसके अत्याचारों के कारण लोग उसके विरुद्ध हो गये। विवश होकर १८२८ में उसने अपनी ठकुराई अंग्रेजों के हवाले कर दी। इसके बदले उसको १३०० रुपये वार्षिक पेंशन मिली।

खड़ा पत्थर से आगे ८ मील पर वे खनेटी के जाशला गांव में गये जहां उन्होंने लोहे के पिघलाने की भट्टियां देखीं। यहां पानी के स्त्रो से कीचड़ के साथ लोहा निकलता था जिसको लोग लकड़ी के तसलों में पानी से साफ करते थे। इस गांव में खनेटी और दरकोटी के ठाकुर शिष्टाचार के नाते फ्रेजर को मिलने आये। खनेटी के ठाकुर ने हंसते-हंसते विनोद-भाव से कहा - 'मुझे तो सब लूटते हैं; पर क्या किया जाय ?' दरकोटी का ठाकुर बड़ी निरसता से अपने दुःख सुनाता रहा। कोटखाई क्षेत्र में कई स्थानों पर लोहा पिघलाने की भट्टियां थीं।* इन से लोहे की स्थानीय आवश्यकता तो पूरी होती थी ; कुछ लोहा बाहर भी जाता था।

वहां फ्रेजर बन्धु बहाली होते हुये नोगड़ी में सतलुज के किनारे ३००० फुट तक उतर आये। जून की भीषण गर्मी में वे इस मार्ग से रामपुर जा रहे थे। उस समय रामपुर नगर में प्रवेश करने का आधुनिक सीधा रास्ता नहीं था। जहां अब सार्वजनिक विश्राम गृह है वहां से ऊपर चढ़ना पड़ता था और फिर वर्तमान स्कूल के मैदान में उतरना पड़ता था। स्कूल ने इस मार्ग को बन्द करने का भरसक प्रयत्न किया ; परन्तु सदियों पुराना सार्वजनिक मार्ग कैसे बन्द हो जाता ?

गोरखा नमक का प्रतिकार —

ठियोग के निकट बिशनोग गांव का एक प्रसंग उल्लेखनीय है। फ्रेजर बन्धु जब इस गांव में ठहरे थे तो अपने शिविर से नीचे सड़क पर उन्होंने गोरखा सैनिकों की एक पंक्ति देखी। बुशैहर के सैनिक कीर्ति राणा और अन्य गोरखा सरदारों और सैनिकों को अखतरलोनी के शिविर को ले जा रहे थे। फ्रेजर बन्धुओं ने कीर्तिराणा और अन्य सरदारों को अपने शिविर में बुलाया। कीर्तिराणा नेपाल में हुये पलपा के राजवंश का सरदार था। उसकी आयु ६५ वर्ष की थी और वह लंगड़ाते हुए चल रहा था। वह १३ वर्षों से पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में सेना-नायक था। यह पूछने पर कि क्यों ऐसी वृद्धावस्था में उसने अपने देश को छोड़ा, कीर्ति राणा ने बड़े प्रभावशाली ढंग से उत्तर दिया, हमारे राजा ने मुझको यहां भेजा है। वह मेरा स्वामी है। वह किसी को आज्ञा देता है, गढ़वाल जाओ, किसी को काश्मीर जाने को कहता है या किसी अन्य स्थान को। हम तो राजा के गुलाम हैं और उसकी आज्ञा का पालन करना ही हमारा धर्म है।" फ्रेजर का कहना है कि जिस प्रभाव और जिस ओजस्विता से उसने ये शब्द कहे उससे गोरखा जाति की राज-भक्ति की अद्वितीय मिसाल स्पष्ट होती है। सरदारों में एक और प्रभावशाली व्यक्ति था।

---

* कर्नल वेस की १८८१-८२ की जंगलात की रिपोर्ट के अनुसार उस समय कोटखाई में लोहा साफ करने की २५ भट्टियां थीं। इनमें कैल की लकड़ी जलाई जाती थी। इससे वनों की बहुत हानि हो रही थी। कर्नल वेस ने प्रत्येक भट्टी के लिये पेड़ों की संख्या निश्चित करदी और नई भट्टियां खोलने पर पाबन्दी लगा दी। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक सब भट्टियां बन्द हो गई क्योंकि इंगलेण्ड से आयातित लोहा सस्ता और सुलभ था।

असाधारण रूप से ऊंचा, काला चोगा पहने और ढाल और खुखरी धारण किये था। उसने अपने आपको काजी अमरसिंह थापा का चाचा बताया। जब उसको पूछा गया कि क्या वह अपने देश वापिस जावेगा, तो उसने जोर देकर उत्तर दिया, नहीं कदापि नहीं। हम राजा को अपना मुंह दिखाने योग्य नहीं हैं। मैने नेपाल के राजा का नमक खाया है, मुझे राजा ने विश्वास करके यहां भेजा था, परन्तु मैंने उस नमक की लाज नहीं रखी और नाही उस विश्वास को निभाया। मुझे लड़ते-लड़ते अपने प्राण देने थे। पर मैं ऐसा न कर सका। अब किस मुंह से राजा के पास जाऊं? मुझे अन्यत्र नौकरी की तलाश करनी होगी।' अन्य सरदारों ने भी उसकी स्वीकारोक्ति में अपने-अपने सिर हिलाये। राज-भक्ति और कर्तव्य-निष्ठा का भाव गोरखा सरदारों और सैनिकों में कूट-कूट कर भरा हुआ था। लड़ते-लड़ते मर जाना वे अपना परम धर्म और कर्तव्य समझते थे। यह बात कुछ पत्रों से जो गोरखा सैनिकों ने इस सम्बन्ध में लिखे और जिनको अंग्रेजों के जासूसों ने हस्तगत किया और भी स्पष्ट होती है। कुछ गोरखा सैनिक अखतरलोनी के शिविर में चले गये थे। उन्होंने अपने साथियों को अंग्रेजों के पक्ष में मिलाने को पत्र लिखे। ऐसे पत्र के उत्तर में गौरीशाह नाम के सरदार ने लिखा :—'तुमने जो लिखा उसको मैंने समझ लिया × × × मैंने गोरखा राज का नमक खाया है। यदि इस नमक का ऋण नहीं चुकाया गया तो अगले जन्म में मैं कहीं का नहीं रहूंगा। मुझे एक राजपूत महिला ने जन्म दिया है और उसकी भुजाओं में मैं पला हूं। धोखा देकर लम्बा जीवन निरर्थक है। तुम लिखते हो कि २५०० रुपये के लिये मैं किले को सम्भाले हूं। धन का कोई मूल्य नहीं। मैंने गोरखाओं का नमक खाया है और पानी पिया है। यदि इस ऋण को चुका सकूं तो मरने पर मुझे प्रसन्नता होगी। × × ×" दूसरी बार उसने जब गौरीशाह को लिखा तो गौरीशाह ने इन शब्दों में उसको उत्तर भेजा :—"मैं पहले उत्तर दे चुका हूं और सौ बार यही उत्तर दूंगा। अब जब तक जैथक और राजगढ़ का पतन नहीं हो जाता तब तक मै गोला-बारूद से तुमको उत्तर दूंगा। वे मेरे पास पर्याप्त मात्रा में हैं × ×" लालशाही और कृष्ण नाम के सिपाही अखतरलोनी के शिविर में थे। उनको एक गोरखा सैनिक ने लिखा :—"तुम लिखते हो कि मैं राजा का लड़का हूं जिसके परिवार को गोरखाओं ने नष्ट किया। मुझे किले की रक्षा करना शोभा नहीं देता। तुमको मेरा उत्तर यह है; मैं राजपूत की सन्तान हूं। मैंने उनका नमक खाया है। मैं अपने परिवार और अपने नाम को कलंकित नहीं करूंगा। तुम सोचते हो कि तुम मुझ को जिन्दा पाओगे। तुम्हारी भूल है। तुम मेरा मृत शरीर पाओगे। मैंने राजपूत कुल में जन्म लिया है। अत: मैं युद्ध में मरने को तैयार हूं और इससे मुझे अगला सुखी जीवन मिलेगा × ×" ये उद्गार साधारणत: सभी गोरखा सरदारों और सैनिकों के भावों का प्रतिनिधित्व करते हैं। सभी बड़े-बड़े गोरखा सरदारों को जैसे ब्रह्मशाह, अमरसिंह थापा, परोक्ष रूप से अंग्रेजों ने प्रलोभन देने का प्रयास किया; परन्तु उनकी दृष्टि में राज़-भक्ति और देश-भक्ति के सामने में यह प्रलोभन हेय थे और वे अपने कर्तव्य-पथ पर आडिग् रहे।

बुशैहर में गोरखा आतंक —

रामपुर समेत सभी उत्तरी क्षेत्र में गोरखे सन् १८११ में आये। उस समय से एक वर्ष पूर्व सन् १८१० में बुशैहर के शासक राजा उग्रसिंह का निधन हुआ था। इसकी स्थिति डांवाडोल थी। सन् १८११ में अचानक नेपाली रामपुर में पहुंचे और अपनी युद्ध-नीति के अनुरूप उन्होंने आतङ्क फैलाने के लिये लूट-मार की। कई लोग आत्म रक्षा के लिये नदी पार कुल्लू क्षेत्र में चले गये और कुछ इधर-उधर भाग गये। राजा महेन्द्रसिंह तब केवल चार-पांच साल का बालक था। उसके अभिभावक उसको लेकर कनौर चले गये। रामपुर नगर प्रायः अरक्षित था। गोरखा सैनिकों ने नगर को बुरी तरह तहस-नहस किया। महलों में राज्य का पूरा रिकार्ड भी जला दिया। ऐसा विवरण अंग्रेजों ने गोरखा आक्रमण के बारे लिखा है। इसकी सच्चाई को प्रमाणित करने का और कोई भी साधन नहीं है। जब फ्रेजर बन्धु जून, १८१५ में रामपुर गये तो रामपुर लगभग निर्जन और उजाड़ था। दुकानें उजड़ी और जली हुई थीं। कुछ निर्धन वणिये अपनी दुकानों को सम्भाले हुये थे। रामपुर नगर में महादेव, नृसिंह, गणेश, हनुमान आदि कई देवताओं के मन्दिर थे। उनमें कई वैरागी, साधु-सन्यासी और गुसांई थे। गोरखा धर्म-भीरु लोग थे। अतः साधु-सन्यासियों और मन्दिरों के प्रति उनका व्यवहार श्रद्धापूर्ण होता था। मन्दिरों के भरण-पोषण के लिये कई गांवों का वे दान देते थे। गढ़वाल में मंदिरों के नाम पर कई गोरखा सरदारों ने ताम्र-पत्र प्रदान किये। रामपुर में आरम्भ में गोरखाओं ने प्रबल आतङ्क फैलाया। एक विवरण के अनुसार संघर्ष के अन्त में बुशैहर के वजीरों और गोरखा अधिकारियों के मध्य एक समझौता हुआ जिसके अनुसार सतलुज पार का क्षेत्र बुशैहर के अल्पवयस्क राजा के लिये छोड़ दिया गया और शेष भाग गोरखाओं के शासन में रहा। इस बंटवारे में राजा को मुख्यतः कनौर का क्षेत्र मिला—सम्भवतः बांगतू से आगे सतलुज के आर-पार का सारा क्षेत्र। इस समझौते के बाद ही बुशैहर के वजीर टिकमदास और बदरीदास अमरसिंह थापा के प्रमुख सेना नायक बने। १८१५ के अप्रैल मास में इन वजीरों ने गोरखाओं का साथ छोड़ा और अंग्रेजों के पक्ष में आ गये। गोरखा सेना का बांगतू से आगे जाने और चौगांव (ठौलङ्ग) के निकट मुटभेड़ होने की बात भी मनघडंत प्रतीत होती है। भावी राजा महेन्द्रसिंह सन् १८१५ के आरम्भिक महीनों तक कामरु के किले में रहा और कनौर की आय पर उसको पूरा अधिकार था। यदि ऐसा समझौता न होता तो बुशैहर के वजीरों का अमरसिंह थापा के सेना में विश्वास पात्र सेना नायकों के रूप में रहना सम्भव नहीं था और नाही कनौर क्षेत्र पर अधिकार करना गोरखाओं के लिये कठिन था।

बुशैहर राज्य में कनौरों का प्रभुत्व—

फ्रेजर के अनुसार बुशैहर राज्य में कनौरों का प्रभुत्व था। वे राज्य के विश्वासपात्र अधिकारी और सैनिक एवं व्यापारी थे। लोगों का कनौरे व्यापारियों

पर बहुत विश्वास था। वे कनौरे व्यापारियों को धन देते और तिब्बत से अभीष्ट वस्तुएं मंगाते। व्यापारी बिना लाभ लिये लोगों के लिये इन वस्तुओं को लाते। कनौरे इमानदारी के लिये प्रसिद्ध थे। बुशैहर का राजवंश मूलतः कनौरा था जैसा कि पहले उल्लेख किया गया; उनका राज व्यवस्था में प्रभुत्व होना स्वाभाविक था। तत्कालीन नाना प्रकार के राज्य के कर (करदाहा) के नाम भी कनौरी मूल के प्रतीत होते हैं जैसे 'खोर' चुली के तेल का कर, बटलोही एक प्रकार की शराब, 'सरख'—घोड़ों के लिये कर, चोलम—राजा के कपड़ों के लिये कर, हत नंग—हाथी के लिये कर आदि-आदि, ये सभी नाम कनौरी मूल अथवा कनौरी प्रभाव के शब्द हैं। बुशैहर राज्य में चार वजीर परिवार थे और वे चारों कनौर निवासी थे। गोरखा शासक बुशैहर राज्य से ८०,००० रुपये का कर वसूल करते थे। इसके अधीनस्थ राज्य जैसे देलट, कुरांगुलू, कोटगढ़, भरोली, बलसन, ठियोग और और डोडराक्वार इसके अतिरिक्त थे, बुशैहर की सैन्य शक्ति तीन हजार सैनिक थे। इनमें से एक हजार के पास तत्कालीन टोपीदार बन्दूकें थीं और शेष धनुषवाण, खड्ग, तलवार आदि से लड़ते थे। परन्तु ये पेशेवर सिपाही नहीं थे। आम जमींदार समय पड़ने पर सिपाही का काम करते थे। पहाड़ के सभी राज्यों में यही स्थिति थी।

लकड़ी के प्याले और मृतकों की समाधियां—

फ्रेजर बन्धु सरहान तक गये। सरहान जाने का मार्ग तब हिन्दोस्तान-तिब्बत रोड नहीं था। ऐसा प्रतीत होता है सरहान जाने का प्रचलित मार्ग सुंगरी बहाली होते हुये था। रामपुर से सीधे ऊपर पहाड़ पर चढ़ना पड़ता था और ऊपर पहुंचना पड़ता था। फ्रेजर बन्धु इसी मार्ग से सरहान गये। बहाली के किले के सम्बन्ध में उसने लिखा है कि इस किले में दो चार दीवारियां हैं। अन्दर के भाग में गोला-बारूद रखा जाता है और बाहर के भाग में सिपाही रहते हैं। पानी का संग्रह करने के लिये बड़े-बड़े पेड़ों के तनों को खोद कर गहरा किया हुआ है। उनमें पानी रखा जाता है। किले के निकट पानी का कोई स्रोत नहीं हैं। सुंगरी पर्वत शृंखला से उतरने पर कुन्नू नाला में फ्रेजर ने बुरांस की लकड़ी के प्याले खराद पर बनते हुये देखे। खराद पानी से चलता था। बुशैहर में इस प्रकार के प्याले बनाने का उल्लेख मूरक्रॉफ्ट ने भी किया है। उसके अनुसार ये प्याले चीन भेजे जाते थे। वहां इन प्यालों को चान्दी या पीतल की परत का किनारा लगाकर सजाया जाता था और इनकी वहां बहुत कदर थी। बुशैहर से प्रति वर्ष कई हजार प्याले तिब्बत और चीन को भेजे जाते थे। पहाड़ों पर चढ़ते हुये इस मार्ग में उसने मृतकों के जलाने का उल्लेख भी किया है। फ्रेजर का कथन है कि उस क्षेत्र में लोग मृतकों को पहाड़ों के ऊपर ले जा कर जलाते थे। और उस स्थान पर मृतकों की स्मृति में पत्थरों का चबूतरा-सा बनाते हैं। उस पर चीथड़ों की झण्डियां खड़ी करते हैं। अभी भी कई स्थानों पर पहाड़ों के ऊपर ऐसे चबूतरे मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि फ्रेजर की यात्रा के समय तक शवों को पहाड़ों के ऊपर जलाने की प्रथा प्रचलित थी

मृतकों के नाम पर पत्थरों की स्थापना समस्त पश्चिमी हिमालय क्षेत्र एवं गढ़वाल में व्यापक रूप से प्रचालित थी और अभी तक कई स्थानों में प्रचलित है। कांगड़ा क्षेत्र में ऐसे स्थान जहां पितरों के नाम पर पत्थर स्थापित किये जाते हैं, उनको 'देव-कुल' कहते हैं और गढ़वाल में 'पितृ कुल' या पितर कुड़ा(घर) कहते हैं। राजा और सामन्तों के नाम पर उत्कीर्ण पत्थर स्थापित किये जाते थे जैसे कुल्लू और मंडी के 'बरसेले' या सती-स्तम्भ। लेकिन अब पहाड़ों के ऊपर मृतकों को जलाने का रिवाज समाप्त प्रायः हो चुका है। अब मुर्दघाट गांव के आस-पास नदी के किनारे अथवा जल-स्रोत के पास होते हैं।

नेपालियों की शकल से भी भय —

फ्रेजर बन्धुओं का सरहान जाने का ध्येय टीका महेन्द्रसिंह को देखने का था। उस समय स्वर्गीय राजा उग्रसिंह की दो विधवा रानियां और बालक महेन्द्रसिंह सरहान में ठहरे थे। महेन्द्रसिंह की आयु उस समय आठ वर्ष से अधिक न थी। ये दोनों रानियां राजा उग्रसिंह की चिता पर सती नहीं हुईं। संभव है कि बालक महेन्द्रसिंह के पालन-पोषण के लिये इन का जीवन बचाया गया हो। वैसे राजा की चिता पर २२ व्यक्तियों ने जल कर अपना बलिदान दिया था। जिन में १२ स्त्रियां १० पुरुष थे। महेन्द्रसिंह की मां धामी राजवंश की थी और दूसरी सिरमौर के राजवंश की। जब फ्रेजर बन्धुओं ने बालक महेन्द्रसिंह को अपने शिविर में बुलाया तो रानियों ने आग्रह किया किया कि बालक के वहां आने पर गोरखा सिपाही वहां नहीं होने चाहिये। इससे पता चलता है कि बुशैहर के लोग और राजवंश के सदस्य गोरखाओं से कितने आतंकित थे। फ्रेजर बन्धुओं के साथ कुछ गोरखा सैनिक उनके अंगरक्षक के रूप में थे।

दास-प्रथा

फ्रेजर का कहना है कि अंगूर से कनौरे दो प्रकार की शराब बनाते हैं। प्रथम श्रेणी के पेय को सीही (सम्भवतः शुदंग) कहते हैं। इसको उच्च वर्ग के लोग पीते हैं। दूसरी प्रकार का पेय गले हुये शेष खमीर में गर्म पानी डाल कर बनाया जाता है। इसको आम लोग पीते हैं। यह एक प्रकार की बीयर होती थी। भाप से मदिरा बनाने की प्रक्रिया से वहां के लोग परिचित थे या नहीं, इसका फ्रेजर को सुनिश्चित ज्ञान नहीं था। यद्यपि मदिरा कशीदने की कला भारत में बहुत प्राचीन थी, इन दूरस्थ क्षेत्रों के लोग सम्भवतः उस समय तक परिचित न हों।

अपने यात्रा विवरण में फ्रेजर ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि पहाड़ी क्षेत्रों में दास-प्रथा प्रचलित थी; विशेषतः इस रूप में कि लोग धन-प्राप्ति के लिये अपने बच्चों को, लड़के और लड़कियों को दास-क्रेताओं के हाथ बचते थे। परन्तु उसकी यह मिथ्या धारणा थी। उसने यहां तक लिखा कि लोग एक से अधिक पत्नियां इसलिये रखते हैं कि उनकी अधिक सन्तान हो और जैसे पशुओं की वृद्धि से,

गाय, बकरी भेड़ आदि से आय होती है वैसे ही सन्तान को बेचने से धनोपर्जन होता है। परन्तु यह सर्वथा निराधार और असत्य है। उसकी यह धारणा कि पहाड़ के लोग मैदान-वासियों के हाथ पहाड़ की लड़कियों और लड़कों को उनकी आयु, शरीरिक सौन्दर्य और स्वास्थ्य के अनुसार सौ से दो-ढाई सौ रुपये तक बेचते थे मिथ्या है। पहाड़ में कहीं कोई ऐसा व्यापारिक केन्द्र और मंडी नहीं थी। यह ठीक है कि पुराने सामन्तशाही समाज में ऋण और उसके व्याज के बदले ऋणी व्यक्ति को स्वयं अथवा अपनी सन्तान को ऋण-दाता का बन्धवा सेवक बनना पड़ता था। यह प्रथा नैपाल से काश्मीर तक समस्त पर्वतीय क्षेत्र में प्रचलित थी। बुशैहर में भी यह प्रथा थी। राज्य के बड़े-बड़े अधिकारी, वजीर और अन्य सम्पन्न लोग लेन-देन का कारोबार करते थे और इसमें ऋणी का सर्वस्व तक हर लेते थे। गढ़वाल में गोरखाओं ने लोगों पर बहुत अन्याय और अत्याचार किये। उन पर भारी कर लगाया और जो नहीं दे सकता था, उसके परिवार या सन्तान को गुलाम बना कर बेचा। सन् १८०३ से १८१४ ग्यारह-बारह वर्षों में फ्रेजर के अनुमान के अनुसार दो लाख के लगभग गढ़वालियों को दास और दासियों के रूप में हरिद्वार में हरि की पौड़ियों पर जहां इस काम के लिये एक गोरखा चोकी थी, बेचे गये। गढ़वाल विशेष रूप से गोरखा सैनिक शासकों का कोपभाजन रहा क्योंकि उन्होंने इनका निरन्तर विरोध किया। परिणामत: गोरखा सैनिकों ने बर्बरता के साथ गढ़वाल पर शासन किया। गढ़वाल में अभी भी अन्याय, अनाचार व अत्याचार के लिये 'गोरखाणी' शब्द प्रयुक्त होता है, वहां गोरखा शासन अन्याय और क्रूरता का पर्याय माना जाता है। यमुना से इस पार के क्षेत्र में, विशेषत: शिमला क्षेत्र में गोरखा शासन १८११ से १८१४ तक ही रहा। इस अल्प अवधि में वे अपनी स्थिति सम्भालने में ही व्यस्त रहे। छोटे-छोटे अपराधों के लिये गोरखा शासकों ने गढ़वाल में 'नाना प्रकार के दाण्ड' (दण्ड) का आविष्कार किया हुआ था। 'दण्ड' न देने पर दासता में बन्धना पड़ता था। दुर्भाग्य से सन् १७९१-९२ के गोरखा आक्रमण के बाद गढ़वाल में १७९४-९५ में एक भयङ्कर अन्न-काल पड़ा। इससे हजारों लोग भूख से मर गये। जैसा कि उस जमाने में अन्नकाल के समय प्राय: होता था। ऐसे संकट के समय बच्चों तक को बेच दिया जाता था—बिके हुये बच्चों और परिवार में रहे अन्य बच्चों और बाकी लोगों की प्राण-रक्षा होती थी। यह कार्य अस्वाभाविक होते हुये भी प्राण रक्षा के लिये अनिवार्य जैसा था। ऐसा इतिहास में कई बार हुआ। शाहजहां के राज्यारोहण के तीसरे-चौथे वर्ष १६३१-३२ में दक्षिण और गुजरात में भीषण अकाल पड़ा जिसमें लोगों ने अपने बच्चे तक बेच डाले। शाहजहां ने एक फरमान के द्वारा शाही खजाने से ऐसे बच्चों का मूल्य चुकाया था। मुसलमान बच्चों को उनके माता-पिता को वापिस दे दिया और हिन्दु बालकों को मुसलमान बनाकर अनाथालयों में रखा गया। शाहजहां अकबर और जहांगीर की भान्ति उदार नहीं था। गढ़वाल में फ्रेजर ने बच्चों को बेचने बात सुनी होगी। ऐसी घटनाएं सन्

१७६४-६५ के अन्नकाल के समय हुई होंगी ; परन्तु साधारण स्थिति में बच्चों का क्रय-विक्रय कभी नहीं होता था । बुशैहर और अन्य राज्यों में इस प्रकार के व्यापार की कोई परम्परा कभी नहीं रही, अन्नकाल का समय अपवाद रूप था । संकट-काल में कष्ट-प्रद होते हुये भी प्राणरक्षा के लिये बच्चों को बेच दिया जाता था । यह अमानवीय व्यापार, चरम सीमा के संकट के समय पहाड़, मैदान, सर्वत्र और सभी युगों में होता रहा ।

खाई के अनपढ़ मार्कसवादी—

रामपुर और सरहान की यात्रा के पश्चात् फ्रेजर बन्धु त्यूणी होते हुये उत्तर काशी और अन्ततः देहरादून गये । राजनैतिक अधिकारी विलियम फ्रेजर को देहरादून से गढ़वाल के राजा सुदर्शन शाह को गढ़वाल ले जाना था । वह पहले देहरादून पहुँचा और उसका भाई जे० बी० फ्रेजर कुछ दिनों के पश्चात् । उसने गंगोत्री की तीर्थ यात्रा भी की । हर्षिल से आगे खाई क्षेत्र के बारे में फ्रेजर ने एक रोचक घटना का उल्लेख किया है, २३ जुलाई १८१५ को जे०बी० फ्रेजर का दल धुराली नाम के गांव में गया । परन्तु उस दिन उस गाँव में कोई भी पुरुष नहीं था । पूछने पर पता चला कि सब पुरुष वहां से कुछ दूर कठूर पट्टी में लूट-पाट करने गये हुये हैं । दूसरे दिन सुबह के समय उसके दल को ये लोग चार-पाँच सौ भेड़-बकरियों को लूट कर लाते हुये मार्ग में मिले । वहाँ से कुछ आगे जाने पर उनको लगभग सशस्त्र सौ आदमियों का एक और दल मिला । इनके पास तलवारें, धनुष-बाण और कुल्हाड़ियां थीं । मालूम हुआ कि ये लोग रैथल नामक गांव से आये थे और इनका लक्ष्य धुराली गांव के लुटेरों को लूटना था—इनको कदाचित यह सूचना मिली थी कि धुराली निवासी कठूर पट्टी को लूटने गये हुये हैं । ये घात लगाकर उनको लूटना चाहते थे, परन्तु फ्रेजर के दल ने उनको बताया कि धुराली के लोग लूट का माल लेकर अपने स्थान को चले गये हैं । अतः अब उनका प्रयास विफल था । फ्रेजर ने उनसे पूछा कि तुम को सरकार का भय नहीं है ? ऐसा अपराध करने पर उनको फांसी की सजा मिल सकती है । तो उनमें से एक वाचाल ने उत्तर दिया, सरकार जैसा चाहे वैसा करे, पर हम क्या करें ? हमारे पास खाने को कुछ नहीं है । हम उन से छीन कर खाते हैं जिनके पास खाने को है । हम भूखे नहीं मर सकते हैं । फ्रेजर उनके इस उत्तर को पुरातन पन्थी-विचार-धारा मानता है । परन्तु वह यह नहीं जानता था कि इस घटना के तीस-चालीस वर्ष बाद योरुप में मार्कसवादी विचार धारा ने खाई के अनपढ़ लुटेरों के ही तर्क जैसा एक विश्व जनीन दर्शन को जन्म दिया था । धनी (हैव) और गरीब (हैव नौटस्) के अन्तर के मूल की विशद व्याख्या इस नये दर्शन ने की । पर उक्त प्रसंग से यहां इतना कह देना पर्याप्त होगा कि यह युग लूट-मार का था । जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा तब सर्वत्र ही दांव पर लगी होती थी और लोग इस प्रकार के जीवन के अभ्यस्त थे ।

१४. संघर्ष विदेशी पर्यटकों की दृष्टि में तत्कालीन जीवन की झलक

(iii) बैरन चार्लस ह्यूगल

ह्यूगल की बिलासपुर के राजा महाचन्द से मुलाकात :—

बैरन ह्यूगल जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट होता है, जर्मनी के एक सामन्त परिवार से सम्बद्ध था। यह नवयुवक पर्यटन के ध्येय से भारत में आया था। सन्

बैरन चार्लस ह्यूगल

१८३५ में यह पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में पहुंचा। इसने पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में शिमला से अपनी यात्रा आरम्भ की और जम्मू होता हुआ वह श्रीनगर, काश्मीर गया। इसके यात्रा विवरण में मुख्यत: काश्मीर और पंजाब के जीवन का दिग्दर्शन होता है। वर्तमान हिमाचल प्रदेश के जिस भाग से वह गुजरा उसका भी ह्यूगल ने थोड़ा उल्लेख किया है, वह शिमला से बिलासपुर आया। उस समय शिमला की तीस छोटी-छोटी रियासतों का राजनैतिक अधिकारी मेजर कनेडी था। उसने ह्यूगल के आने की सूचना बिलासपुर राज्य के अधिकारियों को भेज दी थी

और यह आदेश भेजा था कि बैरन ह्यूगेल को यात्रा की सब सुविधाएं प्रदान की जाएँ। फलत: बिलासपुर पहुंचने पर उसने देखा कि राज-महल के बागीचे में उसके ठहरने के लिये एक सुन्दर तम्बू लगा है। उस समय बिलासपुर का शासक राजा महाचन्द था जो नाना प्रकार के व्यसनों का शिकार होने से शारीरिक और मानसिक दृष्टि से सर्वथा पंगु और अयोग्य था। १८२० में विलियम मूरक्रॉफ्ट बिलासपुर आया था। उसने भी अपने यात्रा विवरण में महाचन्द के मन्द बुद्धि और व्यसनी होने के सम्बन्ध में लिखा है। ह्यूगल का कहना है कि बिलासपुर पंहुचने के थोड़ी देर बाद राजा महाचन्द अपने दरबारियों समेत उसके तम्बू में शिष्टाचार प्रदर्शित करने आया। ह्यूगल ने इस साक्षात्कार का रोचक वर्णन किया है। उसके कथन के अनुसार इस क्षेत्र के राजाओं में महाचन्द अत्यन्त अज्ञानी और शिष्टाचार-हीन राजा था। उसके दरबारियों में दो बंगाली थे जो थोड़ी अंग्रेजी जानते थे। परन्तु वे भी राजा की भान्ति असंस्कृत थे। शराब और अफीम के अत्यधिक प्रयोग ने उसकी सूझ-बूझ और बुद्धि को नष्ट कर दिया था। राजा महाचन्द की आयु चालीस वर्ष के लगभग थी। जब मनुष्य की बुद्धि और समझ परिपक्व हो जाती हैं, परन्तु रात-दिन मदिरा और अफीम के निरन्तर प्रयोग ने उसके स्वास्थ्य और बुद्धि का ह्रास कर दिया था— उसके नेत्र अभिव्यक्ति-हीन थे और आधा मुंह हर समय खुला रहता था राजा ने दरबारियों की सहायता से इस प्रकार कुछ प्रश्न ह्यूगल से किये : —

"आप क्षेम कुशल तो हैं ?"
"आप को मिलकर मैं बहुत प्रसन्न हूं।"
"आपकी क्या आयु है ?"
आयु की जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् अगला प्रश्न यूं था,
"आपकी कितनी पत्नियाँ हैं ?"
"मैं अभी अविवाहित हूं ?"

इस के उपरान्त बात-चीत समाप्त प्राय: हो जाती है। यदि विदेशी कोई प्रश्न पूछता था तो राजा उत्तर के लिये अपने दरबारियों का मुंह देखता था। और काफी देर परामर्श करने के बाद वह कोई उत्तर देने में समर्थ होता था। यह ठीक है कि पाश्चात्य शिष्टाचार के अनुसार किसी व्यक्ति को उसकी आयु और पत्नी के बारे में पूछना अशिष्टता मानी जाती है, परन्तु भारत में ऐसे प्रश्न पूछना इतना बुरा नहीं समझा जाता था। ह्यूगल की भर्त्सना भारतीय शिष्टाचार के नियमों से अनभिज्ञ होने से उचित नहीं है। पर राजा महाचन्द की शिक्षा-दीक्षा नहीं के बराबर थी और छोटी आयु से ही वह व्यसनों में फंस गया था। फलत: उसकी बुद्धि और मानसिक विकास कुंठित हो चुका था और वह राजाओं जैसा व्यवहार और शिष्टाचार प्रदर्शित करने में असमर्थ था। शिष्टाचार के अनुसार ह्यूगल को राजा को मिलने महल में जाना था, परन्तु पहली मुलाकात से ही ह्यूगल इतना क्षुब्ध हो गया था कि उसने शिष्टाचार का ही परित्याग कर किया। सतलुज नदी के पार

त्यूणी नामक किले में १२ वर्ष से राजा महाचन्द के चाचा के रणजीतसिंह का वन्दी होने का उल्लेख ह्यूगल ने किया है। सन १८०६ में कांगड़ा क्षेत्र पर रणजीत सिंह का अधिकार हो गया था और उसी वर्ष सतलुज नदी सिख-राज्य और अंग्रेजी राज्य के मध्य की सीमा बनी थी। सम्भवतः गोरखा युद्ध के बाद बिलासपुर के सामन्त ने सतलुज के पार के क्षेत्र पर लूट-मार की हो। परिणामतः रणजीतसिंह के सैनिकों ने राजा के चाचा को कैद करके उक्त किले में रखा हो और ह्यूगल के बिलासपुर में आने के समय तक वह उस किले में कैद हो। अब सतलुज के आर-पार के क्षेत्र में अराजकता की कोई गुंजायश नहीं थी। नदी के बांये किनारे के समस्त क्षेत्र में अंग्रेजों का प्रभुत्व था और दाहिनी ओर पर महाराजा रणजीतसिंह का।

शिमला-जम्मू मार्ग :—

ह्यूगल ने शिमला से जम्मू तक के पड़ावों का उल्लेख किया है। वह उन पड़ावों से होता हुआ गया था। तब स्थानों का फासला कोसों में आंका जाता था। मीलों के द्वारा फासला नापने का रिवाज अंग्रेजी राज्य स्थापित होने पर चला। तब बिलासपुर जाने का मार्ग कुनिहार होता हुआ गम्भर और गमरोला नदियों को पार करके जाता था। बिलासपुर से आगे जम्मू तक पुराना व्यापारिक मार्ग था। अट्ठारहवीं सदी में काश्मीर के पशम के दुशालों और अन्य मूल्यवान ऊनी गलीचों और वस्त्रों का व्यापार इसी मार्ग से होता था। ये वस्तुएं सहारनपुर और नजीबाबाद की मण्डियों में जाती थीं। ज्वालामुखी के गुसांई प्रमुख रूप से इस व्यापार को करते थे। इस मार्ग में ये मुख्य पड़ाव थे और कोसों में यह दूरी थी :-

शिमला से सारी ७ कोस, कुनिहार ७, सर्हां कोटी ८, बयूण ८, बिलासपुर ७, कूंगरहट्टी ५ मेरी हट्टी ६, हमीरपुर ६, रेली ५, नदौण ५, ज्वालामुखी ५, हबली कटूवा ८, जसरोह ८, साम्भा ८, इस्लामपुर ९ और जम्मू ७ कोस आधुनिक बस की सड़कें भी प्रायः इन्हीं स्थानों से होती हुई जाती हैं।

देवदासियां :—

ज्वालामुखी मन्दिर के बारे में ह्यूगल ने लिखा है कि इस मन्दिर में कई देव दासियां हैं और वे आम स्त्रियों से अधिक सुन्दर और आकर्षक हैं। बीस के लगभग देवदासियां कमल के फूलों से सजी-धजी उसके तम्बू के द्वार पर गई थीं। उसका कहना है कि वे मधुर गीत गा रही थीं और उनके पैरों की अंगुलियों से नूपुरों की कर्ण-मधुर ध्वनि आ रही थी; परन्तु मैं इतना अरसिक था कि मैंने बिना किसी पारितोषिक के उनको वापिस भेज दिया। मन्दिर के सम्बन्ध में उसने लिखा कि छोटे और बड़े मन्दिर-भवन की छतें सोने के सुन्दर कलशों से सजी थीं। ये कलश महाराजा रणजीतसिंह की ओर से उपहार थे। तब से बारह वर्ष पहले महाराजा भयानक बीमारी में ग्रस्त हुआ था और उसने देवी को कलश चढ़ाने की मनौती की थी। ये कलश ज्वालामुखी में ही ढाले गये थे और अब ये देवी के मन्दिर की शोभा

जिसकी पगड़ी उन्होंने छीन ली थी, उसने यह कह कर सन्तोष कर लिया कि मेरे पास और पगड़ी है और पगड़ी को छुड़ाने का प्रयास नहीं किया। ऐसा प्रतीत होता है कि उस अराजकता के युग में दुर्बलों के प्रति ऐसा व्यवहार होता था; आक्रोश प्रकट करने के लिये पगड़ी छीनने का आम रिवाज था।

परवाना या पासपोर्ट :--

ह्यूगल के पास काश्मीर और पंजाब में यात्रा करने के लिये महाराजा रणजीतसिंह का 'परवाना' अधिकार-पत्र था। उसका कहना है कि भारतवर्ष में शाही 'परवाना' योरुप के पासपोर्ट से अधिक महत्वपूर्ण, है, पासपोर्ट से विदेशी उस देश में यात्रा करने का अधिकारी होता है; परन्तु 'परवाना' सभी सुविधाओं, कुल्ली सवारी के साधन घोड़े, खच्चर आदि और भोजन व वास की सुविधाओं का हुक्मनामा है। 'परवाना' स्थानीय अधिकारियों को इन सुविधाओं को उपलब्ध कराने का आदेश जैसा होता था। इसके अनुसार परवानाधारी को आधुनिक भाषा में स्टेट गेस्ट माना जाता था। यह भारत की अतिथि-सेवा की परम्परा थी जिसके अनुसार ये सुविधाएं राज्य की ओर से मान्य अतिथि को दी जाती थीं शिमला क्षेत्र के पहाड़ी राज्यों में भी यह प्रथा थी। झेलम नगर का उल्लेख करते हुये ह्यूगल ने लिखा है कि वहां पहुँचने पर नगर के बहुत से व्यापारी नगर के बाहर उसके तम्बू में आये और उन्होंने आग्रह किया कि जितने दिन भी आप का दल यहाँ रहे, हमारी ओर से आपका सब खाना-खर्चा होगा; आप इसको स्वीकार करें।

हरिसिंह नलवा का आतिथ्य :—

काश्मीर से वापस आते हुये ह्यूगल गूजरावाला के मार्ग से लाहौर आया था। उस नगर में वह रणजीतसिंह के ख्यातिप्राप्त सेनानी हरिसिंह नलवा का अतिथि रहा था। नलवा ने अपनी विलायत से मंगाई हुई घोड़ा-गाड़ी ह्यूगल को लेने कुछ दूर तक भेजी। उसने लिखा है कि नलवा जब उसको मिलने आया तो उसने मुझे २५ थालियाँ मिठाइयों की और एक दर्जन फलों की टोकरियां भेंट में दीं, फिर अपने महल के बहुत से कमरे उसने ह्यूगल को दिखाये जिन में काश्मीर और काबुल के मूल्यवान गालीचे बिछे थे। उसका कहना है कि नलवा अधेड़ उम्र का था। वह स्पष्टवक्ता और अत्यन्त मिलनसार था।

ज्वालामुखी मंदिर में महासिंह द्वारा छत्र चढ़ाना :—

ह्यूगल ने रणजीत सिंह के पिता महासिंह द्वारा ज्वालामुखी मन्दिर को छत्र चढ़ाने का उल्लेख भी किया है। रणजीतसिंह का जन्म २ नवम्बर १७८० को हुआ परन्तु जन्म के थोड़े दिनों बाद रणजीतसिंह को चेचक हो गया, महासिंह ने ऐसे संकट के समय ज्वालामुखी मन्दिर को छत्र चढ़ाने की मनौती की। ह्यूगल का कथन है कि इससे कदाचित रणजीतसिंह की बीमारी तो कट गई; परन्तु उसकी एक आँख जाती रही। ह्यूगल का अधिकांश यात्रा-विवरण काश्मीर और पंजाब, विशेषत: रणजीतसिंह के दरबार के बारे में है। उसका यहां उल्लेख करना प्रासंगिक न होगा।

१५. बेगार प्रथा

राज्य का संरक्षण :—

वहुचर्चित कुख्यात बेगार प्रथा पुराने छोटे-बड़े सभी राज्यों में तत्कालीन राजस्व और कर व्यवस्था का एक अनिवार्य अंग था। आज की अर्थ व्यवस्था में लेन-देन का एक मात्र माध्यम नाना प्रकार के सिक्के हैं। परन्तु पुरानी व्यवस्था में इस माध्यम का कम महत्व था। किसान या पशु-पालक अपनी उपज; अन्न, तेल, घी, मदिरा, ऊन चमड़ा आदि सभी पदार्थों का उपयोग लेन-देन के लिये करता था। इसके साथ ही अपने शरीर श्रम का भी अपने दायित्वों को निभाने के लिये प्रयोग करता था। राज्य से जो संरक्षण उसको मिलता था, उसके वदले उसको किसी न किसी रूप में कर देना पड़ता था। अराजकता के युग में जैसे कि अठारहवीं सदी में पंजाव और पहाड़ी क्षेत्रों में था, तव इस संरक्षण की बहुत आवश्यकता थी। पंजाब में सिख मिसलों का उदय इसी-प्रकार हुआ; कहा जाता है कि सिख सरदार अपने दल-वल सहित कई गांवों में जाते और वहाँ कोई वस्तु छोड़ जाते। सायं काल तक जितने गांवों में वे घूम आते वे सव उनकी "राखी"—या संरक्षित गांव समझे जाते; ये गांव उनके नवोदित राज्य के भाग वन जाते। पहाड़ी क्षेत्र में भी उस युग में या उससे भी पुराने समय से ऐसी ही स्थिति थी। किसी भी राज्य या ठकुराई की निश्चित व स्थायी सीमा नहीं होती थी। उसकी सीमाएं उसकी शक्ति के अनुसार घटती वढ़ती रहती थीं। पारस्परिक द्वन्द्व और कलह एक निरन्तर चलने वाली क्रिया जैसी थी। अत: समाज के सभी वर्गों और जातियों को राज्य के संरक्षण की सदा जरूरत रहती थी। उस संरक्षण के वदले उसको कर अन्न-धन आदि के रूप में चुकाना पड़ता था। बेगार भी उस कर-व्यवस्था का अभिन्न अंग था। जब बेगार प्रथा समाप्त हुई तो उसके साथ कर का बोझ वढ़ गया। आज तो प्रत्येक व्यक्ति कर के बोझ से दवा है और परोक्ष और अपरोक्ष करों के बोझ को सह रहा है। परन्तु बेगार प्रथा कर-व्यवस्था का अंग होते हुए भी वहु-निन्दित रही; इस प्रथा में अन्याय का तत्त्व इतना अधिक नहीं था जितनी कि यह प्रथा वदलती हुई सामाजिक परिस्थितियों के विपरीत होने से कुख्यात हुई।

राज्य का "भाग" :—

संरक्षण के अतिरिक्त पुरानी सामाजिक व्यवस्था में यह भी एक मान्य सिद्धान्त था कि राजा या ठाकुर अपने राज्य की समस्त भूमि का स्वामी है; उसकी भूमि पर उसकी प्रजा का इतना ही अधिकार है कि प्रजा उसका उपयोग करे

और उसके बदले उपज और भूमि व जंगल से प्राप्त होने वाले सभी पदार्थों का कुछ भाग राजा या ठाकुर को दे दे। राजा का भूमि के स्वामित्व का सिद्धान्त पुराने सामन्तशाही समाज में सर्वत्र था। पुरानी हिन्दू परम्परा के अनुसार राजा का खेती की उपज में 'भाग' छटा अंश होता था। राज्य के इस छटे हिस्से को भाग या 'बाली' कहते थे। 'बाली' शब्द बहुत प्राचीन है। छटे भाग का अधिकारी होने से राजा को "षट्-भागिन्" भी कहते थे। पुराने हिन्दू राज्यों में उपज का छठा भाग ही कर के रूप में खेतीहर लोगों से लिया जाता था। पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के राज्यों के प्रसंग में नालागढ़ राज्य के सम्बन्ध में ऐसा उल्लेख मिलता है कि खेतीहर की उपज खलियान में छः बराबर भागों में विभक्त की जाती थी। यह बात आधुनिक ढंग की पैमायश और लगान निश्चित करने से पहले की है। छः भागों में से एक भाग बीज के लिये खेतीहर को दे दिया जाता था, एक भाग गांव में प्रथानुसार कामगारों को जैसे लाहार, मोची, जुलाहा आदि, एक भाग राज्य को और तीन शेष भाग जमींदार के अपने लिये होते थे। यह विभाजन रबी की फसल के लिये होता था। खरीफ की फसल के पांच भाग किये जाते थे; एक राज्य के लिये, एक ग्रामीण कारीगरों के लिये, और तीन भाग जमींदार के लिये जिसमें बीज का भाग भी सम्मिलित माना जाता था। राज्य के 'भाग' का निर्धारण सभी राज्यों में एक जैसा नहीं था। कहीं उपज का चौथा भाग लिया जाता था तो कहीं तीसरा।

शरीर-श्रम कर के रूप में :—

खेती, पशु-धन और वनों से प्राप्त उपज के 'भाग' दे देने से ही राज्य के प्रति लोगों का दायित्व समाप्त नहीं हो जाता था। इसकी पूर्ति के लिये शरीर-श्रम राज्य को देना पड़ता था। यह शरीर-श्रम बेठ बेगार कहलाती थी। पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के राज्यों में बेगार दो प्रकार की थी; 'अढवाड़ा बेगार' और दूसरी 'हेला बेगार' थी। अठवाड़ा बेगार निरन्तर चलने वाली निश्चित अवधि की सेवा होती थी। प्रत्येक जमींदार परिवार के एक सदस्य को निश्चित अवधि के लिये राज्य या राजा की सेवा के लिये जाना पड़ता था। यह अवधि राज्य की जन-संख्या अथवा जमींदार परिवारों की संख्या के अनुसार छः महीने से एक महीने तक की होती थी, किसी राज्य में यह अवधि जमींदार की भूमि के अनुपात पर निर्भर करती थी—अधिक भूमिदार को लम्बी अवधि तक बेगार-सेवा करनी पड़ती थी और छोटे भूमिदार को कम अवधि तक। "हेला बेगार" आकस्मिक सेवा के रूप में ली जाती थी। राजा के महल का निर्माण, सड़क और पुल का निर्माण, किसी स्थान पर राज्य के उपयोग के लिये गोदाम या अन्य प्रकार का घर बनाना, ये सभी कार्य हेला बेगार से सम्पन्न होते थे। इन कामों के लिये उसी क्षेत्र या अन्य गावों से प्रत्येक परिवार से एक-एक व्यक्ति इस आकस्मिक सेवा के लिये बुलाया जाता था और कार्य की समाप्ति तक वहां रहना पड़ता था।

दोनों प्रकार की बेगार-सेवा में जमींदार को खाना प्राय: अपने पास से खाना पड़ता था। परन्तु यह सार्वभौमिक नियम नहीं था। कहीं-कहीं और कभी-कभी बेगार सेवा करने वालों को राजा या ठाकुर की ओर से पका भोजन या सूखा राशन भी दिया जाता था। राज महल के अन्दर काम करने वाले बेगारी को प्राय: पका भोजन मिलता था। पर यह नियम नहीं था। राज महल में हर्ष और शोक के समय जो सेवा लोगों को करनी पड़ती थी, वह भी हेला-बेगार के अन्तर्गत आती थी। प्रथम राजकुमार के जन्म पर विशेष उत्सव मनाया जाता था, उसमें प्रजा को सम्मिलित होना पड़ता था; नाना प्रकार के भेंट-चढ़ावे के साथ, जिनको 'फांट' कहते थे, महल में काम करना पड़ता था। राजा की मृत्यु पर भी इसी प्रकार 'फांट' देनी पड़ती थी और बेगार-सेवा करनी पड़ती थी। देवोत्सव के अवसर पर, जैसे बुशैहर राज्य में भीमाकाली के वार्षिक पूजन के समय और कुमारसेन राज्य में कोटेश्वर महादेव के विशेष पूजन के समय प्रजा को विशेष चढ़ावा और 'फांट' के साथ हेला बेगार में सेवारत रहना पड़ता था।

सन् १८१५ में गोरखाओं को इस क्षेत्र से खदेड़ने पर अंग्रेजों ने इन राज्यों को अधिकारों की जो सनद दी थीं उनमें एक शर्त यह भी थी कि अंग्रेज अधिकारी जब कभी उस राज्य का दौरा करें या वहाँ से गुजरें तो राज्य को उनको बेगारी देने पड़ेंगे। ऐसे अवसर पर इन अंग्रेज अधिकारियों की बेगारियों से ही नहीं, अपितु राज्य की ओर से उदार भेंट-उपहार और उत्तम भोजन आदि से उनको सन्तुष्ट किया जाता था। सन् १८५७ के सैनिक विद्रोह के समय बुशैहर ने अंग्रेज अधिकारियों की उपेक्षा की; उनको यात्रा के समय बेगारी और अन्य सुविधाएँ नहीं दीं। अत: शिमला क्षेत्र का पोलिटिकल एजेण्ट बुशैहर के राजा को दबाने के लिये सैनिक टुकड़ी रामपुर भेजना चाहता था; परन्तु जतोग छावनी में गोरखा सिपाहियों के विद्रोह के कारण सैनिक उपलब्ध नहीं थे। इस विप्लव के शान्त होने पर राजनैतिक अधिकारी लॉर्ड ने वाइसराय को बुशैहर के राजा शमशेरसिंह को पदच्युत करके राज्य को अपने संरक्षण में लेने की सिफारिश की थी; परन्तु तत्कालीन वाइसराय लॉर्ड लॉरेंस ने यह उचित न समझा। फलत: बुशैहर के विरुद्ध कुछ नहीं किया गया। अंग्रेजों ने वास्तव में बेगर प्रथा को अपने साम्राज्यवादी स्वार्थों के लिये प्रोत्साहित ही नहीं बल्कि उसका दुरुपयोग भी किया। अंग्रेज अधिकारियों की सेवा के लिये ब्रिटिश इलाके में भी लोगों को बेगार में घसीटा जाता था; उनके तम्बू-छोलदारियाँ और अन्य साज-समान को ढोने के लिये ग्रामीण लोगों को बेगार करनी पड़ती थी। सन् १९२० के पश्चात् महात्मा गांधी के सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन के परिणाम स्वरूप ब्रिटिश इलाके में भी बेगार के विरुद्ध एक लहर चली और लोगों ने बेगार करने से इनकार किया। विवश होकर अंग्रेज अधिकारियों ने बेगार-प्रथा का लाभ उठाना छोड़ा और मजदूरी देकर फिर उनका समान एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाया जाने लगा।

गई। इसके स्थान पर लगान की रकम पर अधिभार लगाया गया; परन्तु आकस्मिक बेगार बीसवीं सदी तक अधिकांश राज्यों में प्रचलित रही। इसका अन्त इन राज्यों और ठकुराइयों के १९४८ में भारत के गण-राज्य में विलय होने पर हुआ।

राज्य के अधिकारियों के द्वारा प्रजा का शोषण :—

बिलासपुर राज्य में पुराने जमाने में फसल का मूल्याङ्कन करने के लिये सथोई नाम का पदाधिकारी मोहर्रिर और चपरासी के साथ प्रत्येक गांव में जाता और आने वाली फसल का अनुमान लगाता। इस अवसर पर प्रत्येक जमींदार उनको दो आना देता जिसको वे दोनों आपस में बाँट लेते। चपरासी को कई गांवों में जाने के बाद दो रुपये श्रामिक के मिलते। फसल एकत्र होने पर सथोई, मुहर्रिर और कई चपड़ासी गांव में जाकर सरकारी "भाग" को एकत्र करके कोठी वाले को सौंपते। कोठीवाला सरकारी गोदाम का अधीक्षक होता था। गांव वालों को इन सब की सेवा-सुश्रुवा करनी पड़ती। कोठीदार को प्रत्येक जमींदार से एक पथा अन्न मिलता था। ऐसे ही अन्य अधिकारियों को भी सन्तुष्ट करना पड़ता था। कुमारसेन राज्य में मुखत्यार, (गांव का नम्बरदार) पलसार, मगमेहर और छछेहर पुरातन राज्यकर्मचारी थे। इनका काम विभिन्न स्तरों पर राज्य का कर, नकद और जिन्स के रूप में लोगों से वसूल करना था। सरकारी कर के साथ अपनी मजदूरी भी मन चाहे ढंग से वे लोगों से वसूल करते थे। पलसार सबसे महत्वपूर्ण अधिकारी होता था। प्रत्येक परगने में एक पलसार नियुक्त किया जाता था। यह अधिकारी परगने का मजिस्ट्रेट, जज और माल अफसर होता था। ये अधिकारी प्रत्येक जमींदार से एक रुपया प्राप्त करते थे। इसके अलावा मुकदमें की डिगरी के मूल्य में भी इनका हिस्सा होता था। राज्य की ओर से ११ मन अनाज और सारे वर्ष के लिये एक बेगारी इन को दिया जाता था। तीस-चालीस व्यक्तियों के दल-बल के साथ पलसार परगने का दौरा करता। ये सभी लोगों का मनचाहे ढंग से शोषण करते। पलसार के अधिकार व्यापक थे। ये लोगों को कई तरह से आतङ्कित कर सकते थे। इन अधिकारियों के शोषण और अत्याचारों के कारण राज्य में कई बार विद्रोह भी हुए। सन् १८९३ में राज्य में नये ढंग की पैमायश की गई और पुराने अधिकारियों के स्थान पर नये कर्मचारी नियुक्त किये गये।

बुशैहर के टिका रघुनाथ सिंह ने मियां दुर्गासिंह के साथ मिलकर सन् १८९३ में जमीन की पैमायश की। इस पैमायश की रिपोर्ट में जमींदारों के ऋण में डूबे रहने का उल्लेख है, स्वयं राज्य जमींदारों को कर्जा देता था और प्रचलित प्रथा के अनुसार २५% ब्याज उनसे वसूल करता था। राज्य के अलावा सरकारी अधिकारी और कर्मचारी भी लोगों को उधार देते थे और उनसे ऊँची दर का ब्याज लेते थे। रामपुर के सभी दुकानदार लेन-देन का कारोबार करते थे। ये बनिये पटियाला, होशियारपुर अम्बाला और कांगड़ा के थे। दीवाली पर

ये ऋण-दाता अपने हिसाब को बन्द करते। जिन आसामियों से ब्याज की रकम नहीं मिलती थी, उनके मूल धन में ब्याज जोड़ दिया जाता था। इस प्रकार चक्रवृद्धि ब्याज कर्जदारों से वसूल होता था। ऋण देते हुये साहुकार १% वैसे ही कर्ज लेने वाले से वसूल करते थे। इसको "गांठ खुलाई" नाम दिया जाता था। इस ऋण-प्रथा से कई जमींदार नष्ट हो गये; प्रतिवर्ष उनका कर्जा बढ़ता गया। अन्त में अपनी चल और अचल सम्पत्ति को साहुकार के हवाले कर उनको अपना घर और गांव तक छोड़ना पड़ा। फसल के मौके पर ब्याज की देनदारी में सारी फसल साहुकार के घर पहुँच जाती। बेचारे जमींदार को अगले वर्ष के निर्वाह के लिये फिर कर्ज लेना पड़ता। यह क्रम कई बार एक पुश्त के बाद दूसरी पुश्त तक भी चलता रहता था, समय के साथ ऋण भी वृद्धि पर रहता। फिर साहुकार के गुमश्ते सात-आठ के दल में ब्याज और कर्जे की वसूली पर जाते। जमींदार को उनकी आव भगत तो करनी ही पड़ती, साथ में उनकी मुट्ठी में भी कुछ न कुछ रखना पड़ता। कर्जदार का शोषण अबाध गति से नाना रूपों में होता रहता था। सन् १८६० में पोलिटिकल एजेण्ट बारनेस् ने एक आदेश के द्वारा १२ वर्ष से पुराने ऋण की वसूली पर प्रतिबन्ध लगाया; परन्तु राज्य के सिवाय किसी ने भी पालन नहीं किया। मुख्य ऋण दाता तो राज्य के वजीर और बड़े एहलकार ही थे; वे इन आदेशों की सर्वथा उपेक्षा कर देते।

शिवालिक क्षेत्र में एक छोटा-सा राज्य था, बेजा नाम का। इसके शासक दो-तीन पुश्त से लेन-देन का व्यवसाय करते थे। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में ठाकुर प्रतापचन्द और उसके बाद उदयचन्द्र आस-पास के राज्य के निवासियों को कर्जे पर रुपया देते और २५% ब्याज दर से चक्रवृद्धि ब्याज वसूल करते। कुठाड़, महलोग, कुनिहार और पटियाला राज्य के जमींदार इन ठाकुरों के ऋणी थे। उदयचन्द के मरने पर लगभग एक लाख रुपये पुराने ऋण के लोगों पर थे। कई जमींदारों की जमीन इनके पास रहन थी। उस जमाने में रुपये के लेन-देन का व्यवसाय प्रायः सम्पन्न लोग करते थे। इनमें छोटे-छोटे ठाकुर भी सम्मिलित थे; गरीबों के शोषण में ये प्रथम श्रेणी में आते थे।

तोल और माप के माप-दण्ड तक लोगों को ठगने के लिये दुकानदारों ने बनाये हुये थे। बुशैहर की राजधानी रामपुर में दुकानदार बेचने और खरीदने के अलग-अलग बट्टे रखते थे। बेचने के लिये चार सेर का बट्टा पांच सेर माना जाता था परन्तु जमींदारों से चीजें खरीदते हुये पांच सेर का बट्टा प्रयोग में लाया जाता था। इस प्रकार जमींदारों को बेचते हुये २५% कम तोल दिया जाता था; परन्तु उनसे खरीदते हुए सही तोल का प्रयोग दुकानदार करते थे। राज्य का इन दुकानदारों को न तो भय था और न ही राज्य इस धोखा-धड़ी में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करता था। कपड़ा नापने के गज में भी ऐसा ही अन्तर था। बेचने का

गज १३ गिरह का होता था और जमींदारों से खरीदने का गज १६ गिरह का होता था। टीका रघुनाथ सिंह की १८९३ की पैमायश रिपोर्ट में इन तथ्यों का उल्लेख है। नालागढ़ राज्य में सरकारी गोदाम के लिये जब अनाज खरीदा जाता था तो एक मन के लिये ४४ सेर लिया जाता था और गोदाम से अन्न देते हुए एक मन के लिये केवल ३६ सेर दिया जाता था। यह अन्याय और अनीति राज्य की ओर से होती थी। ऐसी स्थिति में दूसरे समर्थ शोषकों को कौन रोक सकता था !

१६. शिमला नगर की स्थापना

पहाड़ी स्थानों पर नगरों की स्थापना अंग्रेजी राज की विशिष्ट देन है। वैसे गर्मियां पहाड़ी क्षेत्र में बिताने की प्रथा मुगल बादशाहों ने आरम्भ की थी। वे गर्मियों का समय प्रायः काश्मीर में बिताते थे, वहां उन्होंने अपने आराम के लिये प्रासाद और शालीमार जैसे मनोहर उद्यानों की स्थापना की थी, पर इन सुविधाओं का उपयोग शाही परिवार तक ही सीमित था। जन साधारण इन से कभी आकृष्ट नहीं हुआ। अंग्रेज भी मुगलों की भाँति ठण्ढे देश के रहने वाले थे। जलवायु की दृष्टि से भारत का मैदानी भाग जहां मुख्यतः उनका साम्राज्य था, कभी उनके अनुकूल नहीं था। भारत के मैदानी भाग की भीषण गर्मी उनको असह्य थीं। फिर नाना प्रकार की रोग-बीमारी जो प्रायः महामारी के रूप में आती थीं, उनके स्वास्थ्य और जीवन के लिये घातक थीं। उस जमाने की कब्रगाहों में पाषाण-शिलाओं पर उत्कीर्ण लेखों से पता चलता है कि बच्चे अपने बाल्यकाल में और युवा अपने यौवन में ही काल-कलवित होते थे। पूरी आयु भोगकर मरने वालों की संख्या प्रायः कम होती थी। गोरखा-युद्ध का रण-क्षेत्र पहाड़ी इलाका रहा; पूर्व में नैपाल, कुमाऊं का पर्वतीय क्षेत्र और पश्चिम में शिवालिक की पहाड़ियां। युद्ध-भूमि यद्यपि निचली पहाड़ियों में रही, पर तब भी इस अवधि में उनका हिमालय क्षेत्र की शीतल जल-वायु से परिचय हुआ। मलौण युद्ध-क्षेत्र के निकट स्पाटू, कसौली और शिमला थे और नालापानी के निकट मसूरी की पहाड़ियां थीं। सन् १८१५ में यमुना और सतलुज नदियों का मध्यवर्ती क्षेत्र अंग्रेजों के अधीन हुआ। इन पहाड़ी राज्यों के साथ अंग्रेजों को राजनैतिक सम्बन्ध और सम्पर्क स्थापित करना था। तदर्थ सबसे पहले स्पाटू में केन्द्र स्थापित हुआ। उस समय स्पाटू अरकी, बिलासपुर, कुनिहार आदि राज्यों से अम्बाला, सहारनपुर, रोपड़ आदि नगरों के मार्ग पर प्रमुख पड़ाव था। तब घोड़े खच्चर और ऊंट पर माल आता-जाता था। सभी व्यापारिक मार्गों पर कुछ फासले पर पड़ाव होते थे, जहां पशुओं के लिये घास-चारे की व्यवस्था होती थी और राहगीरों के रहने और खाना पकाने की सुविधा होती थी। तब होटलों का रिवाज नहीं था। स्पाटू ऐसा पड़ाव था। कालका नगर तब तक अस्तित्व में नहीं आया था। नैपाल-युद्ध के बाद सन् १८१५ में स्पाटू में सहायक राजनैतिक अधिकारी ले० रौस का कार्यालय स्थापित हुआ। और इसके साथ ही गोरखा सैनिकों की, जो अंग्रेजों की सैनिक सेवा में प्रविष्ट हो गये थे, छावनी भी कायम हुई। पहाड़ी स्थानों पर नगरों की स्थापना का सूत्रपात इस प्रकार स्पाटू से हुआ। सर एडवर्ड बक के अनुसार, सन् १८१९ में ले० रौस ने ही सबसे पहले

[illegible] में एक लकड़ी की बनी और घास-फूस से छाई झोंपड़ी बनाई और वह उसमें रहने लगा। शिमला से दक्षिण-पश्चिम दिशा में भरौली नाम का राज्य था। अंग्रेजों के आने से पहले यह राज्य समाप्त हो गया था। उस लूट-मार के युग में अन्य राज्यों ने इसके क्षेत्र पर अधिकार कर लिया था। बलसन राज्य का इसमें प्रमुख हाथ था। भरौली राज्य का कुछ भाग शिमला के निकट अंग्रेजों के अधिकार में था। सम्भवतः इस कारण ले० रौस ने यहां अपना घर बनाया हो। यह स्थान सबाठू की अपेक्षा अधिक शीतल और आकर्षक था।

रौस के बाद मेजर कनेडी इस क्षेत्र का राजनैतिक अधिकारी हुआ। उसने सबसे पहले शिमला में १८२२ में लकड़ी और पत्थर का पक्का मकान बनाया। कनेडी हाऊस नाम से यह मकान अभी तक विद्यमान है। इसके बाद कई गोरे सैनिक और असैनिक अधिकारी, विशेषतः लुधियाना और अम्बाला से, यहाँ मकान बनाकर रहने लगे। यह क्षेत्र पटियाला और क्योंथल राज्यों में स्थित था। यहां बसने के लिये इन राजाओं की स्वीकृति लेनी पड़ती थी। स्वीकृति आसानी से मिल जाती थी। केवल दो प्रतिबन्ध थे; पहला यहां कोई गौ-वध नहीं करेगा और दूसरा जमींदारों की अनुमति के बिना कोई पेड़ नहीं काट सकेगा। १८२४ के बाद कई गोरों ने यहां अपने मकान बनाये। और छः वर्षों के अन्दर लगभग तीस मकान वहाँ बन गये। सन् १८२६ में लॉर्ड एहमर्स्ट ने ग्रीष्मकाल के कुछ महीने शिमला में कनेडी हाऊस में बिताये। वह कलकत्ता से चलकर यहाँ आया था। लॉर्ड एहमर्स्ट का शिमला आना एक प्रकार से इस नगर का भारतवर्ष की ग्रीष्मकालीन राजधानी बनने का श्रीगणेश था।

मुख्य शिमला नगर जाखू की चोटी के नीचे विस्तृत पर्वत-पार्श्व पर बसा है। यह पर्वत-पार्श्व दक्षिण-पश्चिमाभिमुख है। फलतः शीतकाल में जब सूर्य दक्षिणायन पर होता है तब यह सारा पर्वत-पार्श्व सुबह से शाम तक सूर्य की किरणों से तपता रहता है। शीतकाल में सारे दिन की धूप वरदान रूप है। अब तो शिमल नगर गहरी घाटियों और सूर्य की किरणों से रहित पर्वत के पृष्ठ भागों तक फैल गया है और जो लोग ऐसे स्थलों पर रहते हैं, वे सूर्य के दर्शन के लिये लालायित रहते हैं, परन्तु मुख्य शिमला नगर में शीतकाल में सूर्य की उष्णता विपुल मात्रा में सुलभ है, नगर की यह स्थिति एक भद्र विशिष्टता है। शिमला नगर बसने से पहले यहाँ एक साधारण सा गाँव था। यह गांव उस स्थान पर था जहाँ अब पश्चिमी कमाण्ड का कार्यालय है। रिपन अस्पताल से पश्चिमी कमाण्ड के कार्यालय तक यह गाँव फैला था। सम्भवतः गंज बाजार भी गांव के क्षेत्र में हो। यह मूल शिमला ग्राम था और इसी क्षेत्र में ग्राम-वासियों के खेत-खलियान थे। शेष पर्वत-पार्श्व देवदार और बान के घने जंगल से ढका था, जिसमें रीछ और सुअर स्वच्छन्द विचरण करते थे। इस पर्वतीय क्षेत्र की जलवायु अंग्रेजों के लिये एक दैवीय वरदान था। सन् १८१७ में जिराल्ड बन्धु शिमला-जाखू मार्ग से सतलुज

घाटी के भू-गर्भ सम्बन्धी सर्वेक्षण के लिये कनौर गये थे। ऐलेक्जेंडर जिराल्ड ने ३० अगस्त १८१७ को अपनी डायरी में लिखा था, "हम जाखू टिबा के इस ओर रात को रहे। यहां एक फकीर राहगीरों को पानी पिलाता है। जाखू में हनुमान का एक मन्दिर है। यह एक सुहावना स्थान है। यहाँ से दूर तक एक भव्य दृश्य दिखाई देता है। शिमला गाँव से जाखू तक का मार्ग ऊबड़-खाबड़ है। यह मार्ग एक घने जंगल से होता हुआ जाता है।"

परन्तु यह स्मरण रहे कि उत्तरी पर्वतीय क्षेत्र में जाने का यह आम रास्ता नहीं था। तब प्रमुख मार्ग नदियों की घाटी के साथ-साथ जाते थे; जैसे सतलुज की घाटी के साथ बिलासपुर से कनौर तक रास्ता जाता था और उसी प्रकार नाहन से गिरी नदी के साथ जुब्बल तक मार्ग जाता था। यहीं-कहीं पर ऊंचे पर्वतों को लाँघना पड़ता था। तत्कालीन विवरण से यह भी पता चलता है कि सन् १८१५ में गोरखा सेना की एक टुकड़ी जाखू मार्ग से कोटगढ़ क्षेत्र में गई थी। तब कदाचित् अंग्रेजों का पहला परिचय इस क्षेत्र से हुआ हो। गोरखा युद्ध के बाद अंग्रेजों ने दो छावनियाँ उत्तरी क्षेत्र में स्थापित की थीं। पहली कोटगढ़ में थी और दूसरी रांवीगढ़ कोटगढ़ की छावनी १८४२ तक रही और रांवींगढ़ की १८३० तक। रांवींगढ़ का क्षेत्र अंग्रेजों ने अपने अधिकार में रखा था। उस समय के सामरिक महत्व की दृष्टि से यह स्थान उपयोगी था और उसी प्रकार कोटगढ़ क्षेत्र में हाटू आदि किलों का तत्कालीन रक्षा-नीति के आधार पर अपना महत्व था। इन दोनों छावनियों का सम्बन्ध स्पाटू केन्द्र से था और यह सम्पर्क शिमला-जाखू मार्ग से होता था।

शिमला और मसूरी जैसे पहाड़ी स्टेशन रोगी अस्वस्थ और गर्मी से क्लान्त व्यक्तियों के लिये विश्राम-केन्द्र थे। सैनिक और असैनिक कर्मचारी छुट्टियाँ बिताने प्रायः ऐसे केन्द्रों पर जाते। स्वास्थ्य लाभ और विश्राम इन स्टेशनों का मुख्य आकर्षण था। सन् १८३० में सरकार ने मेजर कनेडी को राजा पटियाला और राणा क्योंथल से शिमला के आस-पास के क्षेत्रों को प्राप्त करने के लिये बातचीत करने का आदेश दिया। फलतः क्योंथल के राणा से १२ गाँव प्राप्त किये। इनके नाम थे : पांजर, सरऐंन, धारमा, फागली, दिलेन, क्यार, बमनोई, पगावग, धार, कनलोग, खलीनी और किलीयान। इन गाँवों के बदले क्योंथल को रांवींगढ़ का परगना दिया गया। जो गाँव क्योंथल ने दिये उनका लगान ६३७ रुपये था और रांवीं परगने से १३०० रुपये की आय थी। रांवीं क्षेत्र अंग्रेजों ने छावनी के लिये १८१५ में अपने पास रखा था। इसके अतिरिक्त पटियाला ने चार गांव जिनके नाम थे; कैंथू, बगहोग, च्योग और अनाडेल, अंग्रेजों ने इन चार गाँवों के बदले तीन गांव जिनके नाम धनोटी, कालाबन और बरोई थे, पटियाला को हस्तान्तरित किए। इसके बाद शिमला का विकास बहुत द्रुतगति से हुआ। १८३० में शिमला में मकानों की संख्या केवल तीस

थी। उसके दस वर्ष बाद इनकी संख्या सौ हो गई। १८६० में यह संख्या दो सौ तक पहुँच गई। १८८१ की जनगणना के अनुसार शिमला के मकानों की संख्या ११४१ थी। इसी प्रकार जनसंख्या में भी बहुत वृद्धि हुई। सन् १८६८ में जन-संख्या सात हजार थी। तेरह वर्ष बाद १८८१ में यह बढ़कर बारह हजार से अधिक हो गई।

एक फ्रांसीसी पर्यटक विक्टर जैक्मौंट के पत्र का उद्धरण जो उसने १८३० में शिमला से लिखा था, अत्यन्त तथ्यपूर्ण और रोचक होगा। जैक्मौंट कुछ दिन तक मेजर कनेडी का अतिथि रहा था। उसके पत्र से अंग्रेजी साम्राज्य के तत्कालीन शासकों के विलासमय, अकर्मण्य और उद्दण्ड जीवन का कुछ आभास मिलता है। उसने अपने पत्र में लिखा "मेजर कनेडी का काम बड़े-बड़े सैनिक अधिकारियों और न्यायाधीशों का स्वागत करना है। वह आस-पास के राजाओं पर जो हिन्दू, तुर्क और तिब्वती हैं, स्वच्छन्द शासन करता है। गलतकाम होने पर यह उनको जेल में डालता है। उन पर जुर्माना करता है और यहाँ तक कि यदि उसको ठीक लगे तो उनको फांसी भी दे सकता है। उसको एक लाख फ्रैंक वार्षिक वेतन मिलता है। वह अविवाहित मनमौजी प्रकार का व्यक्ति है। × × × प्रातःकाल एक घण्टे तक हम दोनों घुड़सवारी पर जाते हैं और उसके बाद पौष्टिक पदार्थों का नाश्ता करते हैं। तब वह एक घण्टे तक सरकारी काम-काज करता है। फिर सारा दिन गप्पों में बीतता है। सायंकाल को नये घोड़े दरवाजे पर आ जाते हैं और फिर उन सड़कों पर निकल जाते हैं जो कनेडी ने स्वयं बनवाई हैं। × × × सायंकाल को साढ़े सात बजे रात को भोजन के लिये बैठ जाते हैं और यह क्रम रात के ग्यारह बजे तक चलता है। मुझे याद नहीं आता कि मैंने पिछले एक सप्ताह से मदिरा के सिवाय कभी पानी पिया हो। × × × ×"

इस पत्र में राजाओं और तुर्कों को दण्ड और फांसी देने की बात निःसन्देह कनेडी की डींग पर आधारित प्रतीत होती है, सन् १८२८ में कोटखाई के ठाकुर ने स्वेच्छा से अपनी ठकुराई छोड़ी थी। उसकी प्रजा अत्याचार के कारण उसके विरुद्ध हो गई थी। यह ठीक है कि कनेडी का प्रभुत्व तीस के लगभग राज्यों पर था; परन्तु अंग्रेजों के साथ इन ठाकुरों का सम्बन्ध उनके साथ किये गये अनुबन्धों पर आधारित था। राजनैतिक अधिकारी को मनमाने ढंग से उनके साथ व्यवहार करने का अधिकार नहीं था। तब तक अंग्रेजों की छत्र-छाया में आये इन राज्यों को पन्द्रह वर्ष हो चुके थे और आपसी सम्बन्धों और मर्यादाओं की परम्परा बन रही थी।

कालका और कोराली दो साधारण गांव पहाड़ के मूल में थे। जब स्पाटू, कसौली और शिमला बसने लगे तो अंग्रेजों को कालका में सैनिक गोदाम बनाने की आवश्यकता पड़ी। उक्त दोनों गांव पटियाला से अंग्रेजों को उपहार रूप में मिले।

अंग्रेजों ने यहां बसने और दुकानें बनाने के लिये इच्छुक लोगों को निःशुल्क जमीन दी। अंग्रेजों ने यहां गोला बारूद के गोदाम बनाये और उत्तरी क्षेत्र में जाने वाले सैनिकों का यहां सामान रखा जाता था। पुराना पैदल का रास्ता कालका से आरम्भ होता था। पहला पड़ाव नौ मील के अन्तर पर कसौली में था और दूसरा ग्यारह मील पर ककड़हट्टी में था। तीसरा पड़ाव ग्यारह मील पर सैरी में था। अन्तिम पड़ाव दस मील पर शिमला था। इस प्रकार कालका से शिमला तक ४१ मील का सफर था। यह सफर घोड़े, खच्चर और झम्पाण पर या पैदल तय होता था। घोड़ों पर यह यात्रा आठ घण्टे में पूरी हो जाती थी। तब कालका में घोड़ों के ठेकेदार होते थे। इनके प्रत्येक पड़ाव पर घोड़े रहते थे जहां सवार घोड़ों को बदलते थे और सुविधापूर्वक थोड़े समय में सफर पूरा हो जाता था। सामान घोड़े, खच्चर और कुलियों पर शिमला पहुंचता था। स्त्रियों, बच्चों और बूढ़ों के लिये झम्पाण और डण्डी की सवारी होती थी। झम्पाण कुर्सी जैसा बैठने का आसन होता था। दो लम्बे दण्डों के साथ यह जकड़ा होता था और इसको चार आदमी उठाते थे। धूप और वर्षा से बचाव के लिये इसके ऊपर मोटा कपड़ा लगा होता था। शिमला में बीसवीं सदी के प्रथम चरण में इस प्रकार के वाहन का प्रयोग स्त्रियों, बच्चों, और बूढ़ों के लिये होता था। १८७० के आस-पास वर्तमान कालका—शिमला मार्ग बन कर तैयार हो गया। यह पुराने पैदल-मार्ग की अपेक्षा १७ मील लम्बा है। इस पर आरम्भ से ही बैलगाड़ी, एक्का, तांगा आदि पहियों वाले वाहन चल सकते थे। सन् १८७४ से कालका-शिमला के बीच आना-जाना तांगे से होने लगा और सामान के लिये बैलगाड़ी का प्रयोग आरम्भ हुआ। तांगा आठ घण्टे में कालका से शिमला पहुंच जाता था। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में कालका-शिमला रेल मार्ग का निर्माण आरम्भ हुआ और ९ नवम्बर १९०३ को पहली सवारी रेलगाड़ी कालका से शिमला पहुंची। उस समय के मूल्यों के अनुसार इस रेल मार्ग के निर्माण पर १७१ लाख रुपये खर्च आया था। हिन्दोस्तान-तिब्बत राजमार्ग १८५० में बनना आरम्भ हुआ था, सन् १८८८ तक चीनी गांव से आगे करिण खड्ड तक बन चुका था और सदी के अन्त तक शिप्कीला तक पूरा हो गया था। १८५० से पहले मसूरी और शिमला के मध्य आना-जाना जुब्बल-ल्यूणी और चक्रोता मार्ग से होता था। रेल मार्ग बनने पर मैदानी मार्ग से आना-जाना आरम्भ हुआ। १८७० तक भी शिमला की सड़कों की स्थिति सन्तोषप्रद नहीं थी। आधुनिक माल रोड तब इतना तंग था कि दो घुड़सवार आमने-सामने कठिनाई से आर-पार होते थे। शिमला का अधिकांश पर्वतीय पार्श्व घने जंगलों से ढका था। लोअर बाजार और अपर बाजार का विकास हो गया था; परन्तु तब तक ऊपर का बाजार रिज क्षेत्र में था। रिज के दोनों ओर लकड़ बाजार तक दुकानें थीं जो अधिकांश अंग्रेज व्यापारियों की थीं। सन् १८७५ में हेमिल्टन एण्ड वेस्ट नाम के

व्यापारी की दुकान में आग लग गई। फलतः सारा अपर बाजार जल कर राख हो गया। इसके बाद म्यूनिस्पल कमेटी ने इस स्थान पर दुकानें बनाने की आज्ञा नहीं दी। दुकानदारों को अन्यत्र स्थान उपलब्ध हो गये। उस अग्नि-काण्ड के बाद ही जमीन को समतल किया गया और वर्तमान रिज मैदान का पूर्व रूप बनना आरम्भ हुआ। १८७५ के बाद ही टाउन हॉल बना और माल रोड रिक्शा चलाने योग्य बन सका, झम्पाण और डण्डी के स्थान पर रिक्शा अधिक प्रचलित और लोक-प्रिय होने लगा। फलतः मुख्य सड़क से मकानों तक के मार्ग भी रिक्शा योग्य बनने लगे। सन् १८८० में और १८९० में लोअर बाजार में भीषण आग लगी। पुराने धज्जी दीवार वाले तीन मंजिले मकान जल कर राख हो गये। शिमला में काष्ट-निर्मित पुराने मकानों के जलने का क्रम अभी तक चला हुआ है।

संजौली के निकट हिन्दोस्तान-तिब्बत मार्ग पर बनी सुरंग भारत में सबसे प्रथम बनी बताई जाती है, यह एक ठोस पहाड़ी सड़क को उत्तर से दक्षिण दिशा को काटती है। सुरंग बनने से सड़क सीधी दूसरी ओर निकल जाती है। मेजर ब्रिग ने १८५० में इसको बनाना आरम्भ किया था और एक वर्ष के लगभग समय में यह बनकर तैयार हो गई। इस को बनाने में हजारों कैदियों और दूसरे मजदूरों ने काम किया। यह ५६० फुट लम्बी है। आरम्भ में इसकी चौड़ाई इतनी ही थी कि एक घुड़सवार इसमें से गुजर सकता था। दिन के समय भी इसमें अन्धेरा रहता था। सायंकाल को कुछ टिमटिमाती लालटेनें जलादी जाती थीं। यह सुरंग भारत के जंगीलाट लॉर्ड किचनर (१९०२-१९०९) की टांग टूटने की स्मृति से सम्बद्ध है। लॉर्ड किचनर भारत का कमाण्डर-इन-चीफ था। स्नोडन और वाइल्ड फलावर हॉल उसके दो निवास स्थान थे। एक दिन सायंकाल को वह घोड़े पर शिमला से छराबड़ा में वाइल्ड फलावरहॉल जा रहा था। सुरंग के अन्दर जाते हुये सामने की ओर से कोई पहाड़ी अपने देहाती भेष-भूषा में आ रहा था। सुरंग में कुछ अन्धेरा था। घोड़ा उस व्यक्ति को देख कर बिदग गया और लॉड किचनर नीचे गिर गया। उसकी टांग रकाब में फंस गई। किसी तरह टांग तो छूट गई; पर लार्ड किचनर वहीं गिरा पड़ा रहा। आधे घंटे के बाद कोई अंग्रेज रिक्शा पर उधर आया। उसने लॉर्ड किचनर को स्नोडन पहुंचाया। उस दुर्घटना के बाद सुरंग को चौड़ा किया गया और १९१३ में जब शिमला में बिजली आई तो इस सुरंग में भी बिजली लगाई गई। उस दुर्घटना के बाद लॉर्ड किचनर की टांग लगभग अपंग हो गई।

शिमला म्यूनिसिपैलिटी पंजाब में सबसे पुरानी कमेटी है। इसकी स्थापना १८५१ में हुई थी; परन्तु म्यूनिस्पल बोर्ड की स्थापना १८७६ में हुई। इस कमेटी में बोलवाला सदा अंग्रेजों का ही रहा। शिमला नगर मुख्यतः गोरे शासकों का नगर था। शिमला का माल रोड तो गोरों की थाती थी। कुछ भारतीय अधिकारियों के अलावा जो प्रायः उन्हीं की भेषभूषा में रहते थे, साधारण लिबास में रहने वाले

भारतीयों के लिये शिमला का माल रोड वर्जित स्थान था। रंग-भेद और शासक एवं शासित वर्ग के अन्तर का स्थूल प्रदर्शन शिमला में दिखाई देता था। सन् १६२० के बाद भारतीयों के प्रति अंग्रेजों की रंग-भेद जन्य घृणा का प्रकट प्रदर्शन गांधी जी के असहयोग आन्दोलन के कारण कुछ कम होने लगा। परन्तु तब भी शिमला का माल रोड अंग्रेजों के राज के अन्तिम दिन तक उनकी अपनी बपौती जैसा रहा।

आरम्भ में शिमला में बसने और आने वाले अंग्रेज मैदानों की गर्मी से सन्तप्त, रोगी, धनिक, छुट्टी बिताने वाले सैनिक और असैनिक कर्मचारी व अपंग लोग होते थे। एक समृद्ध साम्राज्य के कर्मचारी होने से धन की तो इनको कोई कमी नहीं थी; बल्कि उस धन को खर्चने के आज जैसे साधन तब नहीं थे। शराब पीना और जुआ खेलना इनके मनोविनोद के मुख्य साधन थे। जब शिमला साम्राज्य की ग्रीष्मकालीन राजधानी बन गया और यहां जीवन की सुख-सुविधाओं की अच्छी व्यवस्था हो गई तो छुट्टियां बिताने और स्वास्थ्य लाभ के लिये अधिक गोरे यहां आने लगे। एडवर्ड वक का कथन है कि तब शिमला के समाज में दो प्रमुख वर्ग थे; पहला वह वर्ग जो साम्राज्य के काम सम्भाले थे और दूसरा गोरों का वह वर्ग था जो निठले थे और शिमला केवल इसलिये आते थे कि वे विनोद-पूर्ण और विलासिता का जीवन बिता सकें। इस वर्ग में गोरे अधिकारियों की पत्नियां व लड़कियां भी थीं जिनका काम बाहर से आये गोरों के साथ नृत्य और अठखेलियां करना था। इनका चित्रण किपलिङ्ग के लेखों में विस्तृत रूप से मिलता है। यह तो निर्विवाद बात है कि उस जमाने के गोरों का नैतिक स्तर अश्लीलता-पूर्ण होता था। अधिकांश सैनिक और असैनिक कर्मचारी छोटी आयु में ही कम्पनी की सेवा में प्रविष्ट हो जाते थे। जो आयु उनकी शिक्षा-दीक्षा होती थी, उसमें वे साम्राज्य तंत्र के अंग बन जाते थे। उन अपरिपक्व नवयुवकों को शासन का चस्का लग जाता था। वे अपने अधीनस्थ भारतीयों को मारने-पीटने और गाली देने और अपमानित करने में रस लेते थे या आपस में ही द्वंद्व युद्ध करते थे। गोरे समाज का जो निम्न स्तर और असंस्कृत वर्ग था, वह भारत के भोले-भाले लोगों का शासक बना हुआ था। आरम्भ में शिमला के गोरे समाज का आपसी व्यवहार भी अश्लीलता-पूर्ण होता था; उनके क्लब, नृत्य-गृह छुट्टी के दिन पिकनिक आदि में निर्लजता, अश्लीलतापन और आचरण-हीनता का बोल बाला होता था। सर एडवर्ड वक शिमला के क्लब और सामाजिक जीवन का उल्लेख करते हुये लिखता है कि जब उच्च वर्ग के भारतीय गोरों के सामाजिक जीवन में सम्मिलित होने लगे तो एक नवीन शालीनता उसमें आने लगी। बिहार का लॉर्ड सिन्हा और सर अली इमाम वाइसराय की कार्यकारिणी के सदस्य बने। इनके परिवार के सदस्य अंग्रेजों के सामाजिक जीवन में प्रविष्ट होने लगे। इनके आने से अभद्रता कम होने लगी और शालीनता बढ़ने लगी।

उन्नीसवीं सदी के शिमला के माध्यम से आज के शिमला को पहचानना कठिन है। अब शिमला जतोग से मशोबरा तक लगभग पन्द्रह मील पर फैला है। कुछ लोग शिमला की वर्तमान अवस्था, इसकी गन्दगी, भीड़-भाड़, सड़कों, नालियों आदि की दयनीय अवस्था पर आंसू बहाते हैं। पर वे भूल जाते हैं कि साम्राज्यवादी सत्ता ने मुट्ठी भर गोरों के आराम और सुख सुविधा के लिये यह नगर बनाया था। उन सुविधाओं का उस अनुपात से विस्तार नहीं हुआ जिस गति से इसका फैलाव हुआ हैं। स्वतंत्रता के बाद अभी इस नगर का जैसा कि अन्य नगरों का है, संक्रमण काल है। धीरे-धीरे पुराने धुंधले, जीर्ण-शीर्ण मकानों के स्थान पर नये भवन बन रहे हैं और नगर की छटा निखर रही है। दूर किसी ऊंचे स्थान से मुख्य शिमला नगर को देखकर किसका मन मंत्र-मुग्ध नहीं होता ? कुछ पुराने मकान नवनिर्माण के मध्य खटकते हैं। पर समय के साथ इनका भी जीर्णोद्धार होगा। पुराने वैभव का मिथ्या गुण-गान करना निराशावादी दृष्टिकोण है।

१७. पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में सती-प्रथा

मध्यकालीन भारत में सती की अमानवीय प्रथा काश्मीर से कन्या कुमारी तक व्यापक रूप से फैली थी : जहां राजाओं, महाराजाओं और सामन्तों की चिता पर सकड़ों की संख्या में रानियां और दासियां सती होती थीं वहाँ कुलीन ब्राह्मणों और क्षत्रियों की चिता पर जलने वाली स्त्रियों की संख्या कुछ कम नहीं होती थी : मध्यकालीन विजय नगर राज्य के रनिवास, हरम में सैकड़ों भारतीय और विदेशी सुन्दरियां होती थीं। सम्राट के मरने पर इन सुन्दरियों में से सैकड़ों को उसकी विशाल चिता पर जलना पड़ता था या उनको जलाया जाता था। लगभग ऐसी स्थिति अन्य हिन्दू राज्यों में भी थी। अकबर के ख्याति-प्राप्त मनसबदार राजा मानसिंह की सन् १६१४ में धुर दक्षिण में मृत्यु होने पर उसकी चिता पर ६० रानियां और दासियां सती हुई थीं, हालांकि उसके स्वामी अकबर ने कुछ दशक पहले शाही फरमान से इस जघन्य कृत्य को रोकने का प्रयत्न किया था। इस फरमान के फलस्वरूप राज्य-भय से औरंगजेब के समय तक जन साधारण में इस प्रथा पर अंकुश रहा; परन्तु मुगल सत्ता के ह्रास होने पर अट्टारहवीं सदी में इस प्रथा ने उग्ररूप धारण किया। रोती, चिल्लाती और बिलखती स्त्रियों को पशु-बल से मृत पति की चिता पर धकेला जाता था। तब धर्मान्ध हिन्दू समाज की समवेदनशीलता इतनी कुंठित हो चुकी थी कि इन निरीह विधवाओं के प्रति कोई सामाजिक सहानुभूति नहीं थी। फलतः चिता की लपटों के सिवाय इनको अन्यत्र कहीं आश्रय नहीं था।

करेवा प्रथा —

पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में इस प्रथा का इतना भयावह रूप प्रतीत नहीं होता है। इस क्षेत्र में यह प्रथा प्रधानतः राजवंश, सामन्त वर्ग और सम्भ्रान्त परिवारों तक ही सीमित थी। ऐसा प्रतीत होता है कि आम जनता में यह प्रथा प्रचलित नहीं थी। यहां विधवा-विवाह की बहुत पुरानी प्रथा थी और इसको बुरा नहीं समझा जाता था। विधवा स्त्री अपने मृत पति के भाइयों में से किसी का भी वरण कर सकती थी या किसी अन्य पुरुष के वरण करने का भी उसको अधिकार था। ऐसी स्थिति में नये पति को परिवार को 'दस्तूर' के अनुसार 'रीत' का धन देना पड़ता था। यदि उसके परिवार में कोई उत्तराधिकारी न हो तो यह 'दस्तूर' का धन राज्य के कोष में जमा करना पड़ता था। बुशहर राज्य में इस धन को 'भरवतल' कहते थे और विधवा-विवाह की इस प्रथा को 'करेवा' कहते थे। समाज इस प्रकार के सम्बन्ध को निष्पाप और निष्कलङ्क दृष्टि से देखता था। ऐसे समाज

में विधवा के सती होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। भावावेश में जन साधारण में भी सती होने के उदाहरण मिलते हैं, पर ये अपवाद रूप में है।

मण्डी और कुल्लू के सती स्तम्भ —

हिमाचल प्रदेश के मण्डी नगर में कुछ सती-स्तम्भ थे जिनपर मृत राजाओं के नाम और उनकी चिता पर सती होने वाली रानियों और दासियों की संख्या दी होती थी। जनरल कनिंधम ने सब से पहले इन सती स्तम्भों का अध्ययन किया। कनिंघम भारतीय पुरातत्व विभाग के संस्थापक निदेशक थे। उन्नसीवीं सदी के उत्तरार्द्ध में उन्होंने इन स्तम्भों का अध्ययन किया। स्थानीय बोली में इनको 'वरसेला' कहते हैं। ये स्तम्भ मण्डी-सुकेत मार्ग पर स्थित थे। सम्भवतः अभी भी कुछ स्तम्भ विद्यमान हों। प्रत्येक राजा के मरने पर एक स्तम्भ स्थापित किया जाता था। यह छः सात फुट ऊंची पत्थर की शिला होती थी। उस में मृत राजा का चित्र राजसी ठाट-बाट के साथ उत्कीर्ण किया जाता था। नीचे की पक्तियों में राजा के साथ सती होने वाली रानियों, 'खवासों' और दासियों के चित्र उत्कीर्ण होते थे। राजा का नाम व उसकी निधन-तिथि भी लिखी जाती थी। यह तिथि आरम्भ में लोक काल सम्बत में होती थी। इस सम्वत का प्रयोग पश्चिमी हिमालय के सभी राज्यों में होता था। कल्हण की राज तरंगिणी में भी इस सम्वत का प्रयोग हुआ है, कनिंधम को दस स्तम्भ मिले थे। उनमें सर्व प्रथम हरिसेण का था जिसकी मृत्यु सन् १६३७ में हुई थी और अन्तिम स्तम्भ जालमसेन का था। उसकी निधन तिथि सन् १८३९ थी। इस प्रकार सन् १६३७ से १८३९ तक २०२ वर्षों में कनिंधम की गणना के अनुसार २५२ स्त्रियां मण्डी के दस राजाओं की चिता पर जलीं। प्रत्येक राजा की चिता पर औसत से २५ स्त्रियां भस्मीभूत हुई। कैप्टन हारकोर्ट ने कुल्लू की पुरानी राजधानी नगर में स्थित वहां के राजाओं की समाधियों का उल्लेख करते हुये बताया कि कई राजाओं की चिता पर ४० से ५० तक स्त्रियां सती हुई थीं। नगर में भी सती स्तम्भों पर सती होने वाली स्त्रियों के चित्र उकेरे हुये थे।

सन् १६२८ में पुर्तगाली मिश्नरी फादर फ्रंसिस अजीवेदो श्रीनगर गढ़वाल गया। उसके विवरण के अनुसार वहां के तत्कालीन राजा महीपति शाह के निधन पर ६० स्त्रियाँ उसकी चिता पर जली थीं। महीपति शाह की मृत्यु कुमाऊं के राजा त्रिमलचन्द के साथ युद्ध में हुई बताई जाती है। इस स्त्री संहार की तुलना में मण्डी और कुल्लू में होने वालो सतीक्रिया नगण्य प्रतीत होगी। इतनी बड़ी संख्या में स्त्रियों को जलाने के लिये कितनी बड़ी चिता बनाई जाती होगी, इसकी कल्पना ही की जा सकती है, ऐसा विश्वास करना कि ये स्त्रियां स्वेच्छा से चिता में प्रवेश करती होंगी तर्क-संगत प्रतीत नहीं होता। निःसन्देह इनको बलपूर्वक आग की लपटों में धकेला जाता होगा। वाद्य-वृंदों के गगन-भेधी स्वर और लोगों के कोलाहल में इनकी चीख पुकार को कौन सुन सकता होगा?

पर्यटक जी० विजने का वर्णन—

ऐसी एक आंखों देखी घटना का वर्णन पर्यटक जी० विजने ने अपने यात्रा विवरण में किया है। वह १८३५ ई० में मण्डी में आया। उसके प्रवास के समय उस नगर में एक स्त्री अपने पति की चिता पर सती हुई। विजने का कहना है कि मृत पति की विधवा उसकी अर्थी के पीछे रंग-बिरंगे परिधान पहने खूब सजी-धजी लड़खड़ाती हुई चल रही थी। उसकी लड़खड़ाती चाल से प्रतीत होता था कि उसको अफीम या भांग जैसे मादक पदार्थों से चेतना शून्य करने का प्रयत्न किया गया था। अर्थी के साथ चलने वाला जन-समूह जोर-जोर से भगवान जगन्नाथ के नाम का उच्चारण कर रहा था। एक ब्राह्मण बाहों से थामे उस स्त्री को सहारा दे रहा था। एक आदमी थाली में अक्षत और सिन्दूर लिये उस अभागिनी के आगे-आगे चल रहा था। वह बार-बार थाली को उस स्त्री के सामने करता और वह अपनी दोनों हथेलियों को रंगकर उस आदमी के कन्धों को थापती। लोग हाथ जोड़ कर उससे आशीर्वाद ले रहे थे। वह नशे में अर्ध चेतन होते हुये भी अपनी भयावह स्थिति से अनभिज्ञ नहीं थी। उसके मुख पर भय, आत्म-त्रास और शून्यता के चिन्ह स्पष्ट थे। ब्यास नदी के किनारे चिता के ऊपर घास-फूस की एक झोपड़ी-सी बनाई गई और सबसे पहले उसको इसके अन्दर बिठाया गया और फिर उसके पति का शव रखा गया। उसका सिर उस स्त्री की गोद में रखा गया। उस घास और चिता पर आग लगा दी गई। धुएं और आग की लपटों से उस स्त्री का दम घुट गया होगा। विजेन का कहना है कि ऐसी स्थिति में उस निःसहाय स्त्री की वेदना क्षणिक रही होगी।

मूरक्राफ्ट और फ्रेजर का साक्ष्य—

ईस्ट इण्डिया कम्पनी का एक अधिकारी और हिमालय क्षेत्र का प्रसिद्ध पर्यटक विलियम मूरक्रॉफ्ट सन् १८२० में सुजानपुर टीरा में राजा संसारचन्द का सम्मानित अतिथि रहा। वह रोहतांग और बारालाचा के मार्ग से लद्दाख जा रहा था। वर्षा काल के तीन महीने तक वह सुजानपुर टीरा में रहा। उस अवधि में दो स्त्रियों के सती होने का उसने उल्लेख किया है जिनमें से बड़ी की आयु केवल चौदह वर्ष की थी। उन्हीं दिनों कुल्लू की रानी की भी मृत्यु हुई थी। वह कदाचित् विक्रमसिंह की विधवा थी। मूरक्रॉफ्ट के अनुसार उसका दाह-संस्कार कुल्लू के निकट बजौरा में हुआ था और उसकी चिता पर रानी की ग्यारह परिचारिकाएं जल कर सती हुई थीं। उसी प्रकार जे० बी० फ्रेजर ने रामपुर बुशैहर में राजा उग्रसिंह के मरने पर कई स्त्रियों और पुरुषों का राजा की चिता पर जलने का उल्लेख किया है। फ्रेजर गोरखा युद्ध के समय जून १८१५ ई० में रामपुर और सरहान तक गया था। उसके अनुसार १८१० में राजा उग्रसिंह के मरने पर २२ व्यक्ति 'सती' हुये थे जिनमें तीन रानियां नौ अन्य स्त्रियां और शेष पुरुष थे।

पुरुषों में राजा का प्रथम चोबदार और एक या दो वजीर भी थे। फ्रेजर के रामपुर पंहुचने के केवल पांच वर्ष पहले की यह घटना थी। अतः जिन तथ्यों का उसने उल्लेख किया है वे विश्वसनीय प्रतीत होते हैं, उन पर सन्देह करने का कोई आधार नहीं है।

गोरखा युद्ध के समय मृत गोरखा सरदार और सिपाहियों की पत्नियों के सती होने का उल्लेख उस युद्ध के अंग्रेज इतिहासकारों ने किया है। बिलापुर में मलौण के किले के बाहर गोरखा कमाण्डर भक्ति थापा के युद्ध में मारे जाने पर उसकी विधवा को चिता पर जलते हुये अंग्रेजों ने निकटस्थ स्थान तारागढ़ से देखा था। उसी प्रकार नाहन के सामने जैथक के किले के बाहर गोरखा मृत सेनाधिकारियों और सिपाहियों की पत्नियों का सती होने का वृतान्त मिलता है। अन्य खश सामन्तों की भान्ति गोरखाओं में भी यह प्रथा प्रचलित थी।

हिमालय क्षेत्र में प्रचलित सती प्रथा की विचित्र बात यह थी कि राजा की चिता पर न केवल रानियां और दासियां ही सती होती थीं; वरन् उच्च अधिकारी और अन्य पुरुष कर्मचारी भी आत्म-दाह करते थे। कुल्लू की रानी की चिता पर दासियों का 'सती' होना और उग्रसिंह के साथ पुरुष अधिकारियों का जलना प्रचलित और मान्य सती प्रथा से मेल नहीं खाता है। अन्यत्र भी ऐसा हुआ हो, इसकी खोज की आवश्यकता है। पर इस विचित्र प्रथा को समझने के लिये हमें इसके मूल स्रोत तक जाने की आवश्यकता है। यह तो जापान की 'हाराकिरी' जैसा लगता है

सती प्रथा का मूल स्रोत और उसका विवेचन—

इतिहासकारों की यह आम धारणा है कि सती प्रथा मूलतः आर्य-संस्कृति की देन नहीं है। यह प्रथा भारत में आनेवाली उन जातियों की देन है जो सन ईस्वी से चार-पांच सौ वर्ष पूर्व से तीन चार सौ वर्ष ई० सन के बाद तक शक, कुषाण, पहलव, वैक्ट्रियन हुण आदि नामों से इस देश में आई और क्षीर नीरे की भान्ति इस देश की संस्कृति में घुल-मिल गई और अपनी संस्कृति की छाप यहां के जीवन पर प्रतिरोदित की। सती प्रथा इन तत्वों में से एक है। विभिन्न नामों की ये जातियां मूलतः एक ही वृक्ष की अलग-अलग शाखाएँ थीं, महान शक जाति के ये कबीले कराकोरम और हिन्दूकुश के पार मध्य एशिया में विचरण करने वाले लोग थे। देशकाल से इनके अलग-अलग नाम पड़े। इन लोगों में सती प्रथा प्रचलित थी पति की कब्र में उसकी पत्नि के साथ दास-दासियों को गाड़ने का रिवाज इन में प्रचलित था। रूसी पुरातत्त्व वेत्ताओं ने यूराल पर्वत क्षेत्र में ऐसी कई कब्रों का पता लगाया है जिनमें शक सामन्तों के जीवन की सभी ऐश्वर्य सामग्री, स्त्रियां, दास-दासियां, घोड़े मूल्यवान कालीन, अस्त्र, शस्त्र आदि को इन शवों के साथ गाड़ा जाता था। इस प्रथा के मूल में सामन्त वर्ग के प्रमुत्व की भावना निहित

होती है। ऐसी मृतक क्रिया का विधान आम आदमियों के लिये नहीं था। सामन्त और शासक वर्ग ही इस का अधिकारी था। इस जीवन मे तो इस वर्ग को सभी सुख-सुविधाओं का अपरिमित अधिकार था ही; मरणोपरान्त भी उनको इसकी आवश्यकता थी—ऐसा विश्वास इस वर्ग को था। अतः उस जीवन के लिये सुख-सुविधाओं का प्रावधान उनकी कब्रों में ऐश्वर्य सामग्री, पत्नियां, दास-दासियां, भृत्य आदि को गाड़ कर किया जाता था। मिश्र और रोम सागर की पुरातन संस्कृतियों में भी यह सामन्ती रूप विद्यमान था।

राहुल सांकृत्यायन ने अपने मध्य एशिया के इतिहास में इस बात का संकेत दिया है कि रूसी लोगों में, जो इन्हीं मध्य एशिया के घूमन्तू जातियों के वंशज थे, इसाई धर्म में दीक्षित होने से पहले नवीं सदी तक सती प्रथा प्रचलित थी। शकों की भान्ति मंगोलों में भी सामन्ती वर्ग के लिये ऐसी ही मृतक क्रिया का विधान था। तृतीय दलाई लामा सोनम ग्यात्सो ने सन १५७८ ई० में मंगोल शासक अलताई खान को अन्य मंगोल सरदारों के साथ बौद्ध धर्म में दीक्षित किया था। इस अवसर पर सोनम ग्यात्सो ने इस प्रथा के लिये मंगोलों की भर्त्सना की थी। भरी सभा में अभिशाप के रूप में उसने कहा था; "अतीत में मंगोल सामन्तों के मरने पर उनकी पत्नी, नौकर, घोड़े और पशु उनकी चिता पर जला दिये जाते ते। अब आगे से तुम किसी के प्राण नही लोग, यदि ऐसा किया तो तुम्हारा शरीर निष्प्राण हो जायेगा। यदि पशु-हत्या करोगे तो भौतिक सम्पत्ति से वंचित हो जाओगे। अब तक तुमने अपने पितर देवता 'ग्रंगकू' के नाम पर प्रतिमास कई पशुओं की हत्या की है, अब इस देवता को जला दो और इसके स्थान पर षड्भुज भगवान बुद्ध को दूध, दही, मक्खन फल आदि अर्पित कर पूजा करो।" इस उपदेश के फलस्वरूप कई मंगोल कबीलों में इस नृशंस प्रथा का अन्त हुआ।

सती का सर्वप्रथम उल्लेख—

काश्मीर के इतिहासकार कल्हण के अनुसार सब से पहली सती अशोक के पुत्र जालौक की पत्नि वाकपुष्टा की थी। कल्हण ने राजतरंगिणी में इसका उल्लेख इस प्रकार किया है :—

> वर्षः शट् त्रिशता शान्ते पत्यौ विहजो ज्वरः ।
> तत्यजे ज्वलन ज्वाला नलिन प्रच्छेद तया ॥ ३.५६ ॥
> सा यत्र शुचि चरित्रा विपन्न पतिमन्वगात् ।
> स्थानं जनैः, तद्वाक पुष्टा तवीत्यद्यापि गद्यते ॥ ६.५७ ॥

छतीस वर्ष व्यतीत होने पर पति के निधन पर उसने पति की ज्वाला पर अपने विरह ज्वर का अन्त किया। उस शुचि चरित्र ने जहां पति की अनुगमन किया उस स्थान को आज भी वाकपुष्टाटवी कहते हैं। रानि वाकपुष्टा के सती होने की घटना लगभग ई० पूर्व १९६ वर्ष की होगी। अशोक का राज्यारोहण ई० पू० २६६

में हुआ और उनके शासन का अन्त ई० पू० २३२ में हुआ माना जाता है। इसके ३६-३७ वर्ष बाद ई० पू० १९६ में अशोक-पुत्र जालौक का निधन हुआ होगा। जालौक काश्मीर का शासक था।

सिकन्दर के यूनानी इतिहासकारों ने भी कुछ जातियों में सती प्रथा के प्रचलित होने का संकेत दिया है। परन्तु पंजाब में तब यह प्रथा नहीं थी। सम्भवत: यूनानी इतिहासकारों का संकेत काश्मीर और उत्तर-पश्चिम में बसे खशों की ओर हो। उनमें तब यह रिवाज प्रचलित था।

सती का दूसरा ऐतिहासिक प्रमाण सातवीं सदी में हर्ष के समय का मिलता है। हर्ष की माता यशुमति प्रभाकरवर्धन के लड़ाई में मारे जाने पर सरस्वती के तट पर सती हुई थी। इसी प्रकार हर्ष की बहिन राज्यश्री विन्ध्य क्षेत्र में पति के लड़ाई में मारे जाने पर आग में जल कर सती होने वाली थी कि हर्ष ने उसको बचा लिया था। उसके बाद राजपूत-काल में तो सती का व्यापक प्रचार हुआ और सती होना प्रतिष्ठा का सूचक बन गया।

हिमालय क्षेत्र की विशेषता :–

हिमालय क्षेत्र के मूल निवासियों के सम्बन्ध में अभी तक कोई एक सर्व-सम्मत धारणा नहीं है; परन्तु अधिकांश इतिहासकारों की यह धारणा है कि सदियों पहले शक और उनसे सम्बद्ध मध्य एशिया के घूमन्तू कबीले काश्मीर से नेपाल तक फैले और आज अधिकांश जनसंख्या उन्हीं के वंशीधरों की है। देश-काल के अन्तर से इनके कई नाम, जातियां और वर्ग हुये। खश या खश्या, कुलिन्द या कनैत, मावी या मवाना, मौन या मोनपा एक ही जाति के नाम-रुपान्तर हैं। सदियों पुराने इतिहास के उलट-फेर, अनेक जातियों के रक्त-सम्मिश्रण, सांस्कृतिक सम्पर्क और निरन्तर जीवन-संघर्ष से इनका स्वरूप इतना बदल गया है कि पुरातन एक-रूपता पहचानना कठिन है। लद्दाख से कुमांऊ क्षेत्र तक पाई जाने वाली कब्रों की खुदाई में एक ही कब्र में कई स्त्रियों और पुरुषों के अस्थि-अवशेष मिलने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सदियों पहले यहाँ भी उक्त प्रकार की शव-क्रिया होती थी। अत: कोई आश्चर्य नहीं कि हिमालय के कुछ क्षेत्रों में अपने पुरातन पूर्वजों की प्रथा के अनुरूप कुछ समय पहले तक शासक स्वामी या सामन्त की चिता पर स्त्रियों के साथ पुरुष भी 'सती' होते थे या सामन्त की पत्नि के साथ उसकी परिचारिकाएँ भी-जल मरती थीं। पर इसके मूल में सामन्तवर्ग का स्वार्थ और अतिआकांक्षा निहित थी— मरणोपरान्त जीवन में भी उनकी सत्ता और ऐश्वर्य-भोग अक्षुण्ण और अपरिमित रहे।

सती-प्रथा का भारतीय रूप :—

भारतीय आचार्यों, मनीषियों और स्मृतकारों ने इस प्रथा को एक उदात्त रूप प्रदान किया। पुनर्जन्म की पृष्ट भूमि पर इस प्रथा को उन्होंने प्रतिष्ठित किया; पति-पत्नी का जन्म-जन्मान्तर का अटूट सम्बन्ध मानकर सती-प्रथा को एक सम्मानित स्थान देने का प्रयत्न किया। महासतियों की संकलपना करके इस

सम्बन्ध को अत्यन्त पुनीत और सम्वेदनशील बनाया। "पतिसतीनाम् हि परम् दैवतम्" की उन्नत भावना से जन्म-जन्मान्तर के अटूट सम्बन्ध को ऊंची प्रतिष्ठा मिली। इसके विपरीत यदि विधवा कुलटा और कलंकिनी हो जाय तो जन-मानस में यह भावना दृढ़ विश्वास के रूप में थी कि ऐसी कलंकिनी न केवल अपने-आपको वरन् अपने दिवंगत पति और उसके परिवार को नरक गामी बनाती है। तुलसीदास ने भी नरक जाने की धमकी दी थी--"वृद्ध रोग बस धन हीना, अन्ध बधिर क्रोधी अति दीना। ऐसे पतिकर किये अपमाना, नारि पाव जमपुर दुःख नाना॥" सारे परिवार को नरकगामी बनाने से तो अच्छा यही है कि वह चिता में अपने पति की सहगामिनी बने और कुल-मर्यादा को कायम रखे। सती, साध्वी और पति-परायणा स्त्री की पावन कल्पना से जहाँ दाम्पत्य जीवन की पवित्रता बढ़ी जो भारतीय संस्कृति का विशिष्ट देन है, वहां सती की कुत्सित प्रथा के प्रति समाज और स्मृति-कारों का दृष्टिकोण इसके समर्थन में उदार और सहिष्णु हो गया।

ऐसा प्रतीत होता है कि सातवीं सदी से यह प्रथा उत्तरोत्तर भारत में फैलने लगी। उत्तर में काश्मीर से लेकर धुर दक्षिण तक यह प्रथा कुलीन परिवारों में व्यापक रूप से फैली। ग्यारहवीं सदी के प्रथम चरण में अलबरूनी भारत में आया। उसने सती-प्रथा की व्यापकता उल्लेख किया। मार्कोपोलो तेरहवीं सदी के अन्तिम वर्षों में दो बार धुरदक्षिण में पाण्ड्या राज्य में आया। उसने सती-प्रथा की व्यापकता की ओर संकेत किया। मध्यकालीन भारत में यह प्रथा सर्वत्र फैल गई; विशेष रूप से शास्त्र और स्मृति धर्म-पोषक कर्मकाण्डी समाज में। मुगल-सत्ता के चरमोत्कर्ष काल में (अकबर से औरंगजेब के शासनकाल में) इस प्रथा पर कुछ नियन्त्रण रहा। परन्तु तत्पश्चात् सती होना प्रतिष्ठा का विषय बन गया; अन्यथा सिख सम्प्रदाय के अनुयाई महाराज रणजीतसिंह के १८३९ में निधन होने पर छबीस स्त्रियों का उसकी चिता पर सती होना उस सम्प्रदाय की विचार-धारा के अनुरूप प्रतीत नहीं होता है। अट्ठारहवीं सदी में जो मुगल-सत्ता के ह्रास और अंग्रेजी-सत्ता के उदय का सन्धि-काल था, राज्य-भय के अभाव में इस प्रथा ने अत्यन्त उग्र रूप धारण किया। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में दलित स्त्री-समाज के उद्धार के लिये मसीहा के रूप में बंगाल में राजा राममोहनराय का उदय हुआ। जिनकी प्रेरणा और प्रयास से सन् १८२९ में लॉर्ड विलियम बैंटिक ने इस प्रथा को कानून-विरुद्ध घोषित किया। पर तब भी देसी राज्यों में यह प्रथा पूर्ववत चलती रही। चम्बा राज्य में अन्तिम सती राजा चतरसिंह के मरने पर १८४४ में हुई थी, इसमें दो रानियां और छः बान्दियां राजा की चिता पर जली थीं। मण्डी में १८३९ में राजा जालसेन के मरने पर अन्तिम सती हुई थी। तब ये राज्य महाराजा रणजीत सिंह के अधीन थे। भारत में अन्तिम ज्ञात सती सन् १८६१ में उदयपुर मेवाड़ के तत्कालीन महाराणा के निधन पर हुई बताई जाती है।

१८. बुशैहर और पश्चिमी तिब्बत की चिर मैत्री

हिमाचल प्रदेश में विलय होने वाली शिमला पहाड़ की रियासतों में बुशैहर क्षत्र-फल की दृष्टि से सबसे बड़ा राज्य था। अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पर स्थित होने से पुराने समय से ही व्यापारिक और राजनैतिक दृष्टि से इस राज्य का सदा ही बड़ा महत्व रहा है। इसके सीमावर्ती इलाके को पुराने जमाने से कर्न र या कनावर कहते थे। यह भी सम्भव है कि इसको 'मौन' भी कहते हों - लद्दाख और इसके आस-पास के इलाके, लाहौल-स्पिति में यह नाम प्रचलित था। तिब्बती लोग इस क्षेत्र को कुन्नू' कहते थे। पश्चिमी तिब्वत में यह नाम प्रचलित था। आजकल इसका नाम किन्नौर जिला है। बुशैहर की मूल राजधानी सांगला के निकट 'मौने' नाम के गांव में थी जहाँ अब भी एक पुराना किला विद्यमान है।

जास्कर पर्वतमाला की एक शृंखला कनावर और पश्चिमी तिब्वत के बीच एक प्राकृतिक सीमा-रेखा है। इसके सम्बन्ध में बुशैहर और पश्चिमी तिब्वत (गूगे) के मध्य कभी कोई विवाद नहीं रहा। शिपकी का दर्रा पुराना व्यापारिक राज-मार्ग रहा है।

जनश्रुति :—

प्राप्य ऐतिहासिक प्रमाणों से पता चलता है कि बुशैहर और पश्चिमी तिब्वत (गूगे) के अज्ञात अतीत से सम्बन्ध बहुत सौहार्द-पूर्ण रहे हैं—राजकीय स्तर पर कभी कोई संघर्ष नहीं रहा जैसा कि पड़ौसी देश में रहता रहा है। परन्तु अराजकता की स्थिति पुराने समय में सभी जगह रही। पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण तक यह स्थिति रही। बुशैहर ओर पश्चिमी तिब्बत इसके अपवाद नहीं हो सकते हैं।

पुराने समय से किन्नौर के जन-मानस में कुछ ऐतिहासिक घटनाओं की स्मृति कथा, गीत और किंवदन्ति के रूप में प्रचलित है; विशेषत: पश्चिमी तिब्बत के साथ कन्नौर के सम्बन्धों के बारे में जिनसे यह आभास मिलता है कि कनौर और पश्चिमी तिब्वत के पारस्परिक सीमा-क्षेत्र में लूट-मार होती थी। कभी तिब्बती लुटेरे कनावर में आते और लूटमार करके भाग जाते थे। समय मिलने पर कन्नौरे भी पश्चिमी तिब्बत में जाकर ऐसा ही करते थे। किंवदन्ति के अनुसार पारस्परिक लूट-मार का यह क्रम सदियों तक चलता रहा। कहा जाता है कि जब ये लुटेरे कन्नौर में आते तो लोग दूर-दूर तक दिखाई देने वाली पहाड़ की चोटियों पर रात के समय आग जलाते ताकि इलाके में दूर-दूर तक इन लुटेरों के आने की सूचना पहुँच जाय और लोग आत्म-रक्षा और लुटेरों का मुकाबला करने

के लिये तैयार हो जाय। एक ऐसा ऊँचा स्थान वर्षों पहले मुझे भी दिखाया गया। वहाँ एक मकान के भग्नावशेष और ढेर-सारी लकड़ी के कोयले थे। यह स्थान बस्पा ओर सतलुज घाटी के बीच स्थित हारङ्ग घाटी पर है। यह स्थान लगभग ग्यारह सौ फुट की ऊँचाई पर होगा। परम्परा यह बताती है कि इसके निकटस्थ गाँव मेबर के लोग इस आग को प्रज्वलित करते थे। यह स्थान इतना ऊंचा है कि उपरि सतलुज-उपत्यका के दूर-दूर तक के गाँव यहाँ से दिखाई देते हैं। सम्भव है कि इस प्रकार से कई और स्थानों पर भी आग जलाई जाती हो।

प्रचलित लोक-परम्परा यह भी बताती है कि एक बार कनौर का राजा केहरी सिंह (१६३९-१६९६) अपने दल-बल के साथ शिप्की के पार तिब्बत में गया हुआ था। वहां उसकी तिब्बत के सेना-पति ग्यालदेन छेवङ्ग से मुठभेड़ हुई। इस आकस्मिक मिलन का परिणाम यह हुआ कि दोनों में मित्रता हो गई और दोनों ने यह सङ्कल्प किया कि आगे से वे एक-दूसरे के प्रदेश को नहीं लूटेंगे। एक-दूसरे के क्षेत्र में बिना कर और बन्धनों के उन्मुक्त व्यापार की भी सुविधा होगी। इसमें यह बात भी शामिल थी कि मित्रता का यह संकल्प तब-तक कायम रहेगा जब तक कैलाश पर हिम रहेगा, मानसरोवर में पानी रहेगा और जब-तक काला कौआ सफेद नहीं हो जाता। ऐसा कहा जाता है कि इस घटना के पश्चात् पारस्परिक लूट-मार का पुराना क्रम समाप्त हुआ और मित्रता-पूर्ण सम्बन्ध बढ़े।

भ्रामक धारणा :—

लोगों में यह धारणा है कि उक्त घटना के समय दोनों देशों में एक सन्धि हुई थी जिसमें उपरोक्त बातों का उल्लेख था। तिब्बत ने अपने लम्बे संघर्ष-पूर्ण इतिहास में पड़ोसी देशों के साथ कई सन्धियाँ कीं। इन में चीन, भारत, नेपाल, भूटान आदि उल्लेखनीय हैं। इन देशों से जो सन्धियां हुईं, वे सभी उपलब्ध हैं। परन्तु बुशैहर की साथ हुई तथा-कथित सन्धि का तिब्बत के इतिहास में कोई उल्लेख नहीं। एक सन्देहास्पद अभिलेख सन् १९३३ में डॉ० टूची को नामग्या में मिला था। नामग्या कन्नौर का अन्तिम गांव है, इस का सम्पादन इटली के ही डॉ० पीटक ने किया। इस अभिलेख की एक प्रति सन् १९०९ में ए० एच० फ्रंक को नामग्या में मिली थी और एक प्रति उसने किसी व्यक्ति को पूह से पश्चिमी तिब्बत में स्परङ्ग भेजकर वहां के ग्रपुङ्ग (गवर्नर) से प्राप्त की थी। उसने अपनी पुस्तक Antiquity of Indian Tibet में संग्रहीत अभिलेखों में इस अभिलेख का नामग्या नाम से संकेत दिया है; परन्तु उसने इसका सम्पादन नहीं किया और ना ही इसके तथ्यों के बारे में कुछ लिखा। सन् १९४७ में डॉ० एल० पीटक ने इस अभिलेख का सम्पादन भारतीय ऐतिहासिक जनरल Vol. XX-III-३ में किया। डॉ० फ्रंक १९०९ में रामपुर-बुशैहर और लाहौल-स्पिती क्षेत्र में भारतीय पुरातत्त्व विभाग की ओर से सर्वेक्षण करने गया था। रामपुर के एक भीति-चित्र को देखकर, उसकी व्याख्या करते हुए उक्त ग्रन्थ में उसने लिखा :—

In one of the Rajah's garden houses, he had more Lamaist frescoes. One of them interested me in particular; for it evidently refers to a historical scene When we met His Highness Shamsher Singh later, he told us that the picture was a copy of a picture in the palace at Lhassa. The picture evidently represents a treaty between Tibet and Bushahar concluded about 1650 A. D. when Bushahar was supported by the Mughals. The Mughal Emperor is surrounded by his Soldiers. The elephant-approaching from the left in either the retenue of the Mughals or of Bushahar King Kehari Singh. A party of Bushahar people distinguished by their round caps are placed in front of the Mughals while the embassy from Tibet is Shown in the left who were defeated by the Mughals at Basgo near Leh and Tibet had to Leave a portion of Guge viz Sutluj Valley upto Wangtoo to the Bushahar State.

डॉ० फ्रैंक की उक्त धारणा तथ्य-हीन और सर्वथा झूठी है—भारत की अखण्डता के प्रति एक आघात-जैसा है। वर्तमान पुस्तक में सर्वत्र यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि बुशैहर मूलतः कनौर क्षेत्र का राज्य था और आरम्भ में इसकी सीमा वांगतू से आगे नहीं थी। कनौर का मौने गांव इस राज्य की राजधानी थी। केहरी सिंह का राज्य सतलुज की उपरि उपत्यका था। उसी के राज्य-काल में इसकी सीमा सरहान तक गई और उसी के समय में सम्भवतः सरहान बुशैहर की राजधानी बनी। यह शीश महल जिसमें उक्त भीति-चित्र बना था, वह बहुत प्राचीन नहीं था। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में यह बना था और धूमिल जनश्रुति के आधार पर किसी चित्रकार ने इसको बनाया होगा। न तो मुगलों ने बुशैहर की ओर से कोई लड़ाई लड़ी थी और नाही बुशैहर और तिब्बत के बीच कोई संघर्ष हुआ था। युद्ध तो लद्दाख और तिब्बतियों के मध्य हुआ था। बुशैहर ने तिब्बत का साथ दिया था और मुगलों ने तिब्बत के विरुद्ध लद्दाख की सहायता की थी जैसा कि आगे उपलब्ध नामग्या अभिलेख में वर्णित तथ्यों से स्पष्ट होगा। वांगतू तक का प्रदेश तथा कथित सन्धि से पूर्व पश्चिमी तिब्बत, गूगे के अधीन होना असत्य और असंगत है। केहरी सिंह बुशैहर राज्य का सत्रहवीं सदी के उत्तरार्द्ध का शासक था। इससे पहले इस राजवंश की कई पीढ़ियां हुईं। केहरी सिंह से तीसरी पीढ़ी पर रामसिंह हुआ जिसने रामपुर को अपनी राजधानी बनाया। रामसिंह ११८ वीं पीढ़ी पर हुआ। रामपुर की स्थापना अट्ठारहवीं सदी में हुई। केहरी सिंह बड़ा प्रभावशाली राजा हुआ है। उसके समय बुशैहर का वांगतू से आगे दक्षिण की ओर विस्तार हुआ। यह इलाका उसने कुल्लू से हस्तगत किया था कुल्लू के ऐतिहासिक विवरण में ज्यूरी में कुल्लू की सेना के पराजित होने का उल्लेख आता है। यह मुठ-भेड़ निःसन्देह बुशैहर के साथ हुई थी।

नामग्या अभिलेख—

यह अभिलेख ४५ पंक्तियों में तिब्बती भाषा में है और कुछ असम्बद्ध और अलौकिक भाव और भाषा में लिखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह घटना-विवरण रूप में है और किसी ने यह प्रतिवेदन सूचनार्थ तिब्बत सरकार को भेजा था। पर भेजने वाले का नाम उल्लिखित नहीं है। इसमें भाषा और वर्ण-विन्यास की कई अशुद्धियां हैं। सम्भवतः ये अशुद्धियां प्रतिलिपि करने वाले ने की हों। हो सकता है कि मूल की प्रतिलिपि न होकर किसी प्रतिलिपि की ही नकल हो और इस प्रकार अशुद्धियों का क्रम बढ़ गया हो। इस में वर्णित मुख्य तथ्य इस प्रकार है :—

"पुराने जमाने में पश्चिमी तिब्बत में जिसको तिब्बती लोग नारी कोरसुम का प्रदेश कहते थे और जिसमें पुरङ्ग, गूगे और रोथक के क्षेत्र सम्मिलित थे, गूगे का राज्य था। बाद में लद्दाख ने उस सारे प्रदेश पर अधिकार कर लिया। तिब्बत के सेना-पति को आकाशवाणी से देवाज्ञा मिली कि तुम सेना लेकर 'नारी कोरसुम' याने पश्चिमी तिब्बत जाओ। यह प्रदेश तुम्हारे अधीन हो जावेगा। फलतः ग्यालदेन छेवङ्ग सेना लेकर नारी कोरसुम गया। मानसरोवर क्षेत्र में ग्यालदेन छेवङ्ग को केहरि सिंह मिला। वैसे निचले क्षेत्र से १५ राजा और १८ सामन्त लड़ाई में भाग लेने के लिये बुलाये थे, पर वे नहीं आये। ग्यालदेन छेवङ्ग और केहरिसिंह के मध्य एक अक्षुण्ण अनुबन्ध हुआ। महामुनि (बुद्ध) की शपथ लेकर घोषणा की गई कि जब तक जम्बू द्वीव के मध्य में स्थित और त्रिकालदर्शी देवताओं के वास कैलाश पर हिम रहेगा, जब तक मानसरोवर में पानी रहेगा, जब तक कल्पान्त नहीं होता तब तक हमारी मैत्री कायम रहेगी।"

इसके अतिरिक्त उन्मुक्त व्यापार, लोगों के आने-जाने की सुविधा और सुरक्षा एवं बुशैहर से तीन वर्ष के अन्तराल के बाद राजदूत का नारीकोरसुम के प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों में आने और वहां रहने का प्रावधान का भी इस अभिलेख में उल्लेख है, आगे इस अभिलेख में बुशैहर के मंत्री का बुशैहर की सेना लेकर ग्यालदेन देवङ्ग के साथ लद्दाख पर आक्रमण करने का उल्लेख है। उससे पहले उन्होंने नारीकोरसुम पर अधिकार कर लिया और बिना अधिक प्रयास के लद्दाख भी जीत लिया और वहां के कोषागार को अपने अधिकार में ले लिया। लद्दाख का राजा डेलगस नामग्याल अपने मंत्री शाक्य ग्यालसो के साथ भागकर श्रीनगर में मुगल राज्य-पाल की शरण में गया। जब मुगल सेना लद्दाख पहुंची तो बुशैहर के मंत्री और ल्हासा सरकार के एक उच्च अधिकारी ने गुप्त रूप से पन्द्रह भार सोने-चान्दी के मुगलों को रिश्वत के दिये और मुगल-सेना लद्दाख छोड़ कर चली गई। इसके पश्चात् लद्दाख और नारीकोरसुम तिब्बत और बुशैहर के अधीन हो गये और दोनों राज्यों के रिकॉर्ड में दर्ज कर दिये गये।

तिब्बत और लद्दाख में संघर्ष—

इस अभिलेख के अन्तिम भाग में तिब्बत-लद्दाख के बीच लड़ाई का उल्लेख है। ऐतिहासिक घटना इस प्रकार से थी : सन् १६४४-४५ में लद्दाख ने पश्चिमी

तिब्बत के नारीकोरसुम क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। पर लद्दाख इस क्षेत्र के के शासन-व्यस्था को ठीक ढंग से नहीं चला रहा था। व्यापारिक दृष्टि से यह प्रदेश महत्वपूर्ण था। ल्हासा-गढ़तोक-लेह-यारकन्द व्यापारिक राज-मार्ग इस क्षेत्र से गुजरता था। इसी प्रकार नारीकोरसुम से शिप्की के मार्ग बुशहर से, नीति-माणा के दर्रे से गढ़वाल के साथ, दार्मा से कुमाऊं के साथ और तकलाकोट के मार्ग से नैपाल के जुमला राज्य के साथ व्यापार होता था। परन्तु यहां अराजकता फैली थी। लूट-मार करने वाले दलों का बोल-बाला था। इस सन्दर्भ में १८४०-४१ में पश्चिमी तिब्बत पर जोरावर सिंह के आक्रमण के समय इसी प्रकार व्यापार की क्षति का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। उस समय ईस्ट इंडिया कम्पनी सरकार ने सिख दरवार को एक विरोध-पत्र भेजा था क्योंकि जोरावरसिंह के अभियान से उक्त मार्गों से व्यापार को क्षति पहुंच रही थी। ऊन, पशम, अबरक और नमक आदि का विपुल व्यापार इसी क्षेत्र से होता था।

जिस समय की यह घटना है उस समय पंचम दलाई लामा नावाङ्गलोजङ्ग ग्यात्सो (१६६७-८२) कोसोट मंगोलों के संरक्षण में तिब्बत के शासन का पुनर्गठन कर रहा था। शासन दलाई लामा के हाथ में था; पर प्रभु-सत्ता मंगोल सरदार गुसेरी खान के हाथ में थी। गुसेरीखान ने १६४२ ई० पंचम दलाई लामा को तिब्बत का शासक नियुक्त किया। नारी कोरसुम पर आक्रमण का एक और भी कारण था। नारी कोरसुम के निवासी प्रधानतः दलाई लामा की धर्म परम्परा ग्यालुक्पा सम्प्रदाय के अनुयाई थे; परन्तु लद्दाख का राजवंश और जनता बरुक्पा धर्म-परम्परा को मानने वाले थे। इन दो सम्प्रदायों में आपस में वैमनस्य था। लद्दाख के वरुक्पा राज्याश्रय में नारी कोरसुम के ग्यालुक्पा लोगों को तंग कर रहे थे। अत: दलाई लामा का ग्यालुक्पा का धर्माधिष्ठाता के नाते अपने सम्प्रदाय के लोगों की रक्षा करना कर्तव्य बन जाता था। प्रो० पीटक के अनुसार सन् १६८१वें ग्यालदेन छेवङ्ग के सेनापतित्व में तिब्बत ने पश्चिमी तिब्बत और लद्दाख पर आक्रमण किया। ग्यालदेन छेवङ्ग सैनिक नहीं था। वह ताशीलम्पो विहार में एक प्रसिद्ध भिक्षु और आचार्य था। वह बौद्ध धर्म और दर्शन-शास्त्र का प्रकाण्ड पण्डित था। उसकी विद्वता और शास्त्रार्थ करने की योग्यता की उस विशाल विहार में धाक जमी थी। भिक्षु-पद में दीक्षित होने से युद्ध जैसे हिंसक कार्य में उसकी कदापि रुचि नहीं थी। परन्तु दलाई लामा के आग्रह पर एवं धर्म-रक्षा के नाम पर उसको यह कार्य-भार लेना पड़ा। राजवंशीय होने से भी ग्यालदेनछेवङ्ग को इस पद के लिये उपयुक्त पात्र समझा गया। वह तिब्बत के तत्कालीन मंगोल शासक डलस खान का सगा चचेरा भाई था और उत्तर-पूर्वी प्रदेश कोकोनोर में उसकी विस्तृत जागीर थी। इस अभियान में ग्यालदेन छेवङ्ग के साथ चुने हुये मंगोल सैनिक थे। मानसरोवर प्रदेश में उसकी केहरीसिंह से मुलाकात हुई और ऐसा प्रतीत होता है कि ग्यालदेन छेवङ्ग ने केहरीसिंह से इस अभियान के लिये सहायता मांगी। नामग्या अभिलेख में वर्णित

मित्रता का संकल्प व्यक्त किया गया। यह सब कार्य मौखिक सम्पन्न हुआ था। महामुनि (बुद्ध) की शपथ लेकर एक पुण्य स्थल पर मित्रता का संकल्प किया गया था। ऐसी स्थिति में इसके परिपालन और चिरस्थायी होने में कोई सन्देह नहीं था। एक रोचक बात यह थी कि अच्छे सम्बन्धों के अनुबन्ध द्वारा पक्का करने की प्राचीन प्रथा यह थी कि परिचित प्राकृतिक, चिरस्थायी स्थूल चिन्हों का आश्रय लिया जाता था। कैलाश में हिम और मानसरोवर में पानी का अस्तित्व चिरस्थायी और शाश्वत है। अनुबन्ध का स्थायित्व इन प्राकृतिक स्थूल रूपों की नित्यता से व्यक्त किया गया है। सदियों पहले लद्दाख के राजा लाछेण उत्तपाल (११२५-११५०) के समय कुल्लू (ल्यूंगती) के साथ लद्दाख का एक समझौता हुआ था। उसमें भी, "जब तक कैलाश में हिम और मानसरोवर में पानी रहेगा तब तक यह सन्धि अक्षुण्ण रहेगी" ऐसी ही भाषा का प्रयोग हुआ था। मानसरोवर की पुण्य स्थली में सम्पन्न हुई सन्धि में ऐसी भाषा और भावना की अभिव्यक्ति स्वाभाविक थी।

राजा केहरी सिंह स्वयं इस अभियान में नहीं गया। कनावर वापिस आकर उसने अपने मंत्री के साथ सेना को भेजा। मंत्री के नाम का उल्लेख नहीं है। लेह पर अधिकार करने के बाद तिब्बती सेना ने लद्दाखियों का पीछा किया और लेह के दक्षिण में बास्गो के किले में लद्दाखी सेना की घेराबन्दी की। यह घेरा शीतकाल में छ: महीने तक चलता रहा। इस अवधि में लद्दाख ने काश्मीर के मुगल गवर्नर इब्राहीम खां से सैन्य सहायता मांगी। यह औरंगजेब का शासन-काल था। मुगल सम्राट् उस समय दक्षिण के अभियान में व्यस्त औरंगाबाद में था। वहां से औरंगजेब ने सहायता की स्वीकृति दी। सहायता देना दो प्रमुख शर्तों पर धर्मान्ध सम्राट् ने स्वीकार किया। प्रथम राजा सपरिवार इस्लाम धर्म को स्वीकार करे। दूसरा, मुगल-अधीनता के प्रतीक के रूप में काश्मीर के गवर्नर को लद्दाख वार्षिक नज़राना दे। संकट-ग्रस्त राजा ने दोनों शर्तें स्वीकार करलीं। तत्पश्चात् मुगल-सेना ने लद्दाख की ओर प्रस्थान किया। ग्यालदेन छेवङ्ग की तिब्बती सेना और बुशैहरी सैनिकों का अशिक्षित और युद्ध-कला में निपुण मुगल-सेना का मुकाबला करना सम्भव न था। मुठ-भेड़ में तिब्बती परास्त हो गये। पर नामग्या-अभिलेख के अनुसार बुशैहर के वजीर और एक तिब्बती अधिकार ने गुप्तरूप से मुगलों को पन्द्रह भार सोना-चान्दी के दिये और वे चुपचाप वापिस लौट गये। यह सब सम्भव था। धन-लोलुपता उस युग के युद्धों का प्रमुख लक्ष्य होता था। यह धन विजेता के कोष में ही नहीं जाता था, वरन् इसका कुछ भाग सैनिकों में बांटा जाता था। ग्यालदेन छेवङ्ग को लेह के कोषागार में अतुल धन-राशि मिली थी। विजेता को यह धन देकर सन्तुष्ट करना कोई कठिन काम नहीं था। मुगल-सेना इब्राहीमखां के पुत्र फिदाईखां के सेना-पतित्व में आई थी। पन्द्रह भार सोना-चान्दी पाकर वह पूर्ण विजय के उल्लास में वापिस चला गया। तिब्बतियों ने अपनी सुविधा और इच्छा के अनुरूप सन्धि की शर्तें लद्दाखियों पर लादीं। नारीकोर्सुम का क्षेत्र तिब्बत ने ले लिया। डॉ० पीटक

के अनुसार स्पिति की निचली घाटी जिसको हांगरंग क्षेत्र भी कहते हैं, बुशैहर को मिली। तब तक लाहौल-स्पिति लद्दाख के अधीन थे। परन्तु इस पराजय के बाद कुल्लू के राजा विधिसिंह और बाद में मानसिंह ने सारे लाहौल-स्पिति पर अधिकार कर लिया। बोगल और एचीसन ने अपने पंजाब के पहाड़ी राज्यों के इतिहास में ग्यालदेन छेवङ्ग की एक फौजी टुकड़ी का लाहौल पर आक्रमण का उल्लेख किया है। इस विवरण के अनुसार इस टुकड़ी ने केलाङ्ग के किले पर अधिकार कर लिया। जब यह टुकड़ी गोंदला के पास से गुजर रही थी तो ऊपर से एक हिमानी आई और अधिकांश सिपाही उसमें दब कर मर गये। शेष वहां से वापिस चले गये। इस स्थान पर बाद तक उनकी हड्डियों का ढेर दिखाई देता था। ग्यालदेन छेवङ्ग एक विशाल सेना लेकर तिब्बत से चला था। बास्गो के किले की घेराबन्दी शीतकाल में चलती रही। यह सम्भव है कि सेना की एक टुकड़ी ने शीतकाल से पहले बारालाचा दर्रे को पार करके शीतकाल में सैनिक लाहौल में लूट-पाट में व्यस्त हो गये हों। अत: गोंदला के निकट बर्फ में दबने की घटना सम्भव हो। लद्दाख की पराजय के बाद कुल्लू के राजाओं ने अवसर का लाभ उठाकर सारे लाहौल-स्पिति पर अपना अधिकार कर लिया और १८४६ में अंग्रेजी राज्य में विलय होने तक यही स्थिति रही।

रोचक बात यह है कि परिस्थितियों का ऐसा संयोग हुआ कि बुशैहर को तिब्बतियों के साथ मिलकर मुगलों का मुकाबला करना पड़ा। सम्भवतः तब तक बुशैहर की राजधानी मौने (कामरु) में हो और कनौर के दूरस्थ क्षेत्र में यह राज्य सीमित हो। इस कारण मुगल-सत्ता का आतङ्क यहाँ तक न पहुंचा हो। वैसे औरंगजेब से एक सदी पूर्व अकबर के समय में कांगड़ा और डूगर (जम्मू) समुदाय के बाईस राजकुमार बन्धक के रूप में मुगल-दरबार में रह रहे थे। पर ये राज्य मुख्यत सिन्ध और ब्यास नदी के मध्यवर्ती क्षेत्र के थे। सुदूर सतलुज की उपत्यका का यह सीमावर्ती राज्य मुगलों के आतङ्क से अछूता रहा हो। औरंगजेब के बाद तो यह आतङ्क समाप्त ही हो गया। उपरोक्त पहाड़ी राज्य धीरे-धीरे सभी स्वतंत्र हो गये। स्वयं लद्दाख के राजवंश ने इस्लाम धर्म को त्याग कर पुन: बौद्ध धर्म में दीक्षा ले ली और महाराजा रणजीत सिंह के उदय तक लगभग एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में रहा।

बुशैहर और पश्चिमी तिब्बत—

संक्षेप में नामग्या अभिलेख से मुख्यत: तिब्बत-लद्दाख की लड़ाई, पश्चिमी तिब्बत की राजनैतिक स्थिति और बुशैहर व पश्चिमी तिब्बत के सम्बन्धों को समझने में मदद मिलती है। यह अभिलेख किसी के द्वारा लिखी चिट्ठी या प्रतिवेदन की नकल प्रतीत होता है। कालान्तर में इसमें कई प्रकार की अशुद्धियाँ आ गईं; पर

ये भाषा सम्बन्धी हैं; मूल तथ्य अपने पूर्व रूप में ही सुरक्षित हैं। युद्ध की समाप्ति के बाद ग्यालदेन छेवङ्ग नारीकोरसुम-क्षेत्र को विधिवत् ल्हासा सरकार को सौंपने गया और उसने अपने निजी सचिव लोवजङ्गपद्मा को विजित प्रदेश का गर्वनर नियुक्त किया। सम्भव है कि यह लिखित सूचना उसी ने ल्हासा सरकार को भेजी हो जैसा कि इससे स्पष्ट होता है। इस पत्र का आरम्भ पुरानी भारतीय परम्परा के अनुरूप संस्कृत वाक्य से होता है :—

"ओं स्वति: श्री: । श्रेष्ठ धर्मपालक परम भट्टारक धर्मानुशासित ल्हासा सरकार के कमल चरणों में निवेदन है।…… "

इस आरम्भिक औपचारिक शिष्टाचार के बाद उपरोक्त तथ्यों की चर्चा की गई है। नारीकोरसुम में लेह-सरकार की अव्यवस्था से लेकर ग्यालदेन छेवङ्ग का युद्ध के लिये तिब्बत से प्रयाण, मानसरोवर क्षेत्र में केहरीसिंह से मिलन, चिर मैत्री के संकल्प की घोषणा, लद्दाख पर अभियान, मुगलों का आना, उनको गुप्त रूप से घूस देना और नारीकोरसुम का ल्हासा व बुशैहर के रिकार्ड में दर्ज होना इसके मुख्य वर्णित तथ्य हैं। इस अभिलेख के अन्त में बुशैहर (कुनू) और तिब्बत के पुराने सम्बन्धों का बड़े सौहार्द और भाव पूर्ण ढंग से उल्लेख किया गया है। बुशैहर के राजवंश की सत्य-निष्ठा के लिये भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। अन्तिम पैराग्राफ इस प्रकार है :—

"बहुत प्राचीन काल से अब तक बुशैहर की १३ राजवंशीय पीढ़ियां हो गई हैं। बुशैहर का धर्मात्मा राजा सदा ही विश्वास-योग्य रहा है। वह अपने वचन से कभी भी बाल-भर इधर-उधर नहीं हुआ है। यह बहुत पुरानी पुण्यमयी परम्परा है और आज भी जीवित है। हमारी कामना है कि यह इसी प्रकार अक्षुण्ण रहे।"

ग्यालदेन छेवङ्ग और केहरी सिंह ने मानसरोवर क्षेत्र में सौहार्दपूर्ण पुराने सम्बन्धों की मौखिक घोषणा की और पुरानी परम्परा के अनुरूप उन पर आचरण करने का संकल्प दुहराया। यह घटना १६८१ ई० की है। उसके अगले वर्ष पंचम दलाई लामा नावाङ्गलोवजङ्ग ग्यात्सो का निधन हो गया।

मित्रता के आचार-व्यवहार को निभाने के लिये हर तीसरे वर्ष बहुत पुराने समय से बुशैहर और गढ़तोक गुरुपुङ्ग (गावर्नर) के बीच मूल्यवान उपहारों का आदान-प्रदान होता था। साम्यवादी चीन का तिब्बत पर अधिकार होने पर यह पुरानी परम्परा समाप्त हुई।

के अनुसार स्पिति की निचली घाटी जिसको ह्रांगरंग क्षेत्र भी कहते हैं, बुशैहर को मिली। तब तक लाहौल-स्पिति लद्दाख के अधीन थे। परन्तु इस पराजय के बाद कुल्लू के राजा विधिसिंह और बाद में मानसिंह ने सारे लाहौल-स्पिति पर अधिकार कर लिया। वोगल और एचीसन ने अपने पंजाब के पहाड़ी राज्यों के इतिहास में ग्यालदेन छेवङ्ग की एक फौजी टुकड़ी का लाहौल पर आक्रमण का उल्लेख किया है। इस विवरण के अनुसार इस टुकड़ी ने केलाङ्ग के किले पर अधिकार कर लिया। जब यह टुकड़ी गोंदला के पास से गुजर रही थी तो ऊपर से एक हिमानी आई और अधिकांश सिपाही उसमें दब कर मर गये। शेष वहां से वापिस चले गये। इस स्थान पर बाद तक उनकी हड्डियों का ढेर दिखाई देता था। ग्यालदेन छेवङ्ग एक विशाल सेना लेकर तिब्बत से चला था। बास्गो के किले की घेराबन्दी शीतकाल में चलती रही। यह सम्भव है कि सेना की एक टुकड़ी ने शीतकाल से पहले बारालाचा दर्रे को पार करके शीतकाल में सैनिक लाहौल में लूट-पाट में व्यस्त हो गये हों। अतः गोंदला के निकट बर्फ में दबने की घटना सम्भव हो। लद्दाख की पराजय के बाद कुल्लू के राजाओं ने अवसर का लाभ उठाकर सारे लाहौल-स्पिति पर अपना अधिकार कर लिया और १८४६ में अंग्रेजी राज्य में विलय होने तक यही स्थिति रही।

रोचक बात यह है कि परिस्थितियों का ऐसा संयोग हुआ कि बुशैहर को तिब्बतियों के साथ मिलकर मुगलों का मुकाबला करना पड़ा। सम्भवतः तब तक बुशैहर की राजधानी मौने (कामरु) में हो और कनौर के दूरस्थ क्षेत्र में यह राज्य सीमित हो। इस कारण मुगल-सत्ता का आतङ्क यहाँ तक न पहुंचा हो। वैसे औरंगजेब से एक सदी पूर्व अकबर के समय में कांगड़ा और डूगर (जम्मू) समुदाय के बाईस राजकुमार बन्धक के रूप में मुगल-दरबार में रह रहे थे। पर ये राज्य मुख्यत सिन्ध और व्यास नदी के मध्यवर्ती क्षेत्र के थे। सुदूर सतलुज की उपत्यका का यह सीमावर्ती राज्य मुगलों के आतङ्क से अछूता रहा हो। औरंगजेब के बाद तो यह आतङ्क समाप्त ही हो गया। उपरोक्त पहाड़ी राज्य धीरे-धीरे सभी स्वतंत्र हो गये। स्वयं लद्दाख के राजवंश ने इस्लाम धर्म को त्याग कर पुनः बौद्ध धर्म में दीक्षा ले ली और महाराजा रणजीत सिंह के उदय तक लगभग एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में रहा।

बुशैहर और पश्चिमी तिब्बत —

संक्षेप में नामग्या अभिलेख से मुख्यतः तिब्बत-लद्दाख की लड़ाई, पश्चिमी तिब्बत की राजनैतिक स्थिति और बुशैहर व पश्चिमी तिब्बत के सम्बन्धों को समझने में मदद मिलती है। यह अभिलेख किसी के द्वारा लिखी चिट्ठी या प्रतिवेदन की नकल प्रतीत होता है। कालान्तर में इसमें कई प्रकार की अशुद्धियाँ आ गईं; पर

ये भाषा सम्बन्धी हैं; मूल तथ्य अपने पूर्व रूप में ही सुरक्षित हैं। युद्ध की समाप्ति के बाद ग्यालदेन छेवङ्ग नारीकोरसुम-क्षेत्र को विधिवत् ल्हासा सरकार को सौंपने गया और उसने अपने निजी सचिव लोबजङ्गपद्मा को विजित प्रदेश का गर्वनर नियुक्त किया। सम्भव है कि यह लिखित सूचना उसी ने ल्हासा सरकार को भेजी हो जैसा कि इससे स्पष्ट होता है। इस पत्र का आरम्भ पुरानी भारतीय परम्परा के अनुरूप संस्कृत वाक्य से होता है :—

"ओं स्वति: श्री:। श्रेष्ठ धर्मपालक परम भट्टारक धर्मानुशासित ल्हासा सरकार के कमल चरणों में निवेदन है।……"

इस आरम्भिक औपचारिक शिष्टाचार के बाद उपरोक्त तथ्यों की चर्चा की गई है। नारीकोरसुम में लेह-सरकार की अव्यवस्था से लेकर ग्यालदेन छेवङ्ग का युद्ध के लिये तिब्बत से प्रयाण, मानसरोवर क्षेत्र मे केहरीसिंह से मिलन, चिर मैत्री के संकल्प की घोषणा, लद्दाख पर अभियान, मुगलों का आना, उनको गुप्त रूप से घूस देना और नारीकोरसुम का ल्हासा व बुशैहर के रिकार्ड में दर्ज होना इसके मुख्य वर्णित तथ्य हैं। इस अभिलेख के अन्त में बुशैहर (कुनू) और तिब्बत के पुराने सम्बन्धों का बड़े सौहार्द और भाव पूर्ण ढंग से उल्लेख किया गया है। बुशैहर के राजवंश की सत्य-निष्ठा के लिये भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। अन्तिम पैराग्राफ इस प्रकार है :—

"बहुत प्राचीन काल से अब तक बुशैहर की १३ राजवंशीय पीढ़ियां हो गई हैं। बुशैहर का धर्मात्मा राजा सदा ही विश्वास-योग्य रहा है। वह अपने वचन से कभी भी बाल-भर इधर-उधर नहीं हुआ है। यह बहुत पुरानी पुण्यमयी परम्परा है और आज भी जीवित है। हमारी कामना है कि यह इसी प्रकार अक्षुण्ण रहे।"

ग्यालदेन छेवङ्ग और केहरी सिंह ने मानसरोवर क्षेत्र में सौहार्दपूर्ण पुराने सम्बन्धों की मौखिक घोषणा की और पुरानी परम्परा के अनुरूप उन पर आचरण करने का संकल्प दुहराया। यह घटना १६८१ ई० की है। उसके अगले वर्ष पंचम दलाई लामा नावांङ्गलोबजङ्ग ग्यात्सो का निधन हो गया।

मित्रता के आचार-व्यवहार को निभाने के लिये हर तीसरे वर्ष बहुत पुराने समय से बुशैहर और गढ़तोक गुरुपुङ्ग (गावर्नर) के बीच मूल्यवान उपहारों का आदान-प्रदान होता था। साम्यवादी चीन का तिब्बत पर अधिकार होने पर यह पुरानी परम्परा समाप्त हुई।

के अनुसार स्पिति की निचली घाटी जिसको हांगरंग क्षेत्र भी कहते हैं, बुशैहर को मिली। तब तक लाहौल-स्पिति लद्दाख के अधीन थे। परन्तु इस पराजय के बाद कुल्लू के राजा विधिसिंह और बाद में मानसिंह ने सारे लाहौल-स्पिति पर अधिकार कर लिया। बोगल और एचीसन ने अपने पंजाब के पहाड़ी राज्यों के इतिहास में ग्यालदेन छेवङ्ग की एक फौजी टुकड़ी का लाहौल पर आक्रमण का उल्लेख किया है। इस विवरण के अनुसार इस टुकड़ी ने केलाङ्ग के किले पर अधिकार कर लिया। जब यह टुकड़ी गोंदला के पास से गुजर रही थी तो ऊपर से एक हिमानी आई और अधिकांश सिपाही उसमें दब कर मर गये। शेष वहां से वापिस चले गये। इस स्थान पर बाद तक उनकी हड्डियों का ढेर दिखाई देता था। ग्यालदेन छेवङ्ग एक विशाल सेना लेकर तिब्बत से चला था। बास्गो के किले की घेराबन्दी शीतकाल में चलती रही। यह सम्भव है कि सेना की एक टुकड़ी ने शीतकाल से पहले बारालाचा दर्रे को पार करके शीतकाल में सैनिक लाहौल में लूट-पाट में व्यस्त हो गये हों। अतः गोंदला के निकट बर्फ में दबने की घटना सम्भव हो। लद्दाख की पराजय के बाद कुल्लू के राजाओं ने अवसर का लाभ उठाकर सारे लाहौल-स्पिति पर अपना अधिकार कर लिया और १८४६ में अंग्रेजी राज्य में विलय होने तक यही स्थिति रही।

रोचक बात यह है कि परिस्थितियों का ऐसा संयोग हुआ कि बुशैहर को तिब्बतियों के साथ मिलकर मुगलों का मुकाबला करना पड़ा। सम्भवतः तब तक बुशैहर की राजधानी मोने (कामरु) में हो और कनौर के दूरस्थ क्षेत्र में यह राज्य सीमित हो। इस कारण मुगल-सत्ता का आतङ्क यहाँ तक न पहुंचा हो। वैसे औरंगजेब से एक सदी पूर्व अकबर के समय में कांगड़ा और डूगर (जम्मू) समुदाय के बाईस राजकुमार बन्धक के रूप में मुगल-दरबार में रह रहे थे। पर ये राज्य मुख्यत सिन्ध और व्यास नदी के मध्यवर्ती क्षेत्र के थे। सुदूर सतलुज की उपत्यका का यह सीमावर्ती राज्य मुगलों के आतङ्क से अछूता रहा हो। औरंगजेब के बाद तो यह आतङ्क समाप्त ही हो गया। उपरोक्त पहाड़ी राज्य धीरे-धीरे सभी स्वतंत्र हो गये। स्वयं लद्दाख के राजवंश ने इस्लाम धर्म को त्याग कर पुनः बौद्ध धर्म में दीक्षा ले ली और महाराजा रणजीत सिंह के उदय तक लगभग एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में रहा।

बुशैहर और पश्चिमी तिब्बत—

संक्षेप में नामग्या अभिलेख से मुख्यतः तिब्बत-लद्दाख की लड़ाई, पश्चिमी तिब्बत की राजनैतिक स्थिति और बुशैहर व पश्चिमी तिब्बत के सम्बन्धों को समझने में मदद मिलती है। यह अभिलेख किसी के द्वारा लिखी चिट्ठी या प्रतिवेदन की नकल प्रतीत होता है। कालान्तर में इसमें कई प्रकार की अशुद्धियाँ आ गईं; पर

ये भाषा सम्बन्धी हैं; मूल तथ्य अपने पूर्व रूप में ही सुरक्षित हैं। युद्ध की समाप्ति के बाद ग्यालदेन छेवङ्ग नारीकोरसुम-क्षेत्र को विधिवत् ल्हासा सरकार को सौंपने गया और उसने अपने निजी सचिव लोवजङ्गपद्मा को विजित प्रदेश का गर्वर नियुक्त किया। सम्भव है कि यह लिखित सूचना उसी ने ल्हासा सरकार को भेजी हो जैसा कि इससे स्पष्ट होता है। इस पत्र का आरम्भ पुरानी भारतीय परम्परा के अनुरूप संस्कृत वाक्य से होता है :—

"ओं स्वति: श्री: । श्रेष्ठ धर्मपालक परम भट्टारक धर्मानुशासित ल्हासा सरकार के कमल चरणों में निवेदन हैं।…… "

इस आरम्भिक औपचारिक शिष्टाचार के बाद उपरोक्त तथ्यों की चर्चा की गई है। नारीकोरसुम में लेह-सरकार की अव्यवस्था से लेकर ग्यालदेन छेवङ्ग का युद्ध के लिये तिब्बत से प्रयाण, मानसरोवर क्षेत्र मे केहरीसिंह से मिलन, चिर मैत्री के संकल्प की घोषणा, लद्दाख पर अभियान, मुगलों का आना, उनको गुप्त रूप से घूस देना और नारीकोरसुम का ल्हासा व बुशैहर के रिकार्ड में दर्ज होना इसके मुख्य वर्णित तथ्य हैं। इस अभिलेख के अन्त में बुशैहर (कुनू) और तिब्बत के पुराने सम्बन्धों का बड़े सौहार्द और भाव पूर्ण ढंग से उल्लेख किया गया है। बुशैहर के राजवंश की सत्य-निष्ठा के लिये भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। अन्तिम पैराग्राफ इस प्रकार है :—

"बहुत प्राचीन काल से अब तक बुशैहर की १३ राजवंशीय पीढ़ियां हो गई हैं। बुशैहर का धर्मात्मा राजा सदा ही विश्वास-योग्य रहा है। वह अपने वचन से कभी भी बाल-भर इधर-उधर नहीं हुआ है। यह बहुत पुरानी पुण्यमयी परम्परा है और आज भी जीवित है। हमारी कामना है कि यह इसी प्रकार अक्षुण्ण रहे।"

ग्यालदेन छेवङ्ग और केहरी सिंह ने मानसरोवर क्षेत्र में सौहार्दपूर्ण पुराने सम्बन्धों की मौखिक घोषणा की और पुरानी परम्परा के अनुरूप उन पर आचरण करने का संकल्प दुहराया। यह घटना १६८१ ई० की है। उसके अगले वर्ष पंचम दलाई लामा नावांङ्गलोवजङ्ग ग्यात्सो का निधन हो गया।

मित्रता के आचार-व्यवहार को निभाने के लिये हर तीसरे वर्ष बहुत पुराने समय से बुशैहर और गढ़तोक गुरुपुङ्ग (गावर्नर) के बीच मूल्यवान उपहारों का आदान-प्रदान होता था। साम्यवादी चीन का तिब्बत पर अधिकार होने पर यह पुरानी परम्परा समाप्त हुई।

१९. शिमला क्षेत्र के देसी राज्यों में विरोध-प्रदर्शन की प्रथा

रूढ़िगत समाज —

आज के प्रजातान्त्रिक युग में मैं विरोध-प्रदर्शन के विविध रूप हैं — जलूस, सभाओं का आयोजन, असहयोग, समाचार-पत्र आदि-आदि। विरोध-प्रदर्शन प्रजातान्त्रिक अधिकार माना जाता है। जिसके द्वारा सत्ता के प्रति असहमति या अधिकारियों द्वारा सत्ता के दुरुपयोग व अतिक्रमण के प्रति रोष प्रकट किया जाता है। इसके आधुनिक रूप का श्रीगणेश औद्योगिक क्रान्ति के समय हुआ था। आज तो ये प्रदर्शन नित्य-प्रति आर्थिक और राजनैतिक जीवन के अभिन्न अंग बन गये हैं। सामंतवादी समाज में इस प्रकार से अधिकारों के प्रति जागरण और जागरूकता का प्राय: अभाव था। उस व्यवस्था में व्यक्ति और समाज के विभिन्न अंगों का शोषण और उत्पीडन साधारण-सी बात थी। शासक वर्ग स्वेच्छाचारी ढंग से लोगों का दमन करता था। विरोध और असहमति को ऐसे समाज में कोई स्थान नहीं था। रूढ़ियों और परम्पराओं से बंधा समाज उन्हीं के निर्देश और अनुशासन पर चलता था। ये रूढ़ियां और परम्पराएं काल की मंथुर गति से निर्मित विधि-विधान का रूप धारण कर लेती थीं। पर ये परम्पराएं मुख्यत: शासकवर्ग की सुविधा के अनुरूप होती थीं। इसके प्रभाव से समाज स्वानुचालित जैसा हो जाता था। ऊंच-नीच का भाव, मान-प्रतिष्ठा के माप-दण्ड, स्वामी-भक्ति और राज-भक्ति की भावना और संस्कार समाज की अन्तर्निहित शक्ति के रूप में उसको अनुप्रमाणित करते थे। उस परम्परागत समाज में व्यक्ति की निकृष्ट और दयनीय स्थिति भी उसके भाग्य और पूर्व जन्म-अर्जित कर्मों की परिणिति समझी जाती थी। किसी को दोष देने का प्रश्न नहीं उठता था। ऐसा समाज प्रशान्त जलाशय की भान्ति अविचालित और अपरिवर्तित ब्रह्माण्ड जैसा एक रूपता से स्थिर था। पुरातन समाज सदियों तक अबाध गति से रूढ़िगत अपरिवर्तन शील एकरूपता से चलता रहा। परन्तु जब कभी रूढ़ियों और परम्पराओं के विपरीत कोई परिवर्तन या सुधार हुआ तो समाज ने इसका वाचाल या मूक विरोध किया। परन्तु पहाड़ी समाज में इस विरोध-भावना में आत्म-पीड़न, आत्म-क्लेश का तत्व सदा विद्यमान रहा। हिंसा या पर-पीड़न के तत्त्व इस विरोध-भावना से सदा दूर रहे। साधु, सन्तों और मनीषियों ने तपस्या, दूसरे शब्दों में शारीरिक कष्ट और क्लेश के द्वारा ईश्वर को प्रसन्न करने, उसकी कृपा को प्राप्त करने की परम्परा को डाला। पुराने जमाने में राज सत्ता के प्रति भी कुछ इसी प्रकार का रुख अपनाया जाता था। अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध प्राय: ऐसा आग्रह व्यक्त किया जाता था जैसा कि इन उदाहरणों और घटनाओं से स्पष्ट होगा :—

डूम —

पुराने पहाड़ी राज्यों में सत्ता के प्रति विरोध-प्रदर्शन का एक विशिष्ट रूप था। जिसको डूम कहते थे। ऐसा प्रदर्शन प्राय: कई जगह होता था और यह विफल नहीं रहता था। इस प्रदर्शन में आत्म-पीडन की भावना निहित होती थी। अपने आपको कष्ट और क्लेशों में डाल कर विरोध व्यक्त किया जाता था। जब कभी राज्य कोई ऐसा कर लगाता था जिसको लोग अनुचित समझते थे तो वे अपना रोष प्रकट करने के लिये गांव छोड़ कर पास के जंगल में चले जाते थे। अपने परिवार और पशुओं को भी साथ ले जाते थे। परिणामत: खेती-बाड़ी का काम ठप्प पड़ जाता था। खेत बंजर पड़ जाते थे। डूम-आन्दोलनकारियों को तो इससे कष्ट होता ही था; पर राज्य को भी इससे भारी क्षति होती थी। तब राज्य की आय का मुख्य स्रोत लगान था जो खेती की उपज का चौथा या पांचवां भाग होता था। जब खेती ही न होती तो राज्य की आय कहाँ से होगी? स्पष्ट है कि ऐसे आन्दोलन से राज्य-सत्ता विचलित हो जाती थी और आन्दोलनकारियों की मांग पूरा करने का अविलम्ब प्रयत्न करती थी। डूम आन्दोलन प्राय: व्यवस्थित और शान्तिपूर्वक होता था। राज्य के अधिकारियों को इनके पास जाना पड़ता था। सुलह-समझौता होने पर लोग अपने घरों को वापिस आते और पुन: अपने व्यवसाय, खेती-बाड़ी और दूसरे कामों को संभालते। बुशैहर राज्य में सन् १८५९ में डूम आन्दोलन हुआ। इसका मुख्य केन्द्र रोहड़ू का इलाका था। इस असन्तोष के कई कारण थे। परन्तु मुख्यत: यह सन् १८५४ में संपन्न हुई जमीन की पैमायश के विरुद्ध था। नूरपुर निवासी तहसीलदार श्यामलाल ने उक्त समय जमीन का बन्दोबस्त किया और नकदी लगान निश्चित किया। उसके पूर्व जिन्स के रूप में, पैदावार का निश्चित भाग, अन्न, घी, तेल, ऊन, भेड़-बकरी आदि प्राचीन प्रथा के अनुसार राज्य को कर के रूप में देने पड़ते थे। कुछ-कुछ इस असन्तोष का कारण तत्कालीन राज्य-व्यवस्था से भी था। सन १८३० में राजा महेन्द्रसिंह की मृत्यु हुई। उस समय राज्य का उत्तराधिकारी राजा शमशेर सिंह केवल ११ वर्ष का था। राजा की अल्प वयस्क अवस्था में पहले पवारी का वजीर मनसुखदास व्यवस्थापक रहा और बाद में श्यामलाल को भी सह-व्यवस्थापक नियुक्त किया गया। परसराम नाम के व्यक्ति को राज्य में अध्यक्ष नियुक्त किया गया। यह व्यवस्था तत्कालीन सुप्रिन्टैन्डेन्ट बारन्स के आदेश पर की गई। खानदानी वजीरों का प्रभाव प्राय: समाप्त कर दिया गया। इस आन्दोलन के मूल में खानदानी वजीर थे जो खोई हुई सत्ता को पुन: प्राप्त करना चाहते थे। नकदी लगान के विरुद्ध लोगों का सबसे बड़ा तर्क यह था कि राज्य में सिक्कों का अभाव था। लोगों का विनिमय राज्य के साथ और आपस में जिन्स और अन्य वस्तुओं के माध्यम से होता था।

इस आन्दोलन को समाप्त करने के लिये सुपरिन्टैन्डेंट को बुशैहर जाना पड़ा था। लोगों ने आन्दोलन समाप्त करने के लिये तीन मांगें रखीं। (१) खानदानी

(२) वजीरों को पुराने दस्तूर के अनुसार सत्ता सौंपना। (३) तत्कालीन व्यवस्था को समाप्त करना। लगान की वसूली परम्परागत ढंग से जिन्स और वस्तुओं के माध्यम से करना। वारन्स ने तीनों मांगें स्वीकार कीं। तब यह आन्दोलन समाप्त हुआ। जन-श्रुति यह बताती है कि सत्ता के विरुद्ध इस प्रकार के आन्दोलनों की परम्परा बहुत पुरानी थी और पहाड़ी क्षेत्र में व्यापक रूप से प्रचलित थी।

गट्टी औम चावल—

शासक या उसके अधिकारियों के अत्याचार और अन्याय के विरुद्ध आक्रोश और विरोध प्रकट करते का एक और भी ढंग था। उसको गट्टी या चावल कहते थे। जिन लोगों को या समाज के जिस वर्ग को सत्ता के कारण कोई कष्ट होता था, उनमें से कुछ व्यक्ति मन्दिर अथवा किसी अन्य पवित्र स्थान पर एकत्र होते थे और मिलकर यह संकल्प या प्रतिज्ञा करते थे कि वे अन्यायपूर्ण राजाज्ञा का पालन नहीं करेंगे या अनुचित कर के नहीं देंगे अथवा सम्बन्धित अधिकारियों से कोई सम्बन्ध या सरोकार नहीं रखेंगे जब तक उनकी बात न मानी जाय। ऐसे अवसर पर इस संकल्प के प्रति वचन-बद्ध होने के लिये चावल के दाने बांटे जाते थे। इसके अभाव में पत्थर के कंकड़ या ऐसी ही कोई अन्य वस्तु सब में बांटी जाती थी। इसको स्वीकार करने पर सब प्रतिज्ञा-बद्ध हो जाते थे। ये लोग संस्कारों से धर्म-भीरु होते थे। अतः दृढ़ता से अपनी प्रतिज्ञा का पालन करते थे। जिस सत्ता के विरुद्ध यह प्रतिज्ञा होती थी, प्रथा के अनुसार उसको इनके पास आना पड़ता था। फलतः समझौता प्रायः हो ही जाता था। इसके उपरान्त मन्दिर में भेंट-बलि चढ़ानी पड़ती थी। खान-पान के बाद शान्ति और सद्भाव पुनः स्थापित हो जाता था। इस प्रथा में त्याग और आत्मपीड़न की बात नहीं थी। पर विरोध प्रकट करने का यह निर्दोष विधान सौ वर्ष पूर्व शिमला क्षेत्र में आम प्रचलित था।

द्रोही, वारण और थाल—

पारस्परिक असहमति और धन-सम्पत्ति के झगड़ों को निपटाने के भी लोगों ने सरल साधन अपनाए हुये थे। छोटी-छोटी बातों के लिये राजा या ठाकुर तक पहुंचना प्रत्येक व्यक्ति के लिये इतना आसान नहीं था। पर झगड़े और कलह तो जीवन के अभिन्न अंग थे। सबल निर्बल को दबाने का प्रयत्न करता। बलपूर्वक दूसरे की सम्पत्ति पर किसी न किसी ढंग से अधिकार करने की प्रवृति सब जगह और सब युगों में रही है। इन साधारण से झगड़ों के समाधान के लिये राज-सत्ता की न्याय-सुविधा तत्काल और स्थानीय रूप से सुलभ नहीं रहती थी। पर लोगों ने युग-धर्म की सादगी और सच्चाई के अनुरूप राज-सत्ता की दुहाई देकर न्याय प्राप्त करने का तरीका ढूंढा हुआ था। यदि किसी सबल ने निर्बल को पीड़ित किया, उसके खेत, खलियान, घासनी, पेड़ अथवा किसी अन्य वस्तु पर अधिकार कर लिया हो और बहुत समझाने-बुझाने और विनम्र प्रार्थना करने पर न मानता हो तो ऐसी अवस्था में पीड़ित व्यक्ति राज-सत्ता की दुहाई देकर पीड़ा देने वाले दमनकारी

को यह कह कर प्रतिबन्धित करता था कि यदि तुमने अमुक अनुचित कार्य किया तो तुमको राजा की सौगन्ध है। देवता का॰ नाम लेकर भी यह बन्धन लगाया जा सकता था। यह पीड़ित व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता था कि वह राजा की शपथ से अथवा देवता की शपथ से आततताई को प्रतिबन्धित करे। इस प्रकार के बन्धन को 'राजा की द्रोही' अथवा 'देवता की द्रोही' कहते थे। द्रोही का आशय सौगन्ध से है। पर ऐसा लगता है कि इस वाक्यांश का वास्तविक अर्थ यह है कि यदि अन्यायी व्यक्ति ने अमुक काम किया तो वह राजा अथवा देवता के प्रति 'द्रोह', विद्रोह समझा जावेगा ऐसी ध्वनि इसमें प्रतीत होती है। 'द्रोही' के स्थान पर दो अन्य शब्द भी प्रयुक्त होते थे—राजा का 'वारण' या 'थाल' तुम्हारे ऊपर हो, यदि तुमने वर्जित कार्य किया। इन शब्दों से भी विरोधी को प्रतिबन्धित किया जा सकता था। आशय और प्रभाव दोनों का एक जैसा था। 'वारण' का अर्थ कदाचित् रोकना हो और 'थाल' देव-शक्ति के आह्वान का साधन हो। यह प्रतिबंध 'द्रोही', 'थाल' और 'वारण' कहकर विरोधी पर लगाया जाता था। इसके उपरान्त वह बंध-जैसा जाता था और अन्याय की स्थिति तत्काल समाप्त हो जाती थी।

इस प्रकार पुरातन समाज में राज-शक्ति और देव-शक्ति आवश्यक रूप से सदा उसमें विद्यमान रहती थी और उसके आह्वान मात्र से अन्याय को रोका जा सकता था। यह तत्कालीन समाज की सरलता और परम्पराओं के प्रति अगाध आस्था के कारण सम्भव था। राज-तन्त्र तब इतना जटिल नहीं था; परन्तु समाज में सबल निर्बल को सताता था—मत्स्य नाथ की कमी नहीं थी। पर उनको नियन्त्रित करने के लिये ये सरल साधन सशक्त थे। यदि कोई निरर्थक किसी को इन शपथों से प्रतिबंधित करता था, तो उस पर अभियोग चलता था और ऐसे व्यक्ति को दण्डित किया जाता था। इसमें जुर्माना के अलावा देवता को बलि देना भी शामिल था। कई राज्यों में इस प्रकार से बंधित व्यक्तियों को शपथ-मुक्त करने का अधिकार ठाकुर या राजा को ही होता था। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में जुब्बल के राजा पद्मचन्द्र ने जब अपने राजत में आधुनिक अदालतों की स्थापना की तो किसी को 'वारण' 'द्रोही' और 'थाल' से मुक्त करने का अधिकार केवल राणा को था। इसके सम्बन्ध में याचिका किसी अन्य अदालत में नहीं दी जा सकती थी।

आत्म दाह द्वारा विरोध प्रदर्शन—

अन्याय से संतप्त व्यक्ति कई बार इससे छुटकारा पाने के लिये आत्म-दहन भी करते थे। कुल्लू के इतिहास में सोलहवीं सदी के राजा जगतसिंह के राज्य-काल की आत्म-दाह की प्रसिद्ध घटना है। उस समय कुल्लू की पार्वती घाटी में एक सम्पन्न ब्राह्मण रहता था। कहते हैं कि उसके पास कुछ मूल्यवान सुन्दर रत्न और हीरे थे। युग धर्म के अनुसार राजा ने ब्राह्मण से ये रत्न मांगे—महाराजा रणजीत सिंह ने भी तो अपने शरणागत मान्य अतिथि शाह शूजा से कोहेनूर हीरा हस्तगत किया था। कई बार मांगने पर भी ब्राह्मण आनाकानी करता रहा। एक बार राजा

मनिकर्ण तीर्थ में स्नान करने के लिये पार्वती घाटी में गया और ब्राह्मण से पुनः रत्न मांगे। ब्राह्मण ने जब छुटकारा पाने का कोई मार्ग न देखा तो राजा के तीर्थ-स्नान से वापिस आने के समय देने का वचन दिया। पर राजा जब ब्राह्मण के घर के पास वापिस पहुंचा तो ब्राह्मण ने अपने घर को आग लगा दी और सपरिवार उसमें जल कर मर गया। यह अत्यन्त भयावह घटना थी; राजा पर ब्रह्म-हत्या का पाप लग गया था। शास्त्रों के अनुसार ब्रह्म-हत्या से बड़ा कोई पाप नहीं होता है। सब पापों का प्रायश्चित है, पर ब्रह्म-हत्या का कोई प्रायश्चित नहीं है। ऐसे पापी को घोर नरक की यातना सहना ही शेष रह जाती है। किंवदन्ति है कि उसके बाद राजा न खाना खा सका और नाहीं पानी पी सका क्योंकि ब्रह्म-हत्या के कारण उसका भोजन व पानी रक्त मग्न हो जाता था। किसी विद्वान ब्राह्मण ने बताया कि यदि अयोध्या से भगवान रघुनाथ की मूर्ति लाई जाय और कुल्लू का राज्य भगवान राम को समर्पित किया जाय तो राजा ब्रह्म-हत्या के पाप से मुक्त हो सकता है। ऐसा ही किया गया और तत्पश्चात् कुल्लू के राजा रघुनाथ जी के प्रतिनिधि के रूप में शासन चलाते रहे। सन १८३९ में कुल्लू राज्य का पूर्णतः रणजीत सिंह के राज्य में विलय कर दिया गया। सत्रहवीं सदी से कुल्लू-दशहरे की परम्परा चली। कुल्लू क्षेत्र के सभी देवी-देवता दशहरे पर आकर रघुनाथ जी के प्रति सम्मान व्यक्त करते हैं। रघुनाथ जी केवल मनुष्यों के शासक नहीं हैं बल्कि देवी-देवता भी उनके अनुशासन और छत्र-छाया में रहते हैं। ये देवी-देवता कुछ तो पुराने बलशाली लोगों की प्रेतात्माएं हैं और कुछ पहाड़ों, नदियों, कन्दराओं, जलाशयों आदि में बसने वाली अदृश्य शक्तियों के प्रतीक हैं। वर्ष में एक बार सब को प्रथा के अनुसार रघुनाथ जी के दरबार में अनिवार्यतः आना पड़ता था और कुछ-कुछ अभी तक आते हैं।

विरोध-प्रदर्शन के लिये आत्मदाह करना एक असाधारण घटना थी। पीड़ित व्यक्ति का सन्ताप जब चरम सीमा में पहुंच जाता होगा, तभी वह यह भयावह पग उठाता होगा। पर इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आई थी। इस विरोध-प्रदर्शन में आत्म-क्लेश, आत्मवेदना और आत्म-पीड़ा का तत्व अधिक होता था और प्रतिशोध, पर-पीड़ा और हिंसा की भावना कम होती थी। यह भारत की पुरानी सांस्कृतिक परम्परा की देन थी जिसमें आत्म-वेदना से पर-वेदना को मिटाने की भावना निहित होती थी। गांधी जी ने इसी परम्परा को आधुनिक युग में अहिंसा और सत्याग्रह के द्वारा पुनः प्रतिपादित किया।

विरोध-प्रदर्शन के लिये आत्म-दाह की प्रथा का संकेत बिलासपुर राज्य में भी मिलता है। राजा अमरचन्द के राज्य काल में गेहड़वीं के ब्राह्मणों में असन्तोष इसलिये फैला था कि राज्य के कुछ निःसन्तान मरने वाले ब्राह्मण परिवारों की जमीन राजा अपने अधिकार में ले रहा था। कदाचित् ऐसे परिवारों के निकटतम उत्तराधिकारी राजा के इस कार्य को अनुचित समझते हों। इस असंतोष को भड़काने में राज परिवार के मियां काहनसिंह का भी हाथ था। गेहड़वीं के अतिरिक्त पन्तेड़ा और लुहाणा गांव के ब्राह्मणों ने भी राज्य द्वारा ऐसे अधिगहण के विरुद्ध असन्

रोष प्रकट किया। विरोध का ढंग इस प्रकार होता था। ब्राह्मण परिवार का एक व्यक्ति गांव के बाहर घास-फूस की एक झोपड़ी बनाता और उसमें अपनी एक गाय, एक कुत्ता और एक बिल्ली के साथ नौ महीने तक वास करता। इसको 'जुग्गा' वास कहते थे। यदि इस अवधि में राजा उसकी मांग पूरी कर लेता तो वह जुग्गा छोड़ कर अपने घर चला जाता अन्यथा नौ महीने की समाप्ति पर वह झोंपड़ी को आग लगाकर तीनों पशुओं के साथ आत्म-दाह कर लेता। इन चार प्राणियों की हत्या का पाप राजा को लगता—ऐसी धारणा होगी। गौ-हत्या, ब्रह्म-हत्या से बढ़ कर और क्या जघन्य पाप हो सकता था? इसी में समाप्ति नहीं थी। एक ब्राह्मण के आत्म-दाह के बाद दूसरा उसका स्थान ग्रहण करता और यह क्रम तथा-कथित अन्याय की समाप्ति तक चलता। पर तब ऐसा नहीं हुआ, उस समय तक बिलासपुर राज्य में आधुनिक व्यवस्था कायम हो चुकी थी। उसको समझाने-बुझाने अधिकारी गये और न मानने पर उसको गिरफ्तार कर लिया गया। मियाँ काहनसिंह भी पकड़ा गया और उस पर दस हजार रुपये का भारी जुर्माना लगा।

दिल्ली में सुलतानों के राज्य-काल में भी ब्राह्मणों के द्वारा जजिया कर के विरुद्ध सुलतान के महल के सामने आमरण अन्न-जल व्रत की धमकी का उल्लेख मिलता है। हिन्दुओं पर सुलतानों के राज्य के आरम्भ में ही जजिया कर लग गया था। पर ब्राह्मण इससे मुक्त थे। फिरोजशाह ने ब्राह्मणों पर भी यह कर लगा दिया। फलतः दिल्ली के ब्राह्मणों ने सुलतान को उक्त धमकी दी। सुलतान को यह धमकी निःसंदेह हास्यापद और स्वागत योग्य लगी होगी। उसके महल की ड्योढ़ी पर एक विशाल चबूतरे पर जल्लाद नंगी तलवार लिये सदा तैनात रहते थे और प्रति दिन कुछ न कुछ विद्रोहियों और अपराधियों के सिर राजाज्ञा से काटे जाते थे और वे तीन दिन तक आम जनता को आतङ्कित करने के लिये वहीं पर प्रदर्शित किये जाते थे। ऐसे वातावरण में ब्राह्मणों के आत्म-पीड़न का क्या प्रभाव पड़ता?

मध्य कालीन युग में और उसके पारवर्ती समय में पिछली शताब्दी तक व्यक्तिगत-स्तर पर कुछ साधु और ढोंगी ब्राह्मण भोली-भाली, धर्म-भीरु और अन्ध-विश्वासी जनता से धन ऐंठने के लिये उनको अपना कोप-भाजन बनाते थे। ये तथाकथित साधु और ब्राह्मण वांच्छित दान-दक्षिणा न मिलने पर शाप देने का दम भरते थे। वे अपना रोष प्रकट करने के लिये कई बार अपना रक्त कोप-भाजक के मकान पर छिड़कते थे। यह अनिष्ट कारक अपशकुन समझा जाता था। धर्म-भीरु और अन्ध-विश्वासी लोग इससे भय-भीत हो जाते थे। इस प्रकार के अभिशाप और अपशकुन से मुक्त होने के लिये पूजा-उपचार और प्रायश्चित करना पड़ता था। जुब्बल राज्य में ऐसे लोगों का दण्डित करने का अधिकार केवल राजा को था और इन ढोंगियों को कड़ी सजा दी जाती थी। ×××

समाप्त

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. Hutchison And Vogel : History of Punjab Hill States
2. A. Cunningham Archaeological Survey of India (1971-79)
3. A.K. Franke Antiquities of Indian Tibet.
4. Fredric Drew Jammu and Kashmir (1875)
5. District Simla Hill Gazetteer
6. Simla Hill state Gazetteer
7. Chamba Gazetteer
8. Sirmur Gazetteer
9. Tehri Garhwal Gazetteer
10. J.B. Fraser Himala Mountain (1840)
11. Travels of W. Moorcrofit.
12. E. T. Atkinson : Gazetteer of North Western Districts.
13. M.S. Randhawa : Travels in Western Himalayas.
14. Bakshish Singh Nazzar : Punjab Under Great Mughals
15. Bikaramjet Hasrat : Anglo Sikh Relations
16. R. D. Regmi : Modern Nepal
17. Ludwing Fisher : Rise of the House of Gorkha
18. Margaret Fisher : Himalayan Battle-Ground
19. B.D. Senwal : Nepal And East India Company.
20. John Pemble : Invasion of Nepal
21. Marco Palis : Peaks And Lamas
22. Ema Rohert Hindustan
23. Baron Chales Hugal : Kashmir And Punjab
34. Indian Council of cultural Relations : Stūdies in Asian History.
25. Edward J. Buck : Simla Past & Persent
26. Dr. Sarla Khosla : History of Budhism In Kashmir
27. Shakapa : Tibet : A Political History.
28. Maheshkumar Sharma : Tribal coins.
29. H. E. Richardson : Tibet And its History.
30. Gueseppe Tucci : Tibet Land of snow.
31. Sir Charles Bell : Tibet Past And Present.
32. राहुल सांकृत्यायन : मध्य एशिया का इतिहास
33. रघुनाथ सिंह : कल्हण कृत राजतरंगिणी की टीका
34. विशाखादत्त : मुद्राराक्षस
35. भक्तदर्शन : गढ़वाल की दिवंगत विभूतियाँ
36. डॉ० बन्सीराम : किन्नर लोक साहित्य
37. V.A. Smith : Oxford History of India
38. R.C. Majumdar : An Advanced History of India Part I
39. Bharatiya Vidya Bhawan : History And Culture of Indian People Vol. I
40. L. Petech : Tibetan Ladakhi war : Indian Historical Journal Vol. X X III. 3. (1947)
41. गोपाल शास्त्री : हिमाचल-प्रशस्तिः राजा संसारचन्द

शुद्धि-पत्र

	पृष्ट संख्या	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
चित्र के नीचे	२६	रोहड़ू के	रोहड़ू की
५वीं पंक्ति	४७	सम्वेदनशीलता	समवेदनशीलता
तीसरी पंक्ति	४६	धामो	धामी
अन्त से दसवीं पंक्ति	५१.	वृद्धकाय	वृहद्काय
अन्त से दूसरी पंक्ति	५१.	आधीनता	अधीनता
अंतिम पंक्ति	५१.	आधीनता	अधीनता
१६वीं पंक्ति	५६.	कोटा	घाटा
पैरा २, चौथी पंक्ति	६३.	पारवर्ती	पार्वती
१३वीं पंक्ति	६४.	विल्यूर क्राफ्ट	मूरक्राफ्ट
१०वीं पंक्ति	६५.	रणजीतसिंह	अजीतसिंह
१३वीं पंक्ति	६५.	पारवर्ती	पार्वती
पैरा २, ८वीं पंक्ति	८१.	कागा	काड़ा
पैरा २, ६ठी पंक्ति	१००.	ममक्ष	समकक्ष
अन्त से ५वीं पंक्ति	११६.	वी श्रीमत्स	वीभत्स
अन्त से १३वीं पंक्ति	१२८.	रेशम	पशम
८वीं पंक्ति	१३२.	कखण्ड	कमांड
पैरा २, पहली पंक्ति	१३७.	१८८५	१८१५
पैरा २, दूसरी पंक्ति	१४२.	रेशम	पशम
१८वीं पंक्ति	१५२.	सैंधा	सें धार
दूसरी पंक्ति	१५५.	पट्ट	पट्टू
६ठी पंक्ति	१५६.	बुशैहरियों को (Foot Note)	बुशैहरियों ने

	पृ० सं०	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
दूसरी पंक्ति	१६०.	स्नो	स्नोत
५वीं पंक्ति	१६८.	१६२०	१८२०
दूसरा पैरा ११वीं पंक्ति	१७५.	लॉर्ड ने	लार्डमेय ने
अन्त से ७वीं पंक्ति	१८७.	अशलीलतापन	अश्लीलता
पहली पंक्ति	१६५.	सम्वेदनशील	समवेदनशील
दूसरी पंक्ति	१६६.	क्षत्र-फल	क्षेत्रफल
तीसरी पंक्ति	१६७.	ग्यारह सौ	ग्यारह हजार
पैरा २, दूसरी पंक्ति	२००.	१६६७-८२	१६१७-८२
पैरा २ १३वीं पंक्ति	२०१	अशिक्षित	प्रशिक्षित
पैरा २, १५ वीं पंक्ति		अधिकार	अधिकारी
१२वीं पंक्ति	२०४	मंधुर	मंथर

अतीत की झाँकी

पी० एन० सेमवाल